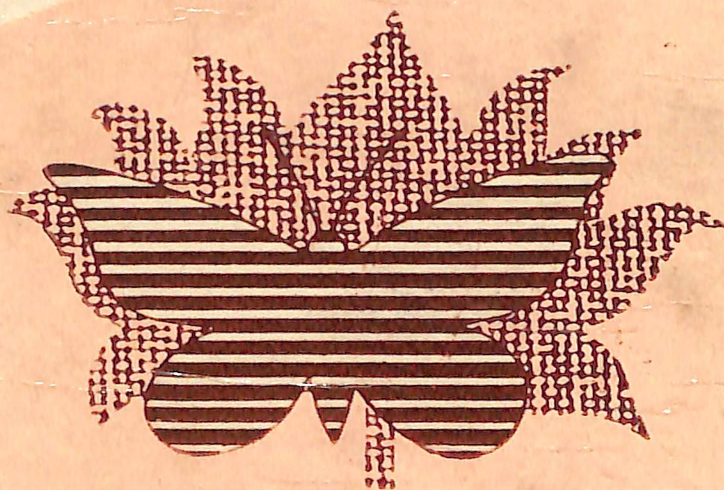
भारतीय
तथा
पाश्चात्य काव्यशास्त्र

डॉ० अर्चना श्रीवास्तव



य प्रकाशन, वाराणसी

भारतीय

तथा

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

डॉ० अर्चना श्रीवास्तव



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

BHARATIYA TATHA
PASHCHATYA KAVYASHASTRA
by
Dr. Archana Srivastava
1991
ISBN 81-7124-072-0

प्रथम संस्करण १९९१ ई०

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी

मुद्रक
विद्या प्रिंटिंग प्रेस, वाराणसी

समर्पण

तमस् से ज्योति की यात्रा में मार्ग दर्शक, आलोचक-
प्रवर श्रद्धेय डॉ॰ परमानंद श्रीवास्तव
प्रोफेसर, गोरखपुर विश्वविद्यालय
को सादर समर्पित ।

अपनी बात

काव्यशास्त्र का पंथ भी प्रेम-पंथ से कम 'कराल' नहीं है जिस पर धावन करना सरल हो। वह भी जिसने साहित्य के पहले सोपान पर कदम रखा हो। मंजिल तो आखिर पहले सोपान से ही शुरू होती है बस यही सोचकर बेहिचक पाँव रख दिये। काव्यशास्त्र, आचार्यों, काव्यमर्मज्ञों द्वारा बार-बार विश्लेषित किया गया। नये-पुराने प्रतिमानों के बीच काव्यशास्त्र के रूप को सजाया, सँवारा और निखारा जाता रहा। भारतीय काव्यशास्त्र के निश्चित मानदण्डों ने जहाँ उसे वैचारिक ठोस जमीन दी वहीं पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पाश्चात्य जीवनमूल्यों की तरह ही उलझकर रह गया है। मैंने अपनी अल्प बुद्धि द्वारा प्रयास किया है कि भारतीय काव्यशास्त्र के व्यापक प्रतिमानों, काव्यमूल्यों को आपके समक्ष संक्षिप्त और सूत्रबद्ध करके रखा जाये। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के उलझे बिन्दु को सुलझाकर क्रमबद्ध प्रस्तुत करना भी इस पुस्तक का ध्येय रहा है।

पुस्तक पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए लिखी गई है जिससे छात्रों के लिए 'अबूझ पहेली' बनने का खतरा इसमें नहीं है न ही भटकाव की स्थिति उत्पन्न होने का भय है। भारतीय काव्यशास्त्र, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, आधुनिक गद्य विधाएँ, आलोचना और प्रमुख आलोचक—इन सारे विषयों पर लिखा गया है। पाण्डित्य से दूर अध्यापन की सुबोध शैली का उपयोग इसलिए किया गया है ताकि छात्रों के लिए वह बोधगम्य हो।

यह पुस्तक तैयार करने की प्रेरणा गोरखपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के प्रोफेसर पूजनीय डॉ० परमानंद श्रीवास्तवजी ने दी—'इस महत् कार्य के लिए मैं क्या सक्षम हूँ ?'—मेरे इस निराशात्मक प्रश्न को उन्होंने ठेलते हुए आशा का जाने कौन-सा मन्त्र दिया कि पूरे मनोयोग से मैं उनके स्नेहाशीष की छाया में इस कार्य में लग गयी। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करके उस गौरवमय व्यक्तित्व को छोटा नहीं करूँगी, बस आशीर्वाद चाहूँगी। मेरे इस अध्ययनशील व्यक्तित्व के सृजन में मेरे पिता स्व· श्री शम्भूप्रसाद श्रीवास्तव व मेरी माँ श्रीमती पुष्पलता श्रीवास्तव का योगदान शायद शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। मैं कितने भी जन्म लूँ उस ऋण से मुक्त नहीं हो सकती। गोरखपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिन्दी-विभागाध्यक्ष श्रद्धेय डॉ० रामचन्द्र तिवारीजी का शिष्यत्व जिसने पा लिया वह धन्य हो गया। मैं अपने को इस विषय में सौभाग्यशाली मानती हूँ—यह समूचा ज्ञान उस महत् ज्ञान का लघुतम रूप है जो आकार पाने की कोशिश कर रहा है। विचारों को दिशा देने में उनका आशीर्वाद सदा मेरे साथ रहा है।

महाविद्यालय की प्राचार्या श्रीमती अरुन्धती सिन्हा, श्रीमती शशिप्रभा राय, डॉ० (श्रीमती) मंजु श्रीवास्तव, श्रीमती मीना श्रीवास्तव, श्रीमती विजियारानी, कुमारी मीना वर्मा, डॉ० गोपा चटर्जी, श्रीमती विभा चतुर्वेदी एवं डॉ० (कुमारी) रीना सक्सेना आदि प्रवक्ताओं की भी मैं आभारी हूँ। सभी ने यथासंभव प्रेरणा बनकर, सहयोगी बनकर कार्य किया। अपनी तमाम छात्राओं को भी मैं नहीं भूली हूँ जिन्होंने विषय को दुरूह बताते हुए बार-बार उसे सरल करने पर बल दिया।

अन्त में मान्य मोदीजी के प्रति तो मैं कृतज्ञता के शब्द भी नहीं कह पा रही हूँ क्योंकि मेरा सम्पूर्ण प्रयास तो प्रकाशन से परिणति तक पहुँचा है। जिन लेखकों की कृतियाँ मेरी पुस्तक का आधार बनी हैं उन सबके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

देखना यह है कि विद्वत् समाज में, छात्रों के अध्ययन में मेरा यह 'वामन प्रयास' कितना सार्थक होता है। पुस्तक आपके सामने है—निर्णय भी आप पर छोड़ती हूँ।

दुर्गाष्टमी
सितम्बर १९९० ई०

अर्चना श्रीवास्तव
विभागाध्यक्ष, हिन्दी
गुलाबदेवी महिला महाविद्यालय
बलिया (उ० प्र०)

विषय-सूची

●

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका

कविता का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना मानव का। मानव के जन्म के साथ ही वह भावनाएँ भी जन्मी जिन्होंने कालान्तर में भाषा का आविष्कार करके कविता को जन्म दिया। कविता अंधेरे की पुकार नहीं है और न ही कोरी कल्पना का महल। भारतीय मनीषी की दृष्टि में तो कवि "परिभूः स्वयम्भूः" है। जब हम इस तथ्य की गहराई तक जाते हैं तो एक शाश्वत सत्य उभरकर आता है, वह यह कि जैसे ब्रह्मा अपनी सृष्टि में थोड़ी-सी विरूपता, असंगति, अव्यस्था सहन नहीं कर पाता, ठीक वैसे ही कवि का रचना-संसार उसकी कल्पनाओं, भावनाओं से रचा होता है। अपने रचनालोक का वह एक बेताज बादशाह होता है। कहावत है कि 'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि'। तो यहाँ कवि की दृष्टि की गहराई की बात उठाई गयी है अर्थात्, सिर्फ स्थूल का वर्णन कर देना, चीजों का यथातथ्य लेखा-जोखा प्रस्तुत कर देना कविकर्म नहीं है। मानव विकास के साथ ही काव्य का स्वरूप, उसका प्रयोजन, उसका हेतु सारा कुछ बदलता रहा है।

काव्यशास्त्र कविता का शास्त्र है जिसका प्राचीनतम ग्रन्थ भरतमुनि का नाट्य शास्त्र है। इन्होंने नाटक को काव्य का एक रूप मानते हुए काव्यांगों का निरूपण किया है। काव्यशास्त्र के कलेवर में, उन सारे प्रश्नों का समाधान कर देने की कोशिश है जो काव्य के स्वरूप-सर्जना तथा आस्वाद प्रक्रिया के समस्त अंगों से सम्बद्ध हैं। रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य, नामक सम्प्रदायों का प्रवर्तन करते हुए आचार्यों ने काव्यपुरुष के अंग-प्रत्यंग का पर्यवेक्षण करते हुए अपनी सैद्धान्तिक विवेचनाएँ प्रस्तुत की हैं।

काव्यात्मा की खोज इन आचार्यों का प्रमुख आस्वाद्य विषय रहा। "रसो वै सः" कहकर उपनिषदों में भी रस और ब्रह्म का अभेद दिखाया गया था। काव्य की चरम परिणति रस है। इसे प्रायः सभी आचार्यों ने मान्यता दी है। रसहीन काव्य कल्पना से परे हैं। भरतमुनि, भोजराज, रुद्रट, विश्वनाथ आदि सभी ने रससिद्धान्त को सम्पूर्ण साहित्य संहिता का मेरुदण्ड माना। आचार्य विश्वनाथ ने तो यहाँ तक कहा है कि, "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। रस की समस्या का सवाल नयी कविता के सम्बन्ध में उठाया गया। इसका कारण था कि नयी कविता सहज-सम्प्रेषणीय नहीं है जो रस का प्रधान लक्ष्य है। क्षणांश की अनुभूति, वैयक्तिक जीवन की अपेक्षा,

बौद्धिकता, भावुकता का अभाव आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ नयी कविता में हैं जो रस-वादी साँचे का पूर्णतया अतिक्रमण करती थीं, किन्तु यहाँ भी रस का निषेध नहीं है। आनन्दोपब्धि भले ही अनिवार्य न हो किन्तु नयी कविता का लक्ष्य अवश्य है। वस्तुतः रस-सिद्धान्त मानववाद के दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित है जो मानव को स्वीकारता है। रस जीवन का पर्याय है। रस का निषेध होगा जीवन का निषेध, जो इस अनास्थावादी युग में भी सम्भव नहीं हैं। अतः रस का सम्बन्ध जीवन और कला दोनों के साथ शाश्वत है।

अलंकरण मानव की प्रकृति है। सुन्दर को सुन्दरतम बनाने की प्रवृत्ति ने ही कविता की जमीन को उर्वरा बनाया है। कवि सौन्दर्यप्रेमी है जो विरूपता में भी सौन्दर्य देख लेता है। अलंकार शब्द अपने व्यापक अर्थ में काव्य-शोभा व काव्य-सौदर्न्यबोधक शब्द है। आचार्य दण्डी के शब्दों में तो "काव्यशोभा करान धर्मानलंकारान प्रचक्षते" अर्थात् काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म को अलंकार कहते हैं। जिस प्रकार हार आदि आभूषण कण्ठ की शोभा बढ़ाते हैं, वैसे ही उपमा आदि अलंकार शब्द अर्थरूप अंग के सौन्दर्यवर्द्धक हुआ करते हैं। जयदेव ने तो यहाँ तक कह डाला है कि यदि कोई काव्य को अलंकार-रहित मानता है तो अपने को पण्डित मानने वाला वह व्यक्ति अग्नि को उष्णतारहित क्यों नहीं कहता—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती,
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।

अलंकारों को जीवनाधायक तत्व मानने की अपेक्षा उत्कर्षाधायक तत्व मानना अधिक उपयुक्त है। मम्मट ने भी अलंकारहीन काव्य को अस्वीकार किया है। आधुनिक युग तक आते-आते अलंकारों का सायास प्रयोग कम होने लगा। अलंकारों को मनोविज्ञान से जोड़ने की प्रवृत्ति भी इस काल में दिखाई दी। अलंकार वाणी की सजावट ही नहीं है, आत्माभिव्यक्ति के द्वार हैं।

रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित कराने का श्रेय आचार्य वामन को है। रीति का सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है। भरतमुनि ने भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित चार प्रवृत्तियों का उल्लेख किया, जिनका सम्बन्ध नाना देशों के वेश, भाषा और आचार से था। आचार्य दण्डी ने रीति के अर्थ में 'वर्त्म' और 'मार्ग' का प्रयोग किया है। रीति का विश्लेषण करते हुए आचार्य वामन ने कहा, "विशिष्ट पद रचना रीतिः विशेषो गुणात्मा।" रचना का सौन्दर्य रीति पर आश्रित है। रीति को यहाँ प्रादेशिक आधार मिला। वैदर्भी,गौडी और पांचाली—ये तीन रीतियाँ प्रादेशिक स्तर पर मानी गयीं। वैदर्भी में समस्त गुणों का सद्भाव है। गौडी में ओज और कान्ति गुणों

का तथा पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य का। बाद में अवन्तिका, लाटी जैसी रीतियाँ भी इनमें संयुक्त कर दी गयीं। मानव शरीर से रीति की उपमा दी जाती है, जैसे आँखें मुखमण्डल पर शोभा देती हैं। यदि उन्हें कहीं और रखा जायेगा तो शरीर कुरूप लगेगा, यही स्थिति पदों की संघटना की भी है। यही कारण है कि आनन्दवर्धन ने रीति को संघटना कहा है। रीति भाषिक विश्लेषण पर बल देती है। नयी समीक्षा इसी सन्दर्भ में इस सम्प्रदाय के अधिक निकट है। रीति को शैली से भी समन्वित किया गया। शैलीविज्ञान को इसी अर्थ में रीति सम्प्रदाय का विकसित रूप कहा जा सकता है।

ध्वनि सम्प्रदाय का मूल स्रोत वैयाकरणों का स्फोटवाद है। इस सम्प्रदाय के प्रणेता आनन्दवर्धन हैं और पोषक अभिनव गुप्त। "ध्वनि काव्य की आत्मा है" का उद्घोष करने के बावजूद आनंदवर्धन ने रसध्वनि को श्रेष्ठ ठहराया है। जैसे दीपक दूसरों को भी आलोकित करता है और स्वतः प्रकाशित भी होता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ भी काव्यार्थ की प्रतीति कराता हुआ स्वयं भी प्रतीत होता है। आचार्य मम्मट मूलतः ध्वनिवादी ही हैं। आधुनिक कविता अभिधा में व्यक्त होती ही नहीं है। व्यन्जना आज की कविता का महत्वपूर्ण उपादान है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त का उदय आकस्मिक नहीं है अपितु एक लम्बी परम्परा की चरम परिणति है। इस सिद्धान्त के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर सर्वप्रथम नाम बाण भट्ट का आता है। कादम्बरी में प्रयुक्त इस शब्द का "भंगीविच्छिन्ति" अर्थ ही प्रासंगिक है। भामह काव्य की आत्मा तो अलंकार को मानते हैं लेकिन उसका मूल मानते हैं वक्रोक्ति को। दण्डी ने सम्पूर्ण वाङ्मय को 'स्वभावोक्ति' तथा 'वक्रोक्ति' दो भागों में बाँटा है। वक्रोक्ति को 'काव्य का जीवित' मानने वाले आचार्य है—कुन्तक। उनकी दृष्टि में—

"वक्रोक्तिरेव: वैदग्ध्यभंगीभणिति।" कवि कौशल तथा काव्य-सौन्दर्य इसके पर्याय हैं। कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेदों—वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता, पद परार्द्धवक्रता, प्रकार वाक्यवक्रता, प्रकरण और प्रबन्धवक्रता में संसार की सूक्ष्मतम इकाई वर्ण से लेकर महानतम रूप महावाक्य तक को परिकल्पित किया है। वस्तुतः वक्रोक्ति वह है, जहाँ अनुभूति और अभिव्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य रहता है।

यह कहना भी गलत नहीं होगा कि नयी समीक्षा में वक्रत्व ने अपनी प्रतिष्ठा पुनः स्थापित कर ली है। रीतिकालीन वक्रता शब्दालंकार और अर्थालंकार के सीमित दायरे में थी जो आधुनिक युग में व्यापक काव्य-सौन्दर्यबोधक बन गयी। वस्तुतः काव्य का काव्यत्व वक्रत्व ही है।

औचित्य की सत्ता जीवन में उतनी ही सनातन है जितना स्वयं जीवन। सृष्टि के मूल में ही 'साम्यावस्था प्रकृतिः' का सिद्धान्त है। वैदिक ऋचाओं की दृष्टि में भी सम्पूर्ण सृष्टि का पर्याय औचित्य सिद्ध होता है। यूँ तो प्रायः सभी आचार्यों ने औचित्य का समर्थन किया है किन्तु काव्य में आत्मतत्त्व के रूप में उसे एक सम्प्रदाय मानने वाले कश्मीरी विद्वान् आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। आपने स्पष्टतः कहा है कि "औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।" सम्पूर्ण काव्यांगों में औचित्य की सार्थकता है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है। नये साहित्य तक यात्रा करते हुए औचित्य का प्रश्न साहित्य की प्रवृत्तियों, उसके जीवन-दर्शन से भी जुड़ जाता है। परम्परा के प्रति विद्रोह, नवीनता का आग्रह, बदलते जीवन-मूल्यों के साथ भाषा का निरन्तर गद्योन्मुख होना या उसका अनगढ़पन, अभिव्यक्ति का औचित्य ही तो है।

इस प्रकार काव्यशास्त्र विविध काव्य-मूल्यों पर सवालिया निशान ही नहीं लगाता अपितु एक-एक कर उगने वाले काव्य सम्बन्धी सभी प्रश्नों का समाधान भी एक सुविचारित दृष्टिकोण से करता है। काव्यशास्त्रीय ज्ञान के अभाव में कोई कवि सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। यह सच है कि आज कोई तत्त्व आत्मस्थानीय नहीं माना जाता, लेकिन यह भी सच है कि ये मूल्य इतनी गहरी जड़ें जमा चुके हैं कि कोई विचारधारा इनका पूर्णतः निषेध नहीं कर सकती है। जहाँ पहले ये काव्य-मूल्य स्थूल तथा सीमित दायरे में आबद्ध थे वहीं अब ये सूक्ष्म और विस्तृत अर्थ रखते हैं। जैसा कि डॉ० वेंकटशर्मा का कथन है कि—"भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा अत्यन्त प्राचीन हैं। गंगोत्री के समान उसका उद्गमस्थल अत्यन्त सूक्ष्म और प्रारम्भिक प्रवाह मंथर है, किन्तु कालक्रम से वह विस्तृत और प्रवेग गुण बनकर गंगासागर के रूप में परिणत हो गया है।"

काव्यसृजन और काव्यवस्तु को पहचानने की प्रक्रिया में भारतीय आचार्यों द्वारा निरूपित काव्यमूल्य अनायास प्रतिस्थापित होते चले गये। भारतीय दर्शन के वाद-विवाद में उलझते ये मूल्य इतने ठोस आधार पर समीक्षा की पृष्ठभूमि तैयार करते गये कि आज का समीक्षक भी इनसे इतर कुछ कहने की कल्पना नहीं करता बल्कि इन्हें भी सूक्ष्म रूप देता है, और यदि कोई समीक्षा-दृष्टि इन काव्यशास्त्रीय मूल्यों का निषेध करती भी है तो अपने उद्भव काल में ही प्रश्नचिह्नों के दायरे में इस तरह कैद कर दी जाती है कि अपने अस्तित्व से भी हाथ धो बैठती है।

काव्य का स्वरूप

कविता आखिर है क्या ? कुछ शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण होते हुए भी किसी परिभाषा में सहज ही बँध नहीं पाते हैं, कविता भी ऐसा ही शब्द है। जैसे जिन्दगी को बहुत करीब से जानते-समझते हुए भी हम उसे किसी परिभाषा में कैद नहीं कर पाते,कविता

के साथ भी कुछ ऐसा ही है। जो वस्तु जितनी व्यापक होती है, वह उतनी ही सूक्ष्म भी होती है। यह कहना भी बड़ा असंगत है कि कविता पहले अच्छी होती थी अब नहीं होती या फिर कविता अब पठन-पाठन की वस्तु नहीं रह गयी। दरअसल, कविता भी मानव जीवन के साथ-साथ सतत परिवर्तनशील रही है। प्रकृति में देवत्व के आरोप ने वैदिक ऋचाओं का रूप लिया, क्रौंच पक्षी के करुण वध ने वाल्मीकि के शोक को श्लोक में परिवर्तित कर दिया, चन्दवरदायी ने देश की विषम परिस्थितियों में वीरता, शौर्य और राष्ट्रीय भावना की अलख जगायी तो तुलसी-सूर ने आस्थाहीन समाज में मर्यादा पुरुषोत्तम और लीलापुरुषोत्तम राम और कृष्ण का उपासक बनकर एक आस्थावादी संस्कृति को जन्म दिया। दरबारी संस्कृति में काव्य-प्रतिभा मुहरों-अशर्फियों के हाथों नीलाम हुई और घोर शृंगारिक कविताएँ दरबारों की शोभा बनकर वाहवाही लूटने लगीं। अनैतिकता की धुन्ध छाँटने हेतु कटिबद्ध द्विवेदीयुगीन कविता इतिवृत्तात्मक हो उठीं और इसी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रियास्वरूप छायावादी का आन्दोलन आया। सूक्ष्मता का अतिशय आग्रह मान्य नहीं हुआ, तो फिर मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित प्रगतिवाद अस्तित्व में आने लगा। इसके बाद 'अज्ञेय' ने तारसप्तक के सम्पादन के साथ ही प्रयोगवाद का सूत्रपात किया। इसके बाद जितनी तेजी से राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक मूल्य बदले, उतनी ही तेजी से काव्यमूल्य भी प्रतिबद्ध कविता, भूखी पीढ़ी की कविता, श्मशानी कविता, युयुत्सावादी कविता, नयी कविता, जनवादी कविता और अब कौन-सा नाम दिया जाये। कविता को तो एक मानक बना लिया—दशक के आधार पर कविता का मूल्यांकन—जैसे, सातवें दशक की कविता, आठवें दशक की कविता। अतः हम कह सकते हैं कि कविता का स्वरूप सतत परिवर्तनशील है; जो साँचे कवि बनाते हैं कुछ ही दिनों में परिस्थिति में परिवर्तन उस साँचे को नाकाफी बना देता है और रचनाकार अभिव्यक्ति की तलाश में एक के बाद एक साँचा गढ़ता है, तोड़ता है, फिर गढ़ता है।

काव्य का स्वरूप हम आचार्यों, कवियों द्वारा दिये गये काव्य लक्षणों के आधार पर निरूपित करते हैं। इस दृष्टि से देखें तो काव्य का लक्षण सर्वप्रथम काव्यशास्त्र के प्राचीनतम ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में मिलता है। नाटक को काव्य का एक रूप मानकर यहाँ काव्यांगों का वर्णन किया गया है। अग्निपुराणकार ने भी काव्य की स्पष्ट परिभाषा दी है—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली
काव्यं स्फुरदलंकार गुणवद्दोषवर्जितम्।

अर्थात् संक्षेप में इष्ट अर्थ को प्रकट करनेवाली पदावलीयुक्त वाक्य ऐसा काव्य है जिसमें अलंकार प्रकट हों और जो दोषरहित और गुणयुक्त हो। भामह ने 'शब्दार्थौ

सहितौ काव्यम्' कहकर शब्द और अर्थ के संयोग को काव्य की संज्ञा दीं। रुद्रट ने भी इन्हीं का अनुकरण करते हुए लिखा—"ननु शब्दार्थौ काव्यम्।" आनन्दवर्धन ने "शब्दार्थ-शरीर तावत्काव्यम्"—काव्य तो शब्दार्थशरीर वाला है, कहकर काव्य को परिभाषित किया। दण्डी ने लिखा—"शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली" अर्थात् इष्ट अर्थ को व्यक्त करनेवाली पदावली शरीर मात्र है। प्रायः सभी आचार्यों ने काव्यपुरुष का शरीर शब्दार्थ माना और फिर उनकी दृष्टि उस काव्यपुरुष की आत्मा की खोज की तरफ गयी। किसी ने अलंकार को काव्य की आत्मा माना, किसी ने रस को, गुण को आधार बनाकर आचार्य वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति को काव्य की आत्मा स्वीकारा। रीति शैली है और काव्य का वस्तुनिष्ठ रूप है। आनंदवर्धन ने घोषणा की कि "काव्यस्यात्मा ध्वनिः।" आचार्य कुन्तक को इसमें भी अपूर्णता लगी और उन्होंने—'वक्रोक्ति : काव्यजीवितम्' कहकर वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य में आत्मस्थानीय महत्त्व दिया। कुल मिलाकर संस्कृत के ये आचार्य काव्यपुरुष की आत्मा की खोज में तो भटकते रहे, पर काव्य के लक्षण का निरूपण नहीं कर सके। आचार्य मम्मट ने काव्य की परिभाषा इन शब्दों में दी—"तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" लेकिन उनकी यह परिभाषा विवाद का विषय बनकर रह गयी। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ की काव्यपरिभाषा अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा में कहा गया, 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। इस परिभाषा के अनुसार सरस, पूर्ण और माधुर्यमय रचना ही काव्य की कोटि में आ सकती है। रसवादी आचार्य होने के नाते विश्वनाथ ने रस को प्रमुखता दी है, किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या रस काव्य के समस्त स्वरूपों को आत्मसात् कर सकता है ?

पण्डितराज जगन्नाथ ने "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" कहकर काव्य को परिभाषित किया। रमणीय को उन्होंने 'आह्लाद' का पर्याय बताया है। इस परिभाषा में शब्द पद का प्रयोग काफी भ्रममूलक है, क्योंकि भाषा की परिणति वाक्य है, शब्द नहीं। अकेला शब्द रससिद्धि नहीं कर सकता।

हिन्दी में रीतिकाल लक्षणपरक काव्य का काल रहा है, जिसमें अधिकांशतः संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुवादित रूप ही मिलता है। हाँ, कुछ कवियों ने इस सम्बन्ध में मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं। इनमें प्रमुख रूप से आचार्य केशवदास का नाम लिया जाता है। काव्य की शोभा अलंकार मानते हुए केशवदास ने काव्य स्वरूप को स्पष्ट किया है—

यदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिना न सोहई कविता वनिता मित्त॥

अर्थात् केशव की दृष्टि में रस, छन्द और शब्द के साथ अलंकार की उपस्थिति भी अपरिहार्य है। श्रीपति ने अपनी परिभाषा में रस का समर्थन किया है—

यदपि दोष बिनु गुन सहित, अलंकार सों लीन।
कविता बनिता छवि नहीं, रस बिन तदपि प्रवीन ॥

चिन्तामणि का कविकुलकल्पतरु 'साहित्यदर्पण' से प्रभावित लगता है, जिसमें काव्य लक्षण देते हुए कहा गया है—'बतकहाउ रसमैं जु है कवित कहावै सोय' अर्थात् रसयुक्त वाक्य काव्य है।

कुलपति मिश्र ने 'रसरहस्य' में मम्मट और विश्वनाथ दोनों के काव्य लक्षण का खण्डन करते हुए अपनी मौलिक उद्भावना की है—

जग ते अद्भुत सुखसदन, सब्दरु अर्थ कवित्त।
वह लच्छन मैंने कियो, समुझि ग्रन्थ बहु चित्त ॥

संसार से विलक्षण अर्थ देने वाला शब्द और अर्थ काव्य है, पर यह विलक्षण आनंद किस प्रकार समझा जाय इसका कोई उल्लेख नहीं किया गया है। महाकवि देव ने 'काव्यरसायन' में काव्यस्वरूप को परिभाषित करते हुए कहा—

"सब्द जीव तिहि अरथ मन, रसमत सुजस सरीर।
चलत वहै जुग छन्द गति, अलंकार गम्भीर ॥"

काव्यपुरुष के रूपक का स्पष्टीकरण यहाँ मिलता है। शब्द जीव है, अर्थ मन है, रसयुक्त यशस्वी शरीर है, मात्रिक वर्णिक छन्द गति है और अलंकार गति की गम्भीरता। देव की धारणा विलक्षण है क्योंकि रस को शरीर माना गया है।

आधुनिक युग के कवियों की कविता सम्बन्धी धारणाएँ या तो पाश्चात्य विचार-धारा से प्रभावित हैं या फिर कुछ नया अर्थ देती हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'रसज्ञरंजन' में लिखा कि 'अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है।' किन्तु यह कविता की एकांगी परिभाषा है। अन्तर्वृत्त का चित्र कविता का एक रूप मात्र हो सकता है, सम्पूर्ण कविता नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता को जीवन और जगत की अभिव्यक्ति माना है। उनकी दृष्टि में 'अव्यक्त की अभिव्यक्ति जगत है अतः कविता अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति हुई।' यह लक्षण कविता की नाट्यता और विविधता का द्योतक है। चिन्तामणि के प्रथम भाग मे शुक्लजी काव्य की परिभाषा अलग ढंग से देते हुए कहते हैं—"सत्त्वोद्रेक या हृदय की मुक्तावस्था के लिए किया हुआ शब्द-विधान काव्य है।" यह लक्षण भी पूर्ण और व्यापक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चमत्कारपूर्ण काव्य में मन को चमत्कृत और कल्पना को प्रसन्न करने की विशेषता होती है, जबकि भावात्मक काव्य में हृदय की मुक्तावस्था के सम्पादन की विशेषता।

छायावादी कवियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण धारणा जयशंकर 'प्रसाद' की है। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में उन्होंने लिखा है—"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।" इस परिभाषा में प्रयुक्त 'संकल्पात्मक अनुभूति' पद अस्पष्ट है। काव्य को अनुभूति माना गया है जबकि वस्तुतः वह अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार काव्य को ज्ञानधारा कहना भी तर्कसंगत नहीं जान पड़ता। तथापि इसमें महत्वपूर्ण और तात्त्विक मौलिक धारणा का संकेत है। जीवन और सत्य का जो रूप काव्य द्वारा प्रकट होता है, अपने में पूर्ण सौन्दर्य के साथ होता है।

महादेवी वर्मा के मत में, कविता असीम सत्य की झाँको दिखाती है, "कविता कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण है और यह चित्रण इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत होती हैं।" यह परिभाषा भावतत्व तक सीमित है, अन्य काव्यांगों का वर्णन यहाँ नहीं मिलता। अन्यत्र महादेवी वर्मा ने कवि के सम्बन्ध में लिखा है कि "काँटा चुभाकर उसकी पीड़ा की अनुभूति तो संसार कराता है पर कवि बिना काँटा चुभाये उसकी पीड़ा की अनुभूति करा देता है।" लेकिन गहराई से देखें तो आवश्यक नहीं, कि पाठक भी कवि जितना ही संवेदनशील हो। फिर ये परिभाषाएँ गीतिकाव्य के लिए तो ठीक है, किन्तु जहाँ विसंवादी भावनाएँ भी उठ सकती हैं वहाँ इनकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती।

सुमित्रानन्दन पंत ने 'कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है' कहकर काव्य को छायावादी कविता की तरह ही अस्पष्ट कर दिया। परिपूर्ण क्षण कौन से हैं ?' हर व्यक्ति की दृष्टि में परिपूर्ण लक्षण अलग-अलग हैं—शराबी के लिए जी भरकर मदिरा पान, युद्धरत सैनिक के लिए शत्रु का विनाश, संगीतकार के लिए सुर की एकाकारता, ये सब परिपूर्ण क्षण हैं, तो क्या सबकी वाणी कविता होगी ? यदि ऐसा होता तो प्रत्येक व्यक्ति कवि होता। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' के शब्दों में "कविता सबसे पहले शब्द है और अन्त में भी यही बात रह जाती है कि कविता शब्द है।" यहाँ आकर काव्य की परिभाषा एक बार फिर वाक्केन्द्रित हो जाती है। काव्य की काव्यिक संरचना में प्रतीक, बिम्ब, मिथक, अलंकार-जैसे तत्त्व गुँथे रहते हैं अतः इन प्रतिमानों की अलग चर्चा न करते हुए उन्हें शब्द में ही अन्तर्भूत कर लिया गया है।

केदारनाथ सिंह के नये काव्यशास्त्र के अनुसार—

'मुँह में बचे हुए
चावल के स्वाद को
कुछ अदृश्य कंकड़ियों के
हस्तक्षेप से
बचाने का नाम है कविता।'

तमाम विसंगतियों के बीच भी कविता ही है जो परस्पर जोड़ती है। विज्ञान ने दैहिक दूरी तो कम की है लेकिन व्यक्ति-व्यक्ति के बीच की खाई उतनी ही चौड़ी होती जा रही है। कविता ही है जो मनुष्य की मनुष्यता को जीवित रखती है। केदारनाथ सिंह का इशारा ऐसी विसंगतियों के बीच त्रासदी डालती संवेदनशीलता की ओर ही है।

काव्य के स्वरूप के विषय में बात करता हुआ भी आधुनिक कवि किसी एक तत्त्व को प्रमुखता नहीं देता। उसका ध्यान वर्णनशैली पर नहीं, वर्ण्य पर अधिक केन्द्रित होता है। आज की कविता को हम पुराने मानदण्डों के आधार पर नहीं परख सकते हैं। संभवतः इसीलिए विजयदेवनारायण साही कहते हैं कि "समूची नयी कविता को ठीक-ठीक देखने के लिए नयी कविता के प्रतिमान की जरूरत नहीं, बल्कि कविता के नये प्रतिमान की जरूरत है।" इन सारी परिभाषाओं को समग्र रूप से समझकर ही काव्य के स्वरूप को समझा जा सकता है। काव्य का स्वरूप भाषा-पक्ष, भाव-पक्ष, अभिव्यक्ति-कौशल और आत्म-पक्ष, इन सबका समवेत रूप है। काव्य का अस्तित्व सत्य के कारण है, इसीलिए काव्य की आत्मा सत्य है। सत्य, सुन्दर और शिव से संयुक्त होता है इसलिए सत्यं शिवं सुन्दरम् को भी काव्य का स्वरूप माना गया है। संभव है आगे स्थितियों में और बदलाव आये और उस आयाम पर पहुँचकर कविता भी एक नये स्वरूप में सामने आये।

काव्य का प्रयोजन

कवि लिखता क्यों है, इस सवाल का बड़ा अच्छा जवाब अक्सर दिया जाता है क्योंकि लिखे बिना कवि रह नहीं सकता। तो क्या लिखना सचमुच एक अनिवार्यता है? जैसे सृष्टि का क्या प्रयोजन है, जीने का क्या प्रयोजन है, इन सारे प्रश्नों के समाधान के बगैर ही सृष्टि होती जाती है, जीवन जिया जाता है। ठीक ऐसे ही लिखना भी एक धर्म है। सर्जनशील प्रतिभा जब तक अपने आपको अभिव्यक्त नहीं कर लेती, उसकी अभिव्यक्ति की छटपटाहट कम नहीं होती। किन्तु यदि गहराई से विचार करें तो लगता है कि हर कर्म के पीछे उसका प्रयोजन छिपा है, भले ही परोक्ष रूप में। कहने को कितना भी निष्काम कर्म हो किन्तु उसका भी कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य होता है। संस्कृत ग्रन्थों में तो कवि आरम्भ में ग्रन्थरचना का प्रयोजन भी बता दिया करता था, यहाँ तक कि गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस की रचना 'स्वान्तः सुखाय' की है—इसे स्पष्टतः कहा है। मंगल भावना से प्रेरित पारम्परित ग्रन्थों के अतिरिक्त भी यह प्रश्न उठने लगा कि कवि काव्य की सर्जना करके समाज को, युग को क्या देता है?

कृति सर्जना के क्षणों तक कृतिकार की रहती है, तत्पश्चात् वह अपने समाज की और उससे आगे बढ़कर युग का दस्तावेज हो जाती है। कबीर ने मानव एकता

स्थापित करने के लिए ही रचना की। सूर-तुलसी ने निराशापूर्ण समाज को राम और कृष्ण जैसा आराध्य देकर एक नयी आशा का सूत्रपात किया। भूषण ने राष्ट्रीय चेतना जगाने का प्रयत्न किया। गुलामी की जंजीरों में कसी जनता को जयशंकर 'प्रसाद' ने अतीत के गौरवमय इतिहास की झाँकी दिखाकर उत्साहित किया। अलका, मन्दाकिनी, चन्द्रगुप्त, मातृगुप्त आदि चरित्रों की नवजागरण का मंत्र फूँकने में एक अहम् भूमिका रही है। आज की तमाम कविताएँ देश की प्रशस्ति न होकर उसके विरोध में जाती हैं। इसीलिए आज की कविता को प्रतिपक्ष कीं कविता भी कहा जाता है, किन्तु यह सच है कि ये कविताएँ तिलमिलाहट पैदा करना चाहती हैं, झकझोरना चाहती हैं, उन्हें जगाना चाहती हैं जो आजादी की थाली का भरपूर भोजन कर चुकने के बाद गहरी निद्रा में सो गये हैं। सबसे बड़ी बात तो यह उभर कर आती है कि रचना का अगर प्रयोजन नहीं है तो उसे पाठक पढ़ता क्यों है? जाहिर है, फिर प्रयोजन का पक्ष पाठकवर्ग से भी जुड़ा है और इसीलिये इन प्रयोजनों का कोई एक ठोस स्वरूप नहीं है। कालजयी रचना आखिर बनती कैसे हैं?

''सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत् प्रयोजने नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते॥'

इस उक्ति को ध्यान में रखते हुए हमारे संस्कृत आचार्यों ने प्रयोजन की उपादेयता का उल्लेख किया। सर्वप्रथम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक के आधार पर काव्य-प्रयोजनों की चर्चा की गयी। इनका नाट्य-प्रयोजन ही प्रकारान्तर से काव्य-प्रयोजन है—

''धर्म्यंयशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्''

यह काव्य-प्रयोजन विशुद्ध रूप से भौतिकवादी जमीन पर स्थित है—धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि और उपदेश—इन सभी को समेकित प्रयोजन माना गया है। प्रत्यक्ष रूप से भरतमुनि ने भले ही आनंद का जिक्र न किया हो, किन्तु इन सभी के पीछे आनंद की भावना छिपी हुई है।

भामह भरतमुनि के काव्य-प्रयोजनों का परिष्कार करते हैं—

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोतिकीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्य निषेवणम्॥''

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, प्राप्ति, कलाओं में कुशलता, कीर्ति-प्रीति का अर्जन काव्य से ही सम्भव है। चतुर्वर्ग का उल्लेख करके भामह ने लोक और परलोक, दोनों में काव्य की प्रयोजनमूलकता को स्वीकारा है।

दण्डी ने काव्य-प्रयोजन न कहकर वाणी-प्रयोजन का विवेचन किया है जिसे काव्य-प्रयोजन में ही समाहित किया जा सकता है।

"इदमन्धतः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥"

शब्दरूप ज्योति से अन्धकार दूर होता है। दरअसल, यहाँ अन्धकार निराशा का और ज्योति आशा का प्रतीक ही है।

वामन ने काव्य-प्रयोजनों पर दो दृष्टियों से विचार किया है—एक तो आनन्द साधना जिसे दृष्ट प्रयोजन कहा गया, दूसरा कीर्ति जो अदृष्ट प्रयोजन है। कीर्ति बाह्य है जबकि प्रीति आन्तरिक—

"काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थ प्रीति कीर्ति हेतुत्वाद्"

रुद्रट की धारणा है कि काव्य-रचना द्वारा महापुरुषों के यश को स्थायित्व प्राप्त होता है, कवि को आनुषंगिक फल धन आदि की प्राप्ति भी होती है।

आनंदवर्धन के 'सहृदयमनः प्रीतिः' को, 'विगलित वेदवेदान्तर आनन्द' को मूल-भूत प्रयोजन कहा जा सकता है। कुल मिलाकर रसास्वादन प्रमुख प्रयोजन है।

कुन्तक के मत से तीन प्रयोजन हैं—१. चतुवर्ग-फल-प्राप्ति, २. व्यवहार-ज्ञान और ३. लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति।

मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में काव्य-प्रयोजनों का विशुद्ध विवेचन किया है। उनकी दृष्टि में—

"काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥"

अर्थात् काव्य से यश की प्राप्ति होती है, अर्थ की प्राप्ति होती है, व्यवहारज्ञान होता है, अमंगल का क्षय होता है, तत्काल लोकोत्तर आनन्द प्राप्त होता है और कान्ता के सदृश ही मधुर-प्रिय उपदेश भी मिलता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने काव्य को 'स्वान्तः सुखाय' मानते हुए भी उसे सबका हित करने में सक्षम माना है—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई,
सुरसरि सम सबकर हित होई।"

मैथिलीशरण गुप्त काव्य को कला के लिए न मानकर व्यापक हित को ध्यान में रखते हैं—

"मानते हैं जो कला को कला के अर्थ ही
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "काव्य का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य प्रतिस्थापन है।" इस प्रयोजन को मानने का ही परिणाम है कि आचार्य शुक्ल ने तुलसीदास को ही कविता कीं कसौटी मान लिया क्योंकि लोकसंग्रह का जो भाव तुलसीदास में है वह अन्य में नहीं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी मानव कल्याण को ही साहित्य का प्रयोजन मानते हैं—"मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके दुःख को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की दृष्टि में आत्मानुभूति ही काव्य का प्रयोजन है जबकि डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में आत्माभिव्यक्ति को साहित्य का प्रयोजन मानना समीचीन है।

आज का कवि कविता को कला की, मनोरंजन की वस्तु नहीं मानता, उसका इस्तेमाल वह गोली, बन्दूक, स्टेनगन की तरह करता है और मानता है कि कविताओं से भी क्रान्ति हो सकती है। मुक्तिबोध की कविता विचलित करती है और उसका केन्द्रीय मूल्य साहस का होता है। हमारी समकालीन दुनिया में तमाम विसंगतियों के बीच—

सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्
चिंतक शिल्पकार नर्तक चुप हैं।

ऐसी परिस्थितियों में भी आदमी की हालत की पूरी परिभाषा अदम्य साहस और शक्ति से करने की कोशिश मुक्तिबोध ने की है—

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे
तोड़ने होंगे ही व्यूह और गढ़ सब।

अशोक बाजपेयी के शब्दों में, "मुक्तिबोध ने अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाये और उनकी कविता समकालीन भारतीय मनुष्य की पीड़ा की खंडित रामायण है।"

केदारनाथ सिंह के लिए—

"मुक्ति का जब कोई रास्ता नहीं मिला

मैं लिखने बैठ गया हूँ
यह जानते हुए कि लिखने से कुछ नहीं होगा
मैं लिखना चाहता हूँ।''

लेकिन लिखना महज आत्माभिव्यक्ति नहीं है, कवि मम से ममेतर तक इसी के सहारे जुड़ता है—

"आप विश्सास करें
मैं कविता नहीं कर रहा
सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूँ।''

उपर्युक्त तथ्यों को देखते हुए काव्य के प्रयोजनों के कुछ बिन्दु उभर कर आते हैं—

कला, कला के लिए

स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के आग्रह ने इस उक्ति को जन्म दिया। काव्य उपदेश-प्रधान हो, जीवनोपयोगी हो, धार्मिक प्रचार का साधन हो, नैतिक मूल्यों को जाग्रत करने वाली हो—इन सारी बेड़ियों से कविता को मुक्त करने की कोशिश ने कविता को एक सीमित दायरे में बाँध दिया और उसका एकमात्र प्रयोजन कलावादिता रह गयी। छायावाद इसी प्रकार स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह बनकर आया।

कविता वस्तु और रूप, दोनों का संश्लेषण है। कविता का मूल्य विषय में ही नहीं, समूची कविता में है। कला,कला के लिए है—इस सिद्धान्त ने कविता को काफी हद तक विकृत किया। साहित्य की गरिमा का अवमूल्यन होने लगा। यह सच है कि कला किसी सैद्धान्तिक मूल्य का विज्ञापन बनकर जीवन्त नहीं रहती, किन्तु निरंकुश होकर वह पथभ्रष्ट भी हो जाती है। कवि को स्वतन्त्र अवश्य होना चाहिए पर स्वच्छन्द नहीं।

कला जीवन के लिए

कला जीवन से जुड़कर ही सार्थक होती है। क्या कारण है कि रीतिकालीन कविता जो एक-एक दोहे पर जाने कितनी प्रशंसा और मुद्रा बटोरती थी, आज बेमानी लगती है। आज कवि को चाँद-सूरज की चमक नहीं, उसकी रोटीनुमा गोलाई आकृष्ट करती है क्योंकि उसकी जरूरत भूख है, विरह की तड़प नहीं। कलाओं के बिना जीवन निस्सार हैं। कम्प्यूटर-संस्कृति दिल की धड़कनों को चन्द बटनों के सहारे चला तो सकती है लेकिन उसकी संवेदनशीलता का प्रमाण कविता ही दे सकती है, जीवन से जुड़कर कविता का समाजीकरण हो जाता है।

कविता जीवन से पलायन है

यथार्थ जीवन की ट्रेजडी में पिसते मनुष्य के लिए कविता की दुनिया ही आश्रय है। जैसे बन्द कमरे में दम घुटने पर व्यक्ति बाहर उन्मुक्त वातावरण में साँस लेकर राहत महसूस करता है ठीक वैसे ही कटुता और अभावों की दुनिया में दम घुटने पर वह एक ऐसी चीज तलाशता है जहाँ उसे सुन्दर, सुखद जीवन की झाँकी मिले। कविता तथा अन्य कोई भी कला इसके लिए सशक्त माध्यम है। फ्रायड ने इसी अर्थ में कलाओं को दमित भावनाओं की अभिव्यक्ति कहा है। यह एक मनोवैज्ञानिक जरूरत है जो हमें तपती रेत से खींचकर सरोवर तक ले जाती है।

आनंद अथवा मनोरंजन के लिए

कविता का प्रमुख लक्ष्य अधिकांश लोगों ने आनन्द ही माना है। पाश्चात्य विद्वान् तो इस प्रयोजन में एकमत हैं। कविता की इसी आनन्ददायी शक्ति के कारण इसे 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की संज्ञा दी गयी है।

नैतिक एवं मानवीय दृष्टिकोण के लिए

युग का सत्य कृति में ही प्रतिबिम्बित होता है, हर रचनाकार अपने आसपास के परिवेश को व्यक्त करता है। जाहिर है कि जिसे वह आदर्श मानता है, उसका समर्थन करता है और जो अनैतिक मानता है, समाज के लिए अनुपयोगी मानता है उसके प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करता है। हाँ, यहाँ रचनाकार को प्रतिबद्धता से बचना होगा।

आत्म-साक्षात्कार के लिए

आत्मानुभूति को अभिव्यक्ति देने के लिए तमाम साहित्य रचा जाता है। आत्म-साक्षात्कार में जब कोई कवि लोकात्मा का साक्षात्कार करता है तभी कृति सार्थक होती है अन्यथा एकालाप बनकर रह जाती है। आत्मानुभव से प्रेरित रचना की सबसे बड़ी विशेषता है—पाठक को आकर्षित करने की अभूतपूर्व क्षमता। मीरा, घनानन्द, जयशंकर 'प्रसाद', महादेवी वर्मा इसके ज्वलन्त उदाहरण है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि परिस्थिति के अनुरूप ही काव्य के प्रयोजन सम्बन्धी विचार भी बदलते रहे हैं। अपनी विचारधारा के अनुरूप ही विद्वानों ने काव्य का प्रयोजन कल्पित किया है। कला दूसरों के दुःख-दर्द से जोड़ती है, तनाव से मुक्ति दिलाती है। इस मशीनी युग में जब किसी को किसी से कोई सरोकार नहीं, कविता टटोलती ही नहीं झकझोर कर जगाती है, यह क्या कम महत्वपूर्ण प्रयोजन है ?

काव्य का हेतु

कवि क्यों लिखता है, के साथ ही एक बहुत ही स्वाभाविक प्रश्न उभरता है कि कविता लिखी कैसे जाती है ? अगर कवि लिखना चाहे और लिखने में सक्षम न हो

तो ? जाहिर है कि काव्य का प्रयोजन जहाँ पाठक-वर्ग से सम्बन्धित है, वहीं काव्य का हेतु सीधे कवि से जुड़ा हुआ सवाल है। संवेदनशीलता कवि की ही धरोहर नहीं है। बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें घटनाएँ झकझोरती हैं, दृश्य उद्वेलित करते हैं पर काश, अपने उस अनुभव को शब्दबद्ध करने की प्रतिभा भी उनमें होती ? अनुभव का धरातल ही पर्याप्त नहीं होता और यहीं काव्य के हेतु का सवाल उठ खड़ा होता है। यदि यह हेतु न हो तो सम्भवतः कविता का जन्म ही न हो। कृति नितान्त कारणसापेक्ष होती है। जिस दृश्य की साक्षी हजारों आँखें हैं, उसे महसूस करने वाले संवेदनशील हृदय हैं, उन्हीं में से कोई एक उसे शब्दबद्ध करके शाश्वत रूप दे देता है—जो जीता रहता है बगैर किसी साक्षी के।

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने इस विषय का भी निरूपण किया और सामान्यतः प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास—इन तीन तत्वों को काव्य का हेतु स्वीकार किया गया। काव्यहेतु रूपी त्रिगुण की ये तीन भुजाएँ हैं अर्थात् तीनों में किसी का महत्व कम नहीं है। लेकिन प्रायः सभी विद्वानों ने प्रतिभा को आधार-रेखा के रूप में माना है। रस-गंगाधर की टीका में मधुसूदन शास्त्री ने प्रतिभा को सर्वप्रमुख तथा स्वास्थ्य, अभ्यास, भक्ति, स्मृति, उत्साह, समाधि तथा व्युत्पत्ति को उसका उपकारक माना है। प्रतिभा के अन्तर्गत नूतन तथा सर्जना की स्फूर्ति जागृत होती है जो मनुष्य की जन्मजात दैवी शक्ति है और इसीलिए प्रतिभा को स्वयंप्रकाश माना गया है। प्रतिभा के सन्दर्भ में भट्टतौत का कथन दर्शनीय है—

"बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेयामतिरागाभिगोचरा।
प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ।।"

प्रतिभा नवोन्मेषशालिनी होती है। काव्य में अगर एक उपमान एक ही तरह से हर कविता में प्रयुक्त हो तो वह काव्य नीरस हो जायगा। कवि अपनी प्रतिभा से उसे नितनवीन रूप प्रदान करता है। अलंकार-योजना इसी शक्ति पर निर्भर है। ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन ने प्रतिभा के लिए "अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा" का प्रयोग किया है। अभिव्यंजनावाद के प्रणेता बेनेदेतो क्रोचे प्रतिभा को ही स्वयं प्रकाशज्ञान, प्रतिभा-ज्ञान और सहजानुभूति का पर्याय मानते हैं। मम्मट प्रतिभा के स्थान पर शक्ति शब्द के प्रयोग पर बल देते हैं।

भामह भी प्रतिभा को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देते हैं। उनकी दृष्टि में व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्यक्रिया का उपादेय है, जैसे—

"गुरूपदेशादध्येतु शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातुकस्यचित्प्रतिभावतः ।।"

अर्थात् गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन करने में जड़ बुद्धि के लोग भी सक्षम हो सकते हैं किन्तु काव्य तो किसी प्रतिभाशाली के द्वारा ही रचा जा सकता है। प्रतिभा काव्य का अनिवार्य हेतु अवश्य है, लेकिन सिर्फ प्रतिभा ही काव्यरचना में सहायक नहीं है, शब्दशास्त्र एवं पदपदार्थ का बोध भी काव्यक्रिया में सहयोग प्रदान करता है, यही व्युत्पत्ति है। भामह के मत में काव्य का मूल हेतु है प्रतिभा, जबकि व्युत्पत्ति तथा अभ्यास विशेषताधायक हेतु हैं।

दण्डी के मत में प्रतिभा, शास्त्रज्ञान और अभ्यास, तीनों मिलकर काव्यक्रिया के हेतु होते हैं—

"अभेदाश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः।"

अर्थात् जन्मजात प्रतिभा, निर्मल शास्त्र तथा बढ़ा-चढ़ा अभ्यास काव्यसम्पत्ति का कारण है। प्रतिभा के अभाव में निम्नकोटि की रचना होती है। प्रतिभा अभ्यास से और निखरती है। कहा भी जाता है 'अनाभ्यासे विषं विद्या।' दण्डी शास्त्र और अभ्यास के अभाव में कवित्व की सम्भावना से इन्कार करते हैं।

काव्यहेतुओं को नूतन परिधान में सुसज्जित करने का काम रीतिवादी आचार्य वामन ने किया। काव्यहेतु के लिए उन्होंने 'काव्यांग' शब्द का प्रयोग किया है—

"लोको विद्याप्रकीर्णस्य काव्यांगानि"

लोक का अर्थ वामन की दृष्टि में हैं—लोकव्यवहार। विद्यास्मृति, शब्दशास्त्र, अभिधानकोष, छन्दोविचिति, कलाशास्त्र, दण्डनीति, राजनीति तथा इतिहास आदि विधाओं में सम्बद्ध है। प्रकीर्ण वामन छः प्रकारों में विभक्त करते हैं—लक्ष्य, तत्व (ज्ञान), अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिभान। लोकज्ञान और शास्त्र सब व्युत्पत्ति में समाहित हो जाता है जबकि अभियोग अवशेष आदि अभ्यास के अन्तर्गत है और प्रतिभान तो प्रतिभा है ही। हाँ, यह अवश्य है कि प्रतिभा को प्रकीर्ण में रखकर वामन ने प्रतिभा को निम्न स्थान दिया है।

रुद्रट ने प्रतिभा के दो भेद कर दिये हैं—"सहजोत्पाद्या सा द्विधा भवति" अर्थात् सहजा और उत्पाद्या। सहजा जहाँ इश्वरीय शक्ति है, वहीं उत्पाद्या शास्त्रलोकानुभव तथा सत्संग से प्राप्त है। रुद्रट की दृष्टि में प्रतिभा से कवि शब्दों एवं अर्थ के अवलोकन की क्षमता प्राप्त करता है, व्युत्पत्ति से इसे दोषों से मुक्त और अलंकारादि काव्यतत्वों से समृद्ध करता है और अभ्यास से रचना को निखारता है।

आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः काव्यहेतुओं पर विचार नहीं किया फिर भी ध्वन्यालोक में प्रसंगवश कहा है कि व्युत्पत्ति की कमी की शक्ति ढँक लेती है। उनके मतानुसार शक्ति और व्युत्पत्ति, दोनों काव्यहेतु में अपेक्षित हैं पर शक्ति का महत्व अपेक्षाकृत अधिक हैं।

राजशेखर ने काव्यहेतुओं पर विशद विवेचन किया है और एक मौलिक उद्‌भावना यह की है कि शक्ति और प्रतिभा में भेद कर दिया है। शक्ति व्यापक है जबकि प्रतिभा काव्य है। स्मृति, गीत, और प्रज्ञा बुद्धि के इन तीन भेदों को केन्द्र में रखते हुए कवि की दो कोटियाँ की हैं—१. बुद्धिमान, २. आहार्य बुद्धि। राजशेखर की दृष्टि में शक्ति ही काव्य का हेतु है। प्रतिभा, व्युत्पत्ति द्वारा शक्ति में वृद्धि होती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि शक्ति कर्ता है और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति कर्म है।

"प्रतिभा व्युत्पत्तिमाश्च कविः कविरित्युच्यते"

मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में काव्यहेतुओं पर विचार करते हुए लिखा—

"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्‌भवे॥"

प्रतिभा को मम्मट ने शक्ति कहा, उसे कवित्व का बीजरूप माना है। केशव मिश्र ने भी प्रतिभा को काव्य का प्रमुख कारण माना है। व्युत्पत्ति कविता का विभूषण है और अभ्यास प्रतिभा के संस्कार में कारण।

वाग्भट्ट प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते हैं, व्युत्पत्ति और अभ्यास को संस्कारकारक।

जयदेव ने बहुत ही आलंकारिक रूप में काव्य-हेतु को स्पष्ट किया है—

"प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्ध बीजोत्पत्तिर्लतामिव॥"

अर्थात् प्रतिभा रूप बीज को अंकुरित करने के लिए ज्ञान और अभ्यास मिट्टी और जल के सदृश है। हेमचन्द काव्यानुशासन में प्रतिभा को काव्य का हेतु और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को उपकारक मानते हैं—

"प्रतिभैवं च कवीनां काव्यकारणम्।
व्युत्पत्यभ्यासौ तस्या एवं संस्कार कारकौ न तु काव्यहेतु।"

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी प्रतिभा को काव्य का हेतु माना है।

गोस्वामी तुलसीदास जब कहते हैं कि—

"स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबद्धमतिमंजुलमातनोति।"

तो स्वान्तः शब्द प्रतिभा, सहजज्ञान या आत्मानुभूति का ही परिचायक बन जाता है। भाषानिबद्ध करने में शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है जो व्युत्पत्ति-द्योतक है और रचना का मंजुल होना सीधे उसे अभ्यास से जोड़ता है। इस प्रकार स्पष्ट काव्यहेतु का

उल्लेख न करते हुए भी उन्होंने उसका संकेत दे दिया है। आलोचक नन्ददुलारे बाजपेयी के शब्दों में—"काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है। यह अनुभूति स्वतः एक अनुभूत तथ्य है।" यहाँ भी आत्मानुभव प्रतिभा काव्यहेतु बनकर उपस्थित होता है। गुलाब राय आत्मविस्तार को काव्य का प्रेरक मानते हैं—'भारतीय दृष्टि में आत्मा का अर्थ संकुचित व्यक्तित्व नहीं है। विस्तार में ही आत्मा की पूर्णता है। ये सभी हृदय के ओज को उद्दीप्त कर काव्य के प्रेरक बन जाते हैं।"

काव्य की प्रेरिक वृत्तियाँ काव्य का हेतु हैं, इस दृष्टि से देखें तो आत्माभिव्यक्ति, सौन्दर्य के प्रति आकर्षण और कौतुक—इन तीन वृत्तियों को काव्यप्रेरक मान सकते हैं। आत्मानुभूति या परानुभूति को शब्दबद्ध करने की विह्वलता कवि को काव्यरचना में प्रेरित करती है। इस प्रकार हम काव्य के तीन कारणों को रेखांकित कर सकते हैं—

१—प्रेरक काव्य—कवि की सामाजिक, पारिवारिक या वैयक्तिक परिस्थितियाँ तथा उसकी अपनी प्रकृति उसे काव्यरचना की प्रेरणा देती है। निराला की 'तोड़ती पत्थर', 'भिक्षुक', 'सरोज स्मृति', जयशंकर प्रसाद की 'आँसू' जैसी कृतियाँ इसी कोटि में आती हैं।

२—निमित्त कारण—कवि में प्रतिभा है, वह उसकी उर्वर-कल्पना, सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति, संवेदनशीलता, शब्द और अर्थतत्व की सूक्ष्म परख स्वतः अभिव्यंजनशीलता के उन्मेष के रूप में देखी जा सकती है। 'कामायनी', 'राम की शक्तिपूजा', 'उर्वशी' जैसी कृतियाँ प्रतिभा के इसी रूप की परिचायक हैं।

३—उपादान कारण—लोकशास्त्र-ज्ञान, सत्संग, श्रवण, मनन, अभ्यास, के रूप में यह कारण काम करते हैं और काव्यरचना के सम्यक् विकास के लिए आवश्यक पृष्ठ-भूमि तैयार करते हैं।

आज का कवि अपने आसपास के परिवेश को ही उजागर करके अपनी कवि प्रतिभा का परिचय दे रहा है। जिस परिवेश में वह साँस ले रहा है वह परिवेश ही उसकी कविता की उर्वर जमीन है। हाँ, यह सच है कि प्रतिभा न हो तो नयी-नयी भावनाओं का जागरण कैसे हो ? नवीन अर्थ की परिकल्पना, शब्द योजना, सब प्रतिभा का ही विकास है अन्यथा काव्यसंसार का उपमान चन्द्रमा-सूरज सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के यहाँ इतना बेमानी न हो जाता कि—

अक्सर चाँद जेब में
पड़ा हुआ मिलता है
सूरज को गिलहरी
पेड़ पर बैठी खाती है
अक्सर दुनिया
मटर का दाना हो जाती है।

जैसे हर चीज अपनी परिभाषा बदलती जा रही है, कविता के मूल्यों में भी यह बदलाव आया है। बदलते हुए यही मूल्य कविता को एक ठोस जमीन देते जा रहे हैं। कहना न होगा कि यह काव्यमूल्य ही काव्यहेतु हैं और इन काव्यमूल्यों में भविष्य का धुंधलापन दर्शा कर पाठक को जागृत करना, संभावनाओं में जीने की शक्ति देना ही काव्य का प्रयोजन है।

रस : स्वरूप, अवयव तथा भेद

भारतीय चिन्तन पूर्णतया आध्यात्मिक है—'रसो वै सः' की अवधारणा भी इसी का परिणाम है। हमारे यहाँ काव्यानन्द, ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है। यह सच है कि ब्रह्मानन्द जहाँ स्थायी एवं नित्य है वहीं काव्यानन्द क्षणस्थायी व अनित्य है तथापि जो साधना ब्रह्मानन्द की अनुभूति के लिए आवश्यक है वह काव्य के लिए भी। और यह काव्यानन्द रस का पर्याय है। वेदों में रस वाक्, उदक और अन्न के रूप में वर्णित है। जबकि उपनिषदों में आनन्दस्वरूप ब्रह्म को रस की संज्ञा दी गयी है। रसों को अथर्ववेद से उत्पन्न माना गया है—

"पाठ्यं जग्राह ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।"

लेकिन सामवेद की वह ऋचाएँ जिन्हें गाकर देवताओं का आह्वान किया जाता था, यजुर्वेद का वह अभिनय तत्व जिस रूप में यज्ञवेदी की परिकल्पना की जाती थी, वह सारा कुछ रसहीन था? और ऋग्वेद की पाठविधि-उदात्त, अनुदात्त, स्वरित के माध्यम से लय का आरोह-अवरोह, वह भी तो रस से विच्छिन्न नहीं? हाँ, साहित्यशास्त्र के सन्दर्भ में रस का सर्वांगीण विवेचन भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में ही मिलता है—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"

अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' दो शब्दों की व्याख्या में रस का निरूपण हुआ है।

भट्टलोल्लट की दृष्टि में 'संयोग' का अर्थ कारण-कार्य-सम्बन्ध है जबकि निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है। उनके मत में विभाव, अनुभाव, संचारी के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है। अतः यह मत उत्पत्तिवाद कहलाता है। मीमांसक भट्टलोल्लट की दृष्टि में जिस प्रकार यज्ञादि का फल पुरोहित के माध्यम से यजमान को प्राप्त होता है उसी प्रकार अभिनेता के माध्यम से दर्शकों को रस की प्रतीति होती है।

शंकुक का मत न्यायशास्त्र पर आधारित है। अभिनेता के अनुकरण से नायक आदि के स्थायीभाव का अनुमान सामाजिक करते हैं। इनका सिद्धान्त अनुमितिवाद के

नाम से प्रसिद्ध है। अनुमान भी एक प्रकार का ज्ञान है, जैसे उठते हुए धुँए को देखकर आग का अनुमान किया जाता है वैसे ही अनुकर्त्ता के अभिनय से अनुकार्य के भावों का अनुमान लगाया जाता है।

भट्टनायक ने यहाँ बड़ा स्वाभाविक-सा सवाल उठाया है कि धुंए से अग्नि का अनुमान तो लगाया जा सकता है लेकिन अग्नि की गर्मी का अनुभव नहीं होता। अनुमान बुद्धि का विषय है जबकि रस का सम्बन्ध अनुभूति से है। अतः सांख्यसम्मत अपना मत भट्टनायक ने दिया कि रस अनुमेय नहीं बल्कि भोज्य है—संयोग का तात्पर्य भोज्य-भोजक-भाव है और निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति है। वास्तव में रस का भोक्ता सामाजिक है। यह मत भुक्तिवाद कहलाता है। भट्टनायक की सबसे बड़ी उपलब्धि रही है कि इन्होंने सामाजिक को लाकर पहली बार साधारणीकरण का विवेचन किया जो काव्य का प्रमुख तत्त्व है।

रससूत्र के अन्तिम व्याख्याता अभिनव गुप्त ध्वनिवादी आचार्य हैं। इन्होंने संयोग का अर्थ आस्वाद्य-आस्वादन-भाव और निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति बताया। जैसे मिट्टी के भीतर की गंध पानी बरसने पर फूट पड़ती है उसी प्रकार मानव-मन की वासना अभिनय में अभिव्यक्त होती है। अतः सहृदय के मन में रस अभिव्यक्त होता है, यह मत अभिव्यक्तिवाद कहा जाता है।

बाद के आचार्यों—जैसे मम्मट, बिश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ के मत प्रायः भट्टनायक अथवा अभिनव गुप्त के मतों पर आधारित हैं। आचार्य दण्डी के मत में रस काव्य की चरम परिणति है—

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यापि रसस्थितः।
येनमाद्यान्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥

रीतिवादी आचार्य वामन की दृष्टि में रस की दीप्ति रीति की शोभा में योगदान करती है। आचार्य विश्वनाथ काव्य की परिभाषा ही 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहकर देते हैं। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने शास्त्र विवेचन भूलकर नव रसों का साधारण परिचय कराना ही अपना लक्ष्य समझा। आचार्य केशवदास ने 'रसिकप्रिया' में रसराज शृंगार को बताया—

नवहु रस को भाव बहु तिनके भिन्न विचार
सबको केशवदास हरि नाइक है शृंगार।

प्रायः सभी आचार्यों की दृष्टि में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव द्वारा रस व्यञ्जित होता है। चिन्तामणि के विचारों पर मम्मट व विश्वनाथ का प्रभाव है। हाँ, साधारणीकरण की समस्या पर विवेचन है और वे मानते हैं कि अलौकिक व्यंजना-व्यापार द्वारा

उन विभावों, अनुभावों और संचारियों का साधारणीकरण हो जाता है तथा पाठक अथवा सामाजिक का हृदयगत स्थायी भाव भी रस रूप में परिणत हो जाता है। सच तो यह है कि रसाभिव्यक्ति, साधारणीकरण रसास्वाद जैसे विषयों पर चिन्तन करने की इन रीतिवादी आचार्यों ने न आवश्यकता समझी और न ही राजदरबार के परिवेश में उन्हें इसका अवसर ही मिला। धीरे-धीरे चमत्कार लोकोत्तर जैसे शब्द स्थूल अर्थ में प्रयुक्त होने लगे और कालान्तर में अर्थविकृति के साथ ही काव्यमूल्य भी विकृत होने लगे।

रस आधुनिक साहित्यशास्त्र का भी एक विवेचनीय विषय बना रहा। महावीर-प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में जहाँ "रस ही कविता का सबसे बड़ा गुण है।" वहीं मैथिलीशरण गुप्त भी रस को काव्य का नित्य गुण मानते हैं। 'भारत-भारती' की ये पंक्तियाँ रस के इस आत्मस्वरूप का ही उद्घाटन करती हैं—

'मृत जाति को कवि ही जिलाते
रस सुधा के योग से।'

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रस-सिद्धान्त को एक सार्वभौम साहित्य सिद्धान्त के रूप में विकसित करने की कल्पना की और कहा—"हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।"

रस की स्थिति कवि और सहृदय, दोनों समान रूप से मान्य है। कवि के काव्य में रस न होता तो सहृदय के हृदय में स्थित गुप्त रस जाग्रत नहीं होता और इसी तरह हृदय में रस का अभाव हो तो कवि का संवेद्य ही निष्फल हो जायगा, क्योंकि कविता हृदय से हृदय तक की यात्रा है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। नयी कविता के सन्दर्भ में रस की समस्या सबसे पहले उठायी गयी और इसका कारण यह था कि नई कविता सहज संप्रेषकीय नहीं होती जो रस का एकमात्र लक्ष्य है। क्षणांश की अनुभूति, वैयक्तिक जीवन की उपेक्षा, बौद्धिकता, भावुकता का अभाव आदि नयी कविता की विशेषताएँ हैं जो रसवाद के विरोध में जाती है। आनंदोपलब्धि भले ही अनिवार्य न हो किन्तु नयी कविता का भी लक्ष्य है और रस का भी। संवेदना मानव चेतना का ही वरदान रूप में प्राप्त है जो रस की चरम सिद्धि है। डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित की मान्यता है कि—"यदि किसी रचना में अनुभूति की सचाई है, अभिव्यक्ति की विशदता है, व्यंजना की शक्ति है और प्रतीकों में भावविस्तार की सामर्थ्य है तो वह कविता है और वह रसवादी के द्वारा भी तिरस्कार्य नहीं होगी।"

रस सिद्धान्त का आधार मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक है। रस जीवन का पर्याय है, रस का निषेध जीवन का निषेध है जो एक असम्भव कल्पना है।

रस के अवयव

विभाव, अनुभाव व्यभिचारी अथवा संचारी भाव, स्थायी भाव से पुष्ट होकर ही रस का पूर्ण परिपाक होता है। इसलिए ये तत्त्व रस के अवयव कहे जाते हैं। जिस प्रकार शरीर में सभी अवयवों का अलग-अलग महत्त्व होता है और उनका संघटन ही समग्र शरीर का पर्याय बनता है, ठीक उसी प्रकार रस के भी समस्त अवयव संघटित होकर किसी भाव को रसदशा तक पहुँचाते हैं।

विभाव

काव्य अथवा नाटक में स्थायी भावों का उद्रेक करनेवाले तत्त्वों को विभाव की संज्ञा दी जाती है। ये दो प्रकार के हैं—आलम्बन और उद्दीपन—

"उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।
आलम्बनस्य चेष्टाया देशकालादयस्तथा ॥"

आलम्बन विभाव में आलम्बन और आश्रय दोनों आते हैं। रस के उद्रेक के जो आलम्बन हैं वह आलम्बन विभाव के अन्तर्गत आते हैं और जिसमें रस का उद्रेक होता है वह आश्रय कहलाता है। उदाहरणार्थ, दुष्यंत को देखकर शकुन्तला के मन में रति नामक स्थायी भाव का उद्रेक हुआ। यहाँ दुष्यन्त आलम्बन, शकुन्तला आश्रय है। गोस्वामी तुलसीदास की इन पंक्तियों में—

राम को रूप निहारति जानकी
कंकन के नग की परछायीं
याते जब सुधि भूलि गई
कर टेकि रही पल टारत नाहीं।

सीता आश्रय है और राम आलम्बन। मर्यादा का निर्वाह करते हुए तुलसीदास राम की उस परछाई से जो कि सीता के कंकन के नग में प्रतिबिम्बित है, स्थायी भाव रति का उद्रेक दिखाया है। स्थायी भाव की भिन्नता से आश्रय और आलम्बन भी अलग-अलग प्रकार के हैं।

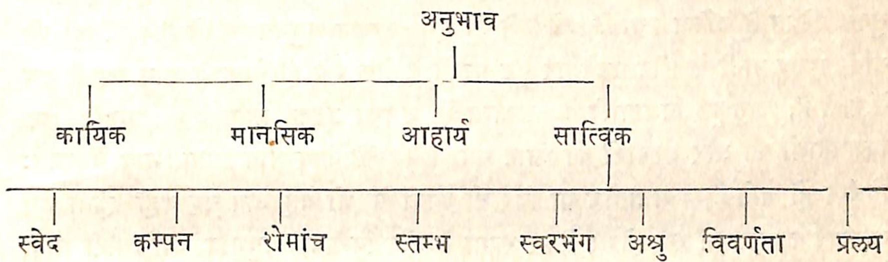
उद्दीपन का अभिप्राय है उद्दीप्त करना अर्थात् बढ़ाना। जो रस को उद्दीप्त करे, उसकी आस्वाद-योग्यता बढ़ाये, वही उद्दीपन है। उदाहरण के लिए शृंगार रस में, चन्द्रिका, एकान्त पूर्णिमा की रात्रि, कमल, मलयानिल आदि कभी संयोग को तो कभी वियोग को उद्दीप्त करते हैं। उद्दीपन के वे सारे तत्त्व जो संयोग में सुखद लगते हैं, वियोग की अवस्था में दुःखद हो जाते हैं। जो शीतल समीर संयोग में प्रेम को और गहराई देता है, वियोग में प्रसाद की दृष्टि में वही कितना घातक है—

शीतल समीर आता है
कर पावन परस तुम्हारे
मैं सिहर उठा करता हूँ
बरसा कर आँसू धारा ।

उद्दीपन भी भावाश्रित है, मसलन अगर वीर रस का प्रसंग हो तो रणभेरी का स्वर, धनुष की टंकार, तलवारों की झनझनाहट, रणस्थल—ये सारा कुछ उद्दीपन का काम करेगा ।

अनुभाव

अनुभाव अर्थात् भाव का अनुगमन करनेवाला तत्त्व अर्थात् जिन कार्यों से भाव का अनुभव होता है वे अनुभाव कहे जाते हैं । आचार्य विश्वनाथ की दृष्टि में—"आलम्बन, उद्दीपन आदि कारणों से उत्पन्न काव्यनाटक के अन्तर्गत विभिन्न भावों को बाहर प्रकाशित करनेवाले कार्य अनुभाव हैं । अनुभावों की संख्या चार मानी गयी है—



शारीरिक क्रियाओं द्वारा अन्तःकरण के भावों की सूचना देनेवाले भाव कायिक हैं । अन्तःकरण की वृत्ति से उत्पन्न होनेवाले विवेक, प्रमोद, खिन्नता आदि मानसिक अनुभाव हैं । कृत्रिम वेष-विन्यास में आहार्य अनुभाव होता है जबकि शरीर की स्वाभाविक अंग विकृति के जाग्रत होने को सात्विक अनुभाव की श्रेणी में रखा जाता है । क्रोध,हर्ष, लज्जा, दुःख में स्वेद आना, शीत, भय, क्रोध में कम्पन होना, हर्ष, स्पर्श आदि से शरीर का पुलकित अर्थात् रोमांचित होना, विस्मय, विषाद, भय की स्थिति से अंग का स्तम्भित हो जाना, भय, क्रोध, वृद्धावस्था, मद की स्थिति में स्वर का गदगद् होना अथवा बदल जाना, आनन्द, शोक, अमर्ष में आँसू गिरना, मोह, क्रोध, ताप आदि में मुख विवर्ण होना और मूर्च्छा, निद्रा, मोह आदि से निष्चेष्ट हो जाना—ये आठ सात्विक अनुभाव कहे जाते हैं ।

व्यभिचारी अथवा संचारी भाव

स्थायी भावों के मध्य कुछ भाव प्रकट होते हैं जो क्षणजीवी होते हैं अर्थात् कुछ क्षण पश्चात् विलीन हो जाते हैं । इनका आविर्भाव और तिरोभाव दोनों ही मस्तिष्क

में होता रहता है। ये स्थायी भाव के कारण हैं तथा सभी रसों में संचरण करते हैं। ये रस निष्पत्ति में सहायक होते हैं। इनकी संख्या तैंतीस मानी गयी है—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, श्रुति, व्रीड़ा (लज्जा), चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, त्रास, वितर्क और मरण।

संचारी भावों द्वारा चित्तवृत्तियों की अभिव्यंजना होती है। इन तैंतीस के अतिरिक्त—उद्वेग, मात्सर्य, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कण्ठा जैसे संचारी भाव भी कुछ विद्वानों ने माने किन्तु ये उक्त तैंतीस में समाहित हो जाते हैं। कवि देव ने 'छल' को चौतीसवाँ संचारी भाव कहा था जो मान्य नहीं हुआ।

स्थायी भाव

जो भाव चिरकाल तक चित्त में स्थिर रहते है और आलम्बन, उद्दीपन, अनुभावों के संयोग से रस को उद्बुद्ध करते हैं उन्हें स्थायी भाव की संज्ञा दी जाती है। फूलों में सुगन्ध स्थित है लेकिन हवा के झोंके से ही हम उसका अनुभव करते हैं। मिट्टी की सोंधी खुशबू पानी के छींटे पड़ने पर फूट पड़ती है,ठीक वैसे ही चित्त में भाव स्थायी रूप से रहते हैं, अनुकूल विभावादि के सम्बन्ध से उनका उद्रेक होता है। इसकी कुछ विशेषताओं की ओर आचार्यों का ध्यान गया है। जैसे अन्य भाव स्थायी भाव में स्वतः विलीन हो जाते हैं, सजातीय या विरोधी भावों से भी यह भाव नष्ट नहीं होता है। आस्वाद का मूलभूत रूप होकर स्थिर रहता है और विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होकर रस का परिपाक करता है। स्थायी भावों के आधार पर ही रसों के भेद किये गये हैं। आचार्यों ने इनकी संख्या नौ मानी है—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, घृणा, आश्चर्य और निर्वेद।

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्यमष्टा प्रोक्ता शमोऽपि च॥

इन नौ स्थायी भावों के आधार पर रसों की संख्या भी नौ निर्धारित की गयी किन्तु आचार्यों ने वात्सल्य तथा 'भक्ति' दो रस और माने। वात्सल्य रस के लिए वत्सलता—स्थायी भाव प्रस्तावित हुआ। किन्तु कालान्तर में इसका अन्तर्भाव रति में हो गया। ऐसे ही भाषित रस का स्थायी भाव भी निर्वेद स्वीकारा गया। अतएव रसों की संख्या ग्यारह होने पर भी स्थायी भावों की संख्या नौ ही है।

रस के भेद

आचार्य भरत मुनि ने नाटकीय महत्त्व को ध्यान में रखते हुए रसों की संख्या आठ बतायी थीं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स एवं अद्‌भुत।

आचार्य मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ ने रसों की संख्या नौ मानी है। इसमें इन्होंने शान्त रस को भी जोड़ दिया है, किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य को दसवाँ रस माना है। भोज ने अपने 'शृंगारप्रकाश' में साहित्यदर्पणकार का ही अनुगमन किया है—

शृंगार-वीर-करुणाद्भुत-हास्यरौद्र
वीभत्स-वत्सल-भयानक-शान्त-नाम्नः।
आम्नासिसुर्दश रसान् सुधियो वदन्ति
शृंगारमेव रसानाद्रव्यमामनाम ॥

कालान्तर में गौडी सम्प्रदाय के प्रतिष्ठत आचार्य रूपगोस्वामी ने मधुर नामक ग्यारहवें रस की स्थापना की जिसे भक्ति रस के रूप में स्वीकृति मिली। इस प्रकार कुल मिलाकर ग्यारह रस माने गये।

शृंगार रस

शृंगार को रसराज कहा गया है। शृंगार रस एकमात्र ऐसा रस है जिसमें अन्य रसों के संचारी भाव भी समाहित हो जाते हैं। संस्कृत का अधिकांश साहित्य शृंगार-रस-प्रधान है और हिन्दी साहित्य में तो दो सौ वर्षों में विस्तृत रीतिकाव्य शृंगारकाल के नाम से ही जाना जाता है। शृंगार रस का वर्ण श्याम तथा देवता विष्णु माने गये हैं।

सहृदय में रति नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग होता है तो वह शृंगार रस का रूप ग्रहण करता है। आलम्बन नायक-नायिका है, उद्दीपन ऋतु सौन्दर्य आदि। इसके दो भेद हैं—संयोग-शृंगार और विप्रलम्भ अथवा वियोग-शृंगार।

संयोग-शृंगार

नायक-नायिका के संयोग का चित्रण जहाँ हो, संयोग-शृंगार की पुष्टि होती है, उदाहरणार्थ—

एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।

स्थायी भाव—रति
आलम्बन—नायिका
आश्रय—नायक

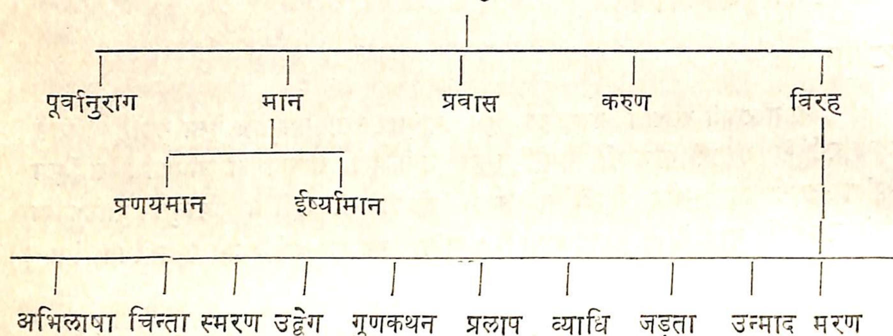
उद्दीपन—नायिका के दृग-पलकों का उठना, गिरना

संचारी भाव—चपलता, लज्जा

अतः उपर्युक्त उदाहरण में संयोग-शृंगार का पूर्ण परिपाक हुआ है।

विप्रलम्भ या वियोग-शृंगार

विरह को प्रेम की कसौटी माना गया है। इसमें रति नामक स्थायी भाव स्वप्न, चित्र, श्रवण आदि से प्रकट होता है और संयोग के अभाव में तीव्रतर होता जाता है। वियोग-शृंगार की झलक मान, प्रवास आदि विभिन्न दशाओं में प्रकट होती है। इसकी पाँच स्थितियाँ हैं—पूर्वानुराग, मान, प्रवास, करुण और विरह।



अभिलाषा चिन्ता स्मरण उद्वेग गुणकथन प्रलाप व्याधि जड़ता उन्माद मरण

संयोग की अवस्था में सुखप्रदायी समस्त वस्तुएँ वियोग में दुःख देती हैं। यह वियोग ही है जिसमें चन्द्रमा भी अग्नि बरसाता है और काली रात नागिन बन जाती है। जैसे—

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ।
दूर तुमसे हूँ अखंड सुहागिनी भी हूँ।

स्थायी भाव—रति

आश्रय—नायिका

आलम्बन—नायक

उद्दीपन—बादल, फूल, शलभ

अनुभाव—अश्रुपात, प्रलाप

संचारी भाव—विषाद, चिन्ता, दैन्य

हास्य रस

कविता का एक उद्देश्य मनोरंजन करना भी है। विकृत आकृति, विचित्र वेशभूषा अथवा बेतुकी वाणी बोलनेवाले व्यक्ति को अथवा उसके क्रिया-कलाप को देख कर मन में हास्य की स्थिति जन्म लेती है। भरत मुनि ने तो हास्य की उत्पत्ति शृंगार से ही मानी है—'शृंगाराद्धिभवेद्हास्यः' इसका सम्बन्ध मानसिक क्रिया से है। एक कविता का अनुकरण अर्थात् पैरोडी का रूप भी है, जो हास्य के अन्तर्गत रखा जाता है। हास्य रस के देवता प्रमथ्य (शंकर के गण) माने गये हैं और वर्ण श्वेत है। हास्य के भेद में—स्वनिष्ठ, परनिष्ठ तथा स्मित, हसित, विहसित, अवहसित तथा अतिहसित माने गये हैं। उदाहरणार्थ

"हँसि हँसि भाजै देखि दुल्लह दिगम्बर को,
पाहुनि जे आवै हिमाचल उछाह में।
कहै 'पद्माकर' सु काहू सों कहैं को कहा
ओई जहाँ देखै सो हँसेई तहाँ राह में।
मगन भयेई हँसै नगन महेस ठाढ़े
और हँसे एऊ हंसि हँसी के उमाह में।
सीस पर गंगा हँसै भुजनि भुजंगा हँसैं
हास ही को दंगा भयो नंगा के विवाह में॥"

स्थायी भाव—हास
आलम्बन—दिगम्बर शंकर
उद्दीपन—विचित्र वेशभूषा
अनुभाव—भागना, हँसना, खड़ा रह जाना
संचारी भाव—हर्ष, भय, चपलता
पेरोडी के सन्दर्भ में एक उदाहरण द्रष्टव्य है—
घन घमण्ड नभ गरजत घोरा।
टकाहीन कलपत मन मोरा।
दामिनि दमकि रही घन माहीं।
जिमि लीडर की मति थिर नाहीं।

करुण रस

हृदय को स्पर्श करने में करुण रस अत्यन्त प्रभावशाली है। भवभूति तो करुण रस को ही एकमात्र रस स्वीकारते हैं—'एको रसः करुण एवं निमित्तभेदात्' अर्थात्

निमित्त-भेद से (सभी रस) एकमात्र करुण रस है। प्रिय व्यक्ति अथवा वस्तु का अनिष्ट विनाश है। इस रस के देवता यम हैं और वर्ण कपोतवत् है। शोक नामक स्थायी भाव विभाव, अनुभाव, संचारी भाव से पुष्ट होकर करुण रस का आविर्भाव होता है।

"दाने-दाने तरस गयीं अगणित आँखें
दो बूंद दूध के लिए ललक
हिचकी लेकर हो गये मौन
माताओं की छाती विदीर्ण, अवरुद्ध कंठ रह गयी कलख
बे-बरसे बिखर गये कितनी साधों के घन
कृमि कीट सदृश
फुटपाथों पर
मनु की प्यारी संतान मिट गयी बिलख-बिलख"

स्थायी भाव—शोक
आलम्बन—निर्धन मनुष्य
उद्दीपन—गरीबी, बेबसी
अनुभाव—रोना, कलखना, हिचकी लेना
संचारी भाव—चिन्ता, विषाद

रौद्र रस

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। शत्रु, विपक्षी, अविनीत के कार्यों, चेष्टाओं, असाधारण अपराध, अपमान, अपकार, गुरुजनों की निन्दा के कारण उत्पन्न क्रोध से रौद्र रस का संचार होता है। उसके देवता रुद्र है और वर्ण लाल है।

"संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े
करते हुए यह घोषणा, वे हो गये उठकर खड़े
उस काल मारे क्रोध के तन काँपने उनका लगा
मानो हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा।"

स्थायी भाव—क्रोध
आलम्बन—जयद्रथ
उद्दीपन—श्रीकृष्ण के वचन
अनुभाव—क्रोधपूर्ण घोषणा, शरीर काँपना
संचारी भाव—आवेग, चपलता, श्रम, उग्रता

वीर रस

हिन्दी साहित्य का आरम्भिक-काल वीरगाथा-काल है। रीतिकाल जो शृंगार-काल है, उसके समानान्तर भी वीररसात्मक काव्यधारा प्रवाहित हो रही थी। मानसिक वृत्तियों में इसका सम्बन्ध युयुत्सा से माना जा सकता है। शत्रु, उसका ऐश्वर्य, साहसिक कार्य, यश इसका आलम्बन है। इस रस का देवता महेन्द्र माना गया हैं और इसका वर्ण स्वर्ण के सदृश है। वीर रस के चार भेद माने गये हैं—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर।

भूषण की एक रचना में वीर रस के इन चारों अंगों का सुन्दर समन्वय है—

"दान समै द्विज देखि मोहु कुबेरहु की
सम्पति लुटाइबे को हियो ललकत है॥
साहि के सपूत सिवसाहि के बदन पर
शिव के कथान में सनेह झलकत है॥
भूषण जहान हिन्दुवान के उबारिबे को
तुरकान मारिबे को वीर बलकत है॥
साहिन सो लरिबे की चरचा चलत आनि
सरजा के दृगनि उछाह झलकत है॥"

उपर्युक्त रचना में प्रथम दो पंक्तियों में दानवीर, द्वितीय दो पंक्तियों में दयावीर, तृतीय दो पंक्तियों में धर्मवीर और अन्तिम दो पंक्तियों में युद्धवीर का वर्णन है।

स्थायी भाव—उत्साह
आलम्बन—शत्रु
उद्दीपन—शत्रु का पराक्रम, उत्पीड़न
अनुभाव—गर्वोक्ति, भुजाएँ फड़कना, रोमांच
संचारी भाव—धृति, गर्व, तर्क

भयानक रस

सहृदय में भय नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग हो जाता है तो भयानक रस का उदय होता है। भयप्रद वस्तु देखने-सुनने से अथवा प्रबल शत्रु के विद्रोह आदि से भय का संचार होता है। भयानक रस के देवता कालदेव हैं और वर्ण कृष्ण है। इसकी प्रवृत्ति संकोच की है।

"हाहाकार हुआ क्रन्दनमय कठिन वज्र होते थे चूर
हुए दिगन्त बधिर भीषण रव बार-बार होता था क्रूर।

दिग्दाहों से धूम उठे या जलचर उठे क्षितिज तट के
सघन गगन में भीम प्रकंपन झंझा के चलते झटके।"

स्थायी भाव—भय
आलम्बन—प्रलय
उद्दीपन—भयंकर बादल, झंझावात
अनुभाव—हाहाकार, क्रन्दन
संचारी भाव—त्रास, विकलता

वीभत्स रस

वीभत्स अर्थात् घृणा, रुधिर, मांस, दुर्गन्धमय वस्तुएँ, फूहड़पन आदि आलम्बन हैं। इसके देवता महाकाल हैं और वर्ण नीलवर्ण है। रुधिर, चरबी, हड्डी, पीब आदि घृणित वस्तुओं को देखने या सुनने से हृदय में जो ग्लानि उत्पन्न होती है उसी से वीभत्स रस का जन्म होता है।

"लोहू जमने से लोहित सावन की नीलम घासें
सरदी गरमी से सड़कर बजबजा रही थीं लाशें
आँखें निकाल उड़ जाते क्षणभर उड़कर आ जाते
शवजीभ खींचकर कौवे चुभला चुभलाकर खाते"

स्थायी भाव—जुगुप्सा अथवा ग्लानि
आलम्बन—घृणास्पद वस्तु अथवा दृश्य
उद्दीपन—लाश का सड़ना, बजबजाना, आँखें निकालकर खाना, जीभ खींचना आदि
अनुभाव—मुँह मोड़ना, रोमांचित होना
संचारी भाव—आवेग, मूर्च्छा, व्याधि

अद्भुत रस

अलौकिक, आश्चर्यजनक वस्तु को देखकर सहसा विश्वास नहीं होता और विस्मय जैसा भाव हृदय में उत्पन्न होता है। यही विस्मय विभाव, अनुभाव से पुष्ट होकर अद्भुत रस का सृजन करता है। इसके अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं। अलौकिक चरित्र, दृश्य आलम्बन हैं।

"अम्बर में कुन्तल जाल देख
पद के नीचे पाताल देख
मुट्ठी में तीनों काल देख
मेरा स्वरूप विकराल देख

सब जन्म मुझी से पाते हैं
फिर लौट मुझी में आते हैं।"

स्थायी भाव—विस्मय
आलम्बन—विराट् स्वरूप
उद्दीपन—विराट् के अद्‌भुत क्रियाकलाप
अनुभाव—आँखें फाड़कर देखना, स्तब्ध, अवाक् रह जाना
संचारी भाव—श्रम, औत्सुक्य, चिन्ता

शान्त रस

संसार और जीवन की नश्वरता का बोध चित्त में एक विशेष प्रकार का विराग उत्पन्न करता है और मनुष्य भौतिक तथा लौकिक वस्तुओं के प्रति उदासीन हो जाता है। इसी को निर्वेद कहते हैं जो विभाव, अनुभाव से पुष्ट होकर शान्त रस में परिगत होता है। इसके देवता विष्णु हैं और वर्ण कुन्द पुष्प अथवा चन्द्रमा सदृश शुक्ल वर्ण माना गया है। संसार की असारता सत्संग, तीर्थदर्शन से उद्दीप्त हो जाता है।

"इस धारा-सा ही जग का क्रम शाश्वत इस जीवन का उद्‌गम
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास
शाश्वत लघु लहरों का विलास।
है जग जीवन के कर्णधार, चिरजन्म मरण के आरपार
शाश्वत जीवन नौका-विहार"

स्थायी भाव—निर्वेद
आलम्बन—नश्वर लहरों के मूलस्रोत की
शाश्वत सत्ता का स्वीकार
उद्दीपन—नभ की अनन्त नीलिमा, चन्द्रमा का रजत हास, नौका-विहार
अनुभाव—रोमांच
संचारी भाव—श्रम, स्मृति, धृति, विबोध, मति आदि

वात्सल्य रस

संस्कृत के अधिकांश आचार्यों ने वात्सल्य रस को शृंगार के भीतर समाहित कर दिया। परन्तु भोज, भानुदत्त, आचार्य विश्वनाथ आदि इसे स्वतंत्र रस मानने के पक्ष में हैं। यहाँ तक कि मम्मट ने भी 'रतिदेवादिविषये' कहकर वात्सल्य रस की अलग से परिकल्पना नहीं की। साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने इसकी विस्तृत व्याख्या की है।

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।
स्थायी वत्सलता स्नेह पुत्राद्यालंबनं मतम् ॥

अर्थात् स्पष्ट चमत्कार के कारण वात्सल्य की रस रूप में प्रतिष्ठा होनी चाहिए। हिन्दी कवियों में सूरदास ने वात्सल्य रस को पूर्ण प्रतिष्ठा दी है।

"किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत,
मनिमय कनक नन्द के आँगन, बिम्ब पकरिबो धावत
कबहुँ निरखि हरि आप छाँह को कर सों पकरन चाहत
किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ पुनि पुनि तिहि अवगाहत ॥"

स्थायी भाव—वत्सलता
आलम्बन--कृष्ण की बालसुलभ चेष्टाएँ
उद्दीपन—किलकना, बिम्ब को पकड़ना
अनुभाव—रोमांचित होना, मुख चूमना
संचारी भाव—हर्ष, गर्व, चपलता, उत्सुकता

भक्ति रस

भक्ति रस को साहित्य में प्रतिष्ठा देने का श्रेय आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ को है। भानुदत्त ने भक्ति को अलौकिक रस के रूप में मान्यता दी है। भक्ति शान्त रस से भिन्न है। शान्त रस जहाँ निर्वेद या वैराग्य की ओर ले जाता है वहीं भक्ति ईश्वरविषयक रति का दूसरा नाम है। शान्त, प्रीति, प्रेय, वत्सल, और मधुर इसके पाँच भेद माने गये हैं। ईश्वर के प्रति भक्तिभावना स्थायी रूप में मानव संस्कार में प्रतिष्ठित है। इस दृष्टि से भी भक्ति रस मान्य है।

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।
साधुन सँग बैठि बैठि लोक-लाज खोई।
अब तो बात फैल गई जाने सब कोई ॥"

स्थायी भाव—ईश्वरविषयक अनुराग
आलम्बन—कृष्ण, परमेश्वर
उद्दीपन—कृष्णलीलाएँ, सत्संग
अनुभाव—रोमांच, अश्रु, प्रलय
संचारी भाव—हर्ष, गर्व, निर्वेद, औत्सुक्य

अलंकार का स्वरूप तथा प्रमुख अलंकार

अलंकार मानव की प्रकृति है। सुन्दर को सुन्दरतम बनाने वाली यह प्रवृत्ति मानव को ही नहीं, प्रकृति को भी मिली है। फिर कवि की तो बात ही कुछ और है, वह तो विरूपता में भी सौन्दर्य देख लेता है। अभिव्यक्ति को मनोरम बनाने के लिए रचनाकार हर संभव प्रयास करता है। सजाने की इसी प्रवृत्ति ने अलंकार को जन्म दिया है। आचार्य दण्डी ने इसीलिए काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म को अलंकार की संज्ञा दी है—

"काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।"

जिस प्रकार हारादि आभूषण कण्ठ के सौन्दर्यवर्धक होते हैं उसी प्रकार उपमा आदि अलंकार शब्द और अर्थ-रूप अंग के सौन्दर्यवर्धक हुआ करते हैं।

आचार्य वामन तो सौन्दर्य का पर्याय ही अलंकार को मानते हैं—

"सौन्दर्यमलंकारः"

"सदोष गुणालंकारहानादानाभ्याम्"

अर्थात् सौन्दर्य को अलंकार कहने तक ही वामन चुप नहीं रहते बल्कि कहते हैं कि वह सौन्दर्यरूप अलंकार दोषों के परित्याग और गुणों एवं अलंकारों के उपादान से होता है। अलंकार यहाँ भावात्मक अलंकृति है, न कि शाब्दिक चमत्कार। वामन का चिन्तन वस्तुतः एक ऐसे वैज्ञानिक का चिन्तन है जो वस्तु विश्लेषण आत्मनिरपेक्ष होकर करता है।

अध्यात्मवादी आचार्यों ने अलंकार को भी रस के सदृश ब्रह्मसंज्ञक बताया है। 'ब्रह्म' और 'अलं' पर्याय हैं। शब्द और अर्थ अभिन्न हैं। ब्रह्मा की सृष्टि में जो तत्त्व 'ब्रह्म' है, कवि की सृष्टि में 'अलं' है। अलंकारशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने अलंकारहीन काव्य के अस्तित्व को ही नकार दिया है—

"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।"

जयदेव ने तो यहाँ तक कह दिया है कि यदि कोई काव्य को अलंकाररहित मानता है तो अपने को पण्डित मानने वाला वह व्यक्ति अग्नि को उष्णतारहित क्यों नहीं मानता—

"अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥"

काव्य विवेचना के सन्दर्भ में चारुता, कमनीयता, सौन्दर्य, रमणीयता जैसे शब्दों में अलंकारों की कान्ति अभिव्यंजित होती है। अलंकारों को जीवनाधायक तत्त्व मानने

की अपेक्षा उत्कर्षाधायक तत्त्व मानना अधिक समीचीन होगा, जैसे कि आचार्य विश्वनाथ ने अलंकारों को परिभाषित किया है—

"शब्दार्थयोरस्थिरः ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥"

अर्थात् अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं, वह केयूर के समान अंग की शोभा बढ़ाने के लिए ही हैं । रसवादी आचार्य होने के नाते विश्वनाथ, मम्मट आदि अलंकारों को काव्य के आत्माभूत रस, ध्वनि के अभिव्यंजन में सहायक मानते हैं । काव्य के वाच्य-वाचक-रूप अंगों की शोभावर्धकता ही अलंकारों की उपयोगिता है, ऐसा मत आनंदवर्धन का है । कुन्तक भी अलंकार को नियत धर्म नहीं मानते । उनके मत में काव्य स्वयं अलंकृत होता ही है उन्हें काव्य में जोड़ा नहीं जाता—

"सालंकारस्य काव्यता"

डॉ वेंकट शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि—"भामह का युग अलंकार-विवेचन का किशोर काल था अतः उसमें अभीष्ट प्रौढ़ता की न्यूनता भी थी । उस विश्लेषण में वैज्ञानिक क्रमबद्धता का भी अनुसरण नहीं है जिसका एक प्रमाण तो यह है कि भामह अलंकार-विश्लेषण करते-करते दोष-विवेचन की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं जिनका तारतम्य अन्वेषित करने में कठिनाई उपस्थित होती है ।"

अलंकार रस के उपकारक ही नहीं हैं,रसाभिव्यक्ति में भी वह अनिवार्य माध्यम हैं । प्रातिभ कवियों की भाषा अलंकृत व सम्प्रेषणीय होती ही है । जिन रचनाओं में अलंकारों की स्थिति रस की अंतरंगवर्त्तिनी नहीं होती वहाँ सम्प्रेषण में बाधा होती है । अनेक संस्कृत कवियों व हिन्दी मध्ययुगीन कवियों की कृतियों में यह अलंकार-मोह स्पष्ट लक्षित होता है ।

रीतिकाल में अलंकार व्यापक अर्थ में काव्यशिल्प का पर्याय माना गया और सीमित अर्थ में उक्ति चमत्कार अथवा अभिव्यंजना शिल्प का । वह काव्य की आत्मा नहीं बन सका,महज एक देहवादी सिद्धान्त के रूप में काव्य के बाह्य पक्ष अथवा शिल्पपक्ष का समर्थक बना रहा । काव्यशास्त्रीय सभी उपादेय अंगों को अलंकार का नाम दिया गया। केशव के शब्दों में—

"अलंकार कवितान के सुनि सुनि बिविध विचार ।
कविप्रिया केशव करी, कविता को सिंगार ॥"

आधुनिक युग में अलंकारों का सायास प्रयोग धीरे-धीरे कम होने लगा । डॉ० कैलाश बाजपेयी के शब्दों में—"अलंकारों द्वारा कविता को बोझिल बनाने की जो प्रथा अब तक काव्य में एक फैशन की तरह व्याप्त हो गयी थी—आधुनिक युग के प्रथम

उत्थान में धीरे-धीरे कम हो चली। सूक्ति और चमत्कार से हटकर शुद्ध अनुभूति को कविता में स्थान मिला।'' मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में अलंकारों का प्रयोग स्वतः साध्य न होकर साधनरूप है। रीतियुगीन कविता की तरह अलंकार इस युग की कविता को आक्रान्त नहीं करते हैं—

"शशि खिसक गया निश्चिन्त हँसी हँस बोली''

जैसे प्रयोग सहज और सुन्दर कहे जा सकते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में—

"मैं अलंकार को केवल वर्णन-प्रणाली मात्र मानता हूँ जिसके अंतर्गत चाहे किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तुनिर्देश अलंकार का काम नहीं।'' श्यामसुन्दरदास का मत भी कुछ ऐसा ही है।

"अलंकार यथार्थ में वर्णन करने की एक शैली है, वर्णन का विषय नहीं।''

काव्य के अन्य उपादानों में परिवर्तन के साथ ही परम्परागत अलंकारिता के जर्जर ढाँचे को भी छायावाद ने नया सम्बल दिया। नये अप्रस्तुतों का प्रयोग, विविध अलंकारों का संगठन, नवीन उक्ति की ध्वनि, कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य में प्रयुक्त अलंकार ध्वनि अधिक है। सुमित्रानन्दन पन्त 'पल्लव' की भूमिका में लिखते हैं—

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आधार, व्यवहार, रीति, नीति हैं, पृथक् स्थिति के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।''

प्रगतिवादी कविता भी छायावाद की भाँति सादृश्य योजना का आधार लेती है। बेरोजगारी, भूख की समस्या ने जीवन के प्रति अनास्था और कुण्ठा को ही जन्म दिया। प्रयोगवाद का आविर्भाव इन्हीं प्रवृत्तियों के बीच हुआ है। तभी तो दुष्यन्त कुमार के यहाँ—

"दूध के कटोरे-सा चाँद उग आया''

नयी कविता में अलंकृति सायास नहीं है, अभिव्यक्ति की सहायिका है। लेकिन फिर भी अलंकारशास्त्र काव्य का एक मूल्य अवश्य है। कुछ प्रमुख अलंकार हैं जो आज की कविता में भी अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं—यह भी सच है कि अब वह 'भूषण भार' नहीं है जिन्हें सूधे पाँव सँभार न सके। वे शब्द का गुण बनकर आयें हैं और जैसे कविता शब्दहीन नहीं होती वैसे ये शब्द अलंकरणहीन नहीं होते—

अलंकार कभी शब्द में चमत्कार उत्पन्न होने पर होता है, कभी अर्थ में चमत्कृति आने पर और कभी दोनों में। इसी आधार पर अलंकारों के तीन रूप माने गये हैं—

शब्दालंकार

शब्दों के कारण कोई चमत्कार उपस्थित होता है और समानार्थी शब्द रख देने पर वह चमत्कार स्वतः समाप्त भी हो जाता है। इसके प्रमुख भेद—अनुप्रास, रूपक, वक्रोक्ति, श्लेष आदि हैं।

अर्थालंकार

अर्थालंकार में चमत्कार किसी शब्द-विशेष के कारण नहीं होता अतएव समानार्थी शब्द रख दिया जाता है तो भी अलंकार बना रहेगा क्योंकि वह शब्द में निहित न होकर अर्थगत होता है। यह चमत्कार जिन आधारों पर आधारित रहता है, वे हैं—साम्य, विरोध, श्रृंखला, न्याय, कारण-कार्य-सम्बन्ध, निषेध, गूढ़ार्थ-प्रतीति आदि। इन पर केन्द्रित अलंकार हैं—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, भ्रम, सन्देह, असंगति, विरोधाभास, कारणमाला, काव्यलिंग, तद्‌गुण, विभावना, अतिशयोक्ति, अपह्नुति, व्यतिरेक, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, सूक्ष्म आदि।

उभयालंकार

जहाँ दो अथवा दो से अधिक अलंकारों का मिश्रण होता है वहाँ उभयालंकार होता है। यह दो प्रकार का है—संसृष्टि और संकर।

अलंकार परिचय

यमक अलंकार

यमक का अभिप्रायः 'दो' से है। भिन्न अर्थ वाले अथवा निरर्थक वर्ग समुदाय की आवृत्ति यमक अलंकार कहलाता है। यहाँ अर्थ का विचार नहीं होता। कवि का ध्यान विशेष ढंग से वर्णों के विन्यास पर होता है जिससे उसकी आवृत्ति प्रतीत हो। अतः यह अलंकार शब्दाश्रित है, अर्थाश्रित नहीं। यदि यमक के दोनों पद सार्थक हैं तो दोनों को भिन्न-भिन्न अर्थ वाला होना चाहिए। और यदि निरर्थक वर्णों की आवृत्ति है तो भी अर्थ पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता है।

"केकी-रव की नूपुर ध्वनि सुन
जगती जगती की मूक प्यास।"

महादेवी वर्मा की इन पंक्तियों में जगती शब्द दो बार आया है। प्रथम जगती क्रिया है, द्वितीय जगती पृथ्वी है। यहाँ दोनों शब्द भिन्नार्थक हैं। अतः यमक अलंकार है। दोनों की निरर्थकता का उदाहरण है—"सुमन चारु यही न अशोक के सुमन चाप प्रदीपक हैं नये"। यहाँ 'सुमनचा' शब्दों की आवृत्ति है लेकिन दोनों ही शब्दों के योग से खण्डित होकर निष्पन्न होते हैं। अतः दोनों निरर्थक हैं।

श्लेष अलंकार

श्लिष्ट पद के माध्यम से जहाँ अनेक अर्थों का कथन हो वहाँ श्लेष अलंकार होता है। श्लिष्ट विशेषण है जो श्लिष् धातु से बना है जिसका अभिप्राय है मिला हुआ। श्लिष्ट का अर्थ हुआ जहाँ अनेक अर्थ मिले हुए हों। यह श्लेष दो प्रकार का होता है— बिना शब्दों को भंग किये जहाँ अर्थ निकलता है वहाँ अभंग श्लेष और जहाँ शब्दों को भंग करके अर्थ निकाला जाता है वहाँ सभंग श्लेष होता है।

"जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छायी
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आयी।"

जयशंकर प्रसाद के 'आँसू' की इन पंक्तियों में घनीभूत के दो अर्थ हैं—एकत्रित और मेघ बनी हुई। इसी प्रकार दुर्दिन का दो अर्थ है—बुरा दिन (प्रतिकूल समय) और मेघाच्छन्न दिन। यहाँ अभंग श्लेष है।

"विरह का जल जात जीवन
विरह का जल जात।"

महादेवी वर्मा की इन पंक्तियों में शब्दों को तोड़ने पर तीन अर्थ निकलते हैं—

(१) विरह का जल जात—विरह का जल अर्थात् आँसू बह रहा है।
(२) विरह काजल जात—विरहरूपी काजल बहा जा रहा है।
(३) विरह काज लजात—विरह के कारण जीवन लज्जित हो रहा है।

इस प्रकार यह सभंग श्लेष का उदाहरण है।

वक्रोक्ति अलंकार

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है वक्रोक्ति अर्थात् वक्र + उक्ति। जहाँ कथन को वक्र करके बोला जाये अथवा कहनेवाला कुछ और कहे और सुनने वाला कुछ और अर्थ समझे। यह दो प्रकार का है—श्लेषार्थी शब्द से अथवा काकु (कण्ठ की विशेष ध्वनि से) के कारण प्रत्यक्ष के स्थान पर दूसरा अर्थ कल्पित किया जाये वहाँ क्रमशः श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति होती है।

श्लेष वक्रोक्ति

जहाँ पर एकाधिक अर्थ वाले शब्द से वक्ता का कथ्य श्रोता भिन्न अर्थ में ग्रहण करता है। कहने का तात्पर्य है कि इस अलंकार का चमत्कार श्लिष्ट शब्द पर आधारित होता है। जैसे—

"एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है ?
उसने कहा 'अपर' कैसा ? वह उड़ गया सपर है ।"

यहाँ सलीम और मेहरुन्निसा का परिहास है। मेहरुन्निसा से सलीम ने दूसरे (अपर) कबूतर के विषय में पूछा है, जबकि उत्तर मिलता है यह अपर (पंखहीन) नहीं, सपर (पंखयुक्त) है। अपर का वक्ता अन्य अर्थ में उपयोग करता है, जबकि श्रोता का आशय अन्य है।

काकु वक्रोक्ति

कण्ठध्वनि की विशेषता के कारण जहाँ दूसरा अर्थ ध्वनित होता है वहाँ काकु वक्रोक्ति होती है, जैसे—

"सोच रहे हो जीवन सुख है ?
ना, यह विकट पहेली है,
भाग अरे मनु ! इन्द्रजाल से
कितनी व्यथा न झेली है ?

सामान्य ढंग से इसे कहें तो अर्थ निकलेगा 'जीवन सुख है'। संशय। 'यह विकट पहेली हैं, इन्द्रजाल से कितनी व्यथा नहीं झेलनी पड़ती' लेकिन वास्तविक अर्थ यह नहीं है, काकु से अभीष्ट अर्थ निकलता है। इस दृष्टि से आलंकारिकों ने इसे अर्थालंकार के अंतर्गत लिया है। भामह ने सर्वप्रथम अर्थचारुत्व का मूल इसी को माना है।

उपमा अलंकार

उपमा का व्यौत्पत्तिक अर्थ है 'उप' अर्थात् समीप से 'मा' अर्थात् मापना या देखना अर्थात् एक वस्तु की सदृशता में दूसरी वस्तु को देखना। अलंकारों में उपमा का स्थान सर्वोपरि है। सामान्य बोलचाल की भाषा में भी इसका खूब प्रयोग होता है। यदि कहा जाय कि सम्पूर्ण अर्थालंकारों के मूल में उपमा अलंकार ही है तो अत्युक्ति नहीं होगी। उपमा के चार अंग हैं—

उपमेय—जिस वस्तु या व्यक्ति की उपमा दी जाये, यही वर्ण्यविषय प्रस्तुत भी है।

उपमान—जिस वस्तु या व्यक्ति से उपमा दी जाये अर्थात् विषयी, अवर्ण्य या अप्रस्तुत यही कहलाता है।

वाचक—उपमेय-उपमान की सदृशता प्रदर्शित करनेवाला शब्द वाचक है।

धर्म—उपमेय-उपमान में जिस रूप में गुणकर्म का साम्य दिखाया जाता हैं उसे धर्म कहते हैं। उदाहरणार्थ—

"दीप-सा मन जल चुका है"

महादेवी वर्मा की इन पंक्तियों में 'दीप' उपमान, 'मन' उपमेय, 'सा' वाचक और 'जल चुका' धर्म है।

यह पूर्णोपमा है क्योंकि यहाँ उपमा के चारों अंग हैं। जहाँ इनमें से कोई लुप्त होता है वहाँ लुप्तोपमा भी भिन्न-भिन्न होती है—उपमेय लुप्त होने पर उपमेय-लुप्तोपमा, उपमान लुप्त होने पर उपमानलुप्तोपमा, वाचक लुप्त होने पर वाचकलुप्तोपमा और धर्म लुप्त होने पर धर्मलुप्तोपमा होती है।

"मादकता से आये तुम
संज्ञा से चले गये थे
हम रोते पड़े बिलखते
थे उतरे हुए नशे से"

उपमा के अन्य भेद भी मिलते हैं, जैसे—मालोपमा, रसनोपमा, अनन्वयोपमा, उपमेयोपमा आदि। इनमें मालोपमा का प्रयोग बहुत किया गया है विशेषतः छायावादी कवियों ने इसका भरपूर प्रयोग किया। मालोपमा अर्थात् एक उपमेय के लिए अनेक उपमानों की जहाँ माला-सी बन जाये। कहने का अभिप्राय है कि प्रस्तुत एक हो जिसे भिन्न-भिन्न अप्रस्तुतों के माध्यम से समझाया जाये। पन्त की कविता से ही उदाहरण लें—

"गूढ कल्पना-सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय-सी
ऋषियों के गम्भीर हृदय-सी
बच्चों के तुतले भय-सी।"

छाया के विभिन्न धर्मों द्वारा उसकी रहस्यात्मकता की अनुभूति कराने के लिए पन्त ने मालोपमा का आश्रय लिया है।

रूपक अलंकार

"आरोपत् रूपकम्" अर्थात् जहाँ प्रस्तुत अथवा उपमेय पर अप्रस्तुत अथवा उपमान का आरोप किया जाये वहाँ रूपक अलंकार होता है। जैसे—मुख चन्द्र है अर्थात् मुख पर चन्द्र का आरोप किया गया। यह आरोप अभेद द्वारा भी होता है और तद्रूपता दिखाकर भी। इसी आधार पर अभेदरूपक और तद्रूपरूपक दो भेद माने गये। और दोनों भेदों के तीन भेद—सम, अधिक और न्यून माने गये हैं।

"बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही ताराघट उषा नागरी॥"

यहाँ अम्बर में पनघट का, तारा में घट का और उषा में नागरी का आरोप किया गया है।

रूपक के अन्य भेद भी हैं, जैसे सांग रूपक या सावयव रूपक, निरंग रूपक या निरवयव रूपक और तीसरा पारम्परिक रूपक। इनमें सांग रूपक सर्वाधिक प्रचलित है जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, जहाँ पर उपमान का उपमेय में अंगों सहित आरोप हो।

"अरुन सरोरुह कर चरण दृग खंजन मुखचन्द।
समै आय सुन्दरि सरद काहि न करति अनंद॥"

यहाँ शरद ऋतु पर सुन्दरी का आरोपण है, अरुन कमल पर कर चरण का, खंजन पर दृग का और चन्द्र पर मुख का आरोपण है।

उत्प्रेक्षा अलंकार

उत्प्रेक्षा का व्यौत्पत्तिक अर्थ है उत्+प्र+ईक्षा अर्थात् प्रकृष्ट रूप से ईक्षण (देखना), जहाँ पर प्रस्तुत अथवा उपमेय में उत्कृष्ट अप्रस्तुत या उपमान की संभावना की जाती है। यह संभावना वस्तुरूप में हो तो वस्तूत्प्रेक्षा, हेतु रूप में हो तो हेतूत्प्रेक्षा और फल के रूप में हो तो फलोत्प्रेक्षा कहलाती है। इसमें कुछ शब्द वाचक होते हैं—मनु, मानो, मानहु, जनु, जानहु, इव आदि।

"उस असीम नीले अंचल में
देख किसी की मृदु मुस्कान
मानो हँसी हिमालय की हो
फूट चली करती कलगान।"

यहाँ प्रस्तुत झरने में अप्रस्तुत हिमालय की हँसी की उत्प्रेक्षा की गयी है।

उदाहरण अलंकार

किसी सामान्य कथन में 'जैसे', 'ज्यों' शब्दों द्वारा किसी विशेष बात से समता जहाँ दिखायी जाती है वहाँ उदाहरण अलंकार होता है—प्राचीन आलंकारिकों ने इसे मान्यता दी है किन्तु आज के आचार्य इसका उल्लेख भी नहीं करते हैं, जबकि इसका प्रयोग बराबर नये कवि भी कर रहे हैं। केदारनाथ सिंह की अनागत कविता में—

"फूल जैसे अँधेरे में
दूर से ही चीखता हो
इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है।"

अनन्वय अलंकार

जहाँ उपमेय का उपमान से अन्वय न हो सके और उपमेय को ही उपमान बना दिया जाय वहाँ अनन्वय अलंकार होता है। अनन्वय वस्तुतः एक सापेक्ष शब्द है।

सम्बन्ध की कल्पना द्वित्व में होती है अर्थात् अनन्वय का अभिप्राय ही सम्बन्धहीनता से है। शिवाजी की प्रशस्ति में भूषण को अन्य कोई उपमान नहीं ढूँढे मिलता सिवाय शिवाजी के—

"रायनि को गनु राजनि को गनु,
साहन मौं नहिं यौं छवि छावे।
आज गरीबनिवाज मही पर,
तो सो तुम्हैं सिवराज बिराजे।"

अन्य उपमान के अभाव में यहाँ अनन्वय अलंकार सिद्ध होता है।

अतिशयोक्ति अलंकार

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, जहाँ उक्ति को अतिशय करके अर्थात् बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाय। "अतिशयतः अतिक्रान्ते' कहकर इसकी परिभाषा दी गयी है। लोकसीमा का अतिक्रमण करके, सामान्य बात का उल्लंघन करके जब किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जाता है तो वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है, जैसे—

"बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से ?

मणिधारी सर्प का मुख हीरों से भरा होना लोकसीमा का अतिक्रमण है। इसके सात भेद माने गये हैं—रूपकातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, असम्बन्धातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, अत्यंतातिशयोक्ति तथा चपलातिशयोक्ति।

भ्रम अथवा भ्रान्तिमान अलंकार

सादृश्य के कारण एक वस्तु को दूसरी वस्तु मान लेना भ्रम अथवा भ्रान्ति है। यह अवास्तविक अर्थात् मिथ्या ज्ञान है। पर यह निश्चयात्मक है, जैसे अन्धकार में रज्जु में सर्प का भ्रम मिथ्या है किन्तु निश्चित है। यह मिथ्या ज्ञान अत्यन्त दूरी, अत्यन्त सामीप्य, ज्ञानेन्द्रिय का असामर्थ्य आदि कई बातों पर आधारित होता है।

"पाँय महावर देन को, नाइन बैठी आय।,
फिर-फिर जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाय॥"

नायिका की एड़ी स्वभावतः इतनी लाल है कि नाइन को उसमें महावर का भ्रम हो जाता है।

सन्देह

सन्देह अलंकार में सदृशता के कारण सन्देह होता है पर निश्चय नहीं होता कि यह हैं अथवा यह है, यह स्थिति आद्यन्त बनी रहती है।

"परिपूरण सिंदूर पूर कैधों मंगलघट,
किधौं शक्र को छत्र मढ्यो माणिक मयूख पट।"

सूर्य के विषय में भाँति-भाँति के सन्देह यहाँ व्यक्त हैं।

विशेष

सन्देह और भ्रम में अन्तर यही है कि सन्देह में जहाँ वास्तविक वस्तु का अनिश्चय रहता है, भ्रम में एक-सी अन्य वस्तु में किसी अन्य वस्तु का निश्चय रहता है।

विभावना अलंकार

विभावना अर्थात् विशिष्ट भावना अथवा कल्पना। साहित्य दर्पणकार ने इसकी परिभाषा दी है—"विभावनाविना हेतु कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते" अर्थात् जहाँ कारण के अभाव में कार्य हो। ऐसा सचमुच एक विशिष्ट कल्पना से ही संभव है।

"विरह विकल बिनुही लिखी पाती दई पठाय।
आँक विहीनीयौ सुचित, सूने बाँचत जाय॥"

अंकहीन पत्री का बाँचना अर्थात् कारण के बिना कार्य होना विभावना से ही संभव है। अपर्याप्त कारण से कार्य की उत्पत्ति, प्रतिबन्धक के रहते कार्य की उत्पत्ति, अकारण से कार्य की उत्पत्ति, विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति हो तो भी विभावना अलंकार होता है।

असंगति अलंकार

जहाँ कारण-कार्य में संगति का अभाव हो अर्थात् कारण कहीं हो और कार्य कहीं अन्यत्र तो असंगति अलंकार होता है। जहाँ कारण होगा कार्य वहीं होगा, जहाँ आग होगी धुआँ भी वहीं होगा, पर इस अलंकार में ऐसा नहीं होता, जैसे—

"मेरे जीवन की उलझन
बिखरी थीं उनकी अलकें
पी ली मधु मदिरा किसने
थीं बन्द हमारी पलकें॥"

यहाँ उलझन में कोई पड़ा पर अलकें बिखरी हैं किसी और की, मदिरा किसी ने पी है पर उसका नशा किसी अन्य पर चढ़ा है। इसीलिए आलंकारिकों ने यहाँ असंगति अलंकार माना है। जो कार्य जहाँ होना चाहिए उसे वहाँ न करके अन्यत्र किया जाये तथा जिस कार्य को करने की प्रवृत्ति हो उसके विरुद्ध कार्य किया जाये तो वहाँ भी असंगति अलंकार होता है।

परिसंख्या अलंकार

इस अलंकार में किसी वस्तु का एक स्थान से निषेध करके किसी अन्य स्थान पर स्थापना होती है। प्रश्नों के माध्यम से भी उसी के समान किसी वस्तु का निषेध करके अन्य की स्थापना भी परिसंख्या अलंकार कहलाती है।

"पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यो ही रहत आनन ओप उजास ॥"

घर के चहुँ ओर पूर्णिमा की चाँदनी रहना अर्थात् एक स्थान पर किसी वस्तु का सिमट आना। अतएव यहाँ परिसंख्या अलंकार है।

परिसंख्या की स्थिति प्रश्न-मूलक भी मानी गयी है। प्रश्न में यह वाच्यनिषेध और व्यंग्यनिषेध अधिक संभव है।

"है भूषण क्या ? यश, नहीं रत्न आभूषण
क्या कार्य ? आर्य शुभ चरित नहीं है दूषण
क्या नेत्र ? विमलमति, नहीं चक्षु-गोलक यह
है मित्र कोऊ ? सद्धर्म, न नर लौकिक यह।"

भूषण क्या है, आदि प्रश्न है जिसका उत्तर दिया गया है। रत्नजटित आभूषण आदि निषेध के लिए कहे गये हैं। इस प्रकार यहाँ परिसंख्या अलंकार है।

अपह्नुति अलंकार

अपह्नुति का अभिप्राय है छिपाना। यह अलंकार प्रतिषेधमूलक है। उपमेय का निषेध करके जहाँ उपमान का आरोप किया जाय वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है। इसके अनेक भेद हैं, जैसे—हेत्वापह्नुति, पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति तथा कैतवापह्नुति।

"अठयें सतयें मो घर आवै—
भाँति भाँति की बात सुनावै,
सजनि रजनि में मन बहलावै,
मनमोहन जग में कहलावै।
ताहि को मोहि अति एतबार,
क्या सखि साजन नहिं अखबार।"

यहाँ पृष्ठभूमि में जो अभिप्राय था वह अखबार अर्थ के द्वारा पूरे रहस्य को नया रंग दे देता है।

तद्गुण अलंकार

तद्गुण अर्थात् उसका गुण ग्रहण कर लेना। अपने गुण को छोड़कर उत्कृष्ट गुण वाली दूसरी वस्तु का गुण ग्रहण करना ही तद्गुण अलंकार है। मतिराम ने इसकी परिभाषा दी—"जहाँ आपनो रंग तजि, लेत और को रंग।"

"यह शैशव का सरल हास है
सहसा उर से है आ जाता
यह ऊषा-का नव विकास है
जो रज को है रजत बनाता।"

यहाँ रज, उषा के सम्पर्क में रजत बन जाता है।

अतद्गुण अलंकार

तद्गुण के विपरीत समीपवर्ती वस्तु के गुण को न ग्रहण करना जहाँ दिखाया जाये वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है।

"जाह्नवी के श्वेत, यमुना के असित
सलिल में करते निमज्जन हो अहर्निश
पर तुम्हारी हंस ! उज्ज्वलता वही
जो न बढ़ती है, न घटती ही कभी।"

हंस का वर्ण अप्रभावित है। यमुना के श्याम जल में स्नान करने के बावजूद हंस का रंग परिवर्तित नहीं होता है।

मीलित अलंकार

मीलित का शाब्दिक अर्थ है मिल जाना अर्थात् अनुरूप वस्तु द्वारा किसी वस्तु का छिपना जहाँ प्रदर्शित हो वहां मीलित अलंकार होता है। समान गुण-प्रकृति वाली वस्तुएँ परस्पर ऐसी मिल जाती हैं कि उनमें अभेद लक्षित होता है, जैसे—

"अधर पान अंजन नयन लगा महाउर पाय।
तिय तन ये दरसत नहीं अंगन रहे समाय॥"

अर्थात् अधर की लालिमा में पान का रंग, काली आँखों में अंजन की कालिमा तथा लाल एड़ियों में महावर का रंग मिल गया है अतः यहाँ मीलित अलंकार है।

उन्मीलित अलंकार

मीलित अवस्था में ही किसी कारण से भेद होने पर उन्मीलित अलंकार होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है खुला हुआ। दो वस्तुओं में भेद खुलना ही उन्मीलित है। इसलिए अधिकांशतः पहले पद में जहाँ मीलित अलंकार होता है दूसरे पद में उन्मीलित होता है, जैसे—

"गले की सोनजुही की माल
कौन आली पाता पहचान
अगर उन्मद मधुपों का झुण्ड
न झुक आता करने मधुपान।"

कंचन वर्ण शरीर में सोनजुही की माला मिल गयी लेकिन भौंरे सोनजुही की गंध से उस पर मँडराने लगे जिससे माला और देहवर्ण का भेद स्पष्ट हो गया।

स्वभावोक्ति अलंकार

स्वभावोक्ति का अभिप्राय है स्वाभाविक कथन अर्थात् जो नैसर्गिक अथवा प्राकृतिक है उसका वैसा ही चित्रण करना। यह सच है कि स्वाभाविक कथन कविकर्म को और दुरूह करता है पर कविकर्म की कसौटी अगर हम इस अलंकार को मानें तो शायद गलत नहीं होगा। सदृश बताना, आरोपण करना, बढ़ा-चढ़ाकर कहना अर्थात् बात को कई तरह से कहा जा सकता है लेकिन उसे सीधी तरह से, बिना किसी चमत्कार के साधारण बोलचाल में भी कहा जा सकता है। कविता में यह कार्य कठिन है पर असंभव नहीं। हमारे यहाँ शास्त्रीय कहे जानेवाले कवियों ने इस अलंकार की चुनौती को स्वीकारा है। कहना न होगा कि इस अलंकार में अनुभूति की गहराई सबसे ज्यादा अपेक्षित है। आज की कविता जो उपमानों के मैले होने की बात कहती है, इस अलंकार में अपने को अच्छी तरह अभिव्यक्त करती है—

"अवयव की दृढ़ मांसपेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार
स्फीत शिराएँ स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार।"

मनु का यह वर्णन किसी अलंकार का मोहताज नहीं है।

काव्यगुण

रीतिसम्प्रदाय भारतीय काव्यशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। काव्य के आत्मतत्व के रूप में रीति को प्रतिष्ठा देने वाले आचार्य वामन हैं। पहली बार वामन ने रीति को भौगोलिकता से मुक्त करके गुणों से अनुशासित किया। रीति की परिभाषा वामन इस रूप में देते हैं—

"विशिष्ट पद रचना रीति : विशेषो गुणात्मा।"

काव्य के बहिरंग पक्ष के साथ ही अंतरंग पक्ष को भी ध्यान में रखा गया है और इस प्रक्रिया में गुणों की कल्पना अपरिहार्य हो गयी है। वामन गुणों को सौन्दर्य तत्त्व का मूल कारण मानते हैं। गुणों का सम्बन्ध शब्द-अर्थ दोनों से दर्शाते हैं। रीति

अगर काव्य की आत्मा है तो गुण रीति की आत्मा है। आनन्दवर्धन ने रसरूप अंगी के आश्रित रहनेवाले को गुण कहा जबकि मम्मट ने रसरूप अंगी के धर्म कथारस के उत्कर्ष के कारण रूपधर्म को गुण की संज्ञा दी है। भरतमुनि काव्य दोष के विपर्यय को ही गुण की संज्ञा देते हैं। इस अर्थ में भरतमुनि गुणों की अभावात्मक सत्ता को स्वीकार करते हैं। दण्डी के अनुसार गुण काव्य के शोभाविधायक धर्म हैं।

गुणों की संख्या को लेकर भी काफी विवाद रहा है। भरतमुनि ने दस गुण माने—

"श्लेषः प्रसादः समता, समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणादशैते॥"

अग्निपुराणकार ने तीन प्रकार के—शब्दगत, अर्थगत तथा शब्दार्थोभयगत गुण माने हैं। गुणों की संख्या इनके मत में उन्नीस है। दण्डी गुणों की संख्या बीस मानते हैं जबकि भोजराज चौबीस और जयदेव आठ। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने औचित्य और सौभाग्य—दो अनिवार्य सामान्य गुण तथा माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य विशिष्ट गुण माने हैं।

आनन्दवर्धन की दृष्टि में गुणों का अस्तित्व रसधर्म के रूप में हैं। उन्होंने चित्त की तीन अवस्थाओं—दुति, दीप्ति तथा व्यापकत्व के आधार पर माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण को स्वीकृति दी है।

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में गुणों का सर्वाधिक स्पष्ट एवं वैज्ञानिक विवेचन आचार्य वामन ने ही किया है। गुणों को वे शब्दार्थ का नित्यधर्म मानते हैं। वामन शब्दगत तथा अर्थगत आधार पर गुणी-विवेचन करते हैं। वामन की दृष्टि में गुणों की संख्या दस है—

"ओजः प्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्य सौकुमार्योदारतार्थव्यक्तिकान्तयो गुणः।"

ये शब्द गुण भी है और यही दस अर्थ गुण भी हैं। इस सन्दर्भ में कुछ विद्वान् दोनों का योग करके गुणों की संख्या बीस भी बताते हैं।

परवर्ती आचार्यों ने मम्मट के मत को ही आगे बढ़ाया और गुणों की संख्या कम होती गयी। चिन्तामणि के 'कविकुलकल्पतरु', कुलपति के 'रसरहस्य' में तीन गुणों का ही समावेश है। देव ने काव्यरसायन में दस गुणों को स्वीकार किया है। इनमें देव ने यमक और अनुप्रास को भी मिला दिया जिससे गुणों की संख्या बारह हो गयी। कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का मत भी संस्कृत काव्यशास्त्र से ही प्रभावित है। प्रायः सभी आचार्यों ने जिन दस गुणों की चर्चा की वे हैं—माधुर्य, ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, सुकुमारता, अभिव्यक्ति, उदारता,

कान्ति और समाधि। गुणरहित काव्य की कल्पना आधुनिक युग का समीक्षक भी नहीं करता। काव्य में काव्यत्व जैसी चीज गुणों से ही आती है। अतः हमारी प्राचीन मान्यता है कि गुण काव्यशोभा को बढ़ाने वाले तत्त्व हैं। आज भी बेमानी नहीं लगती है। ये गुण वर्ण संघटन, शब्द-योजना, शब्दचमत्कार, शब्दप्रभाव तथा अर्थ की दीप्ति पर आश्रित हैं।

१. माधुर्य

भरतमुनि के अनुसार काव्य सौन्दर्य श्रुतिमधुरता में है। वस्तुतः जिस गुण से अन्तःकरण आनंद से आप्लावित हो जाये वही माधुर्य गुण है। वामन की दृष्टि में—'पृथक् पदत्वं माधुर्यम्' अर्थात् रचनागत पदों की पृथकता माधुर्य है। इसमें लम्बे समास, कटु वर्णों का प्रयोग वर्जित है। सामान्यतः मधुर वर्ण सानुनासिक वर्ण तथा कोमल वर्ण के रूप यहाँ अभिप्रेत हैं। माधुर्य का अभिप्राय रसमयता से लेते हैं। मम्मट ने आह्लादकता या शृंगार रस में द्रवित करने की विशेषता को माधुर्य की संज्ञा दी है—"आह्लादकत्वं माधुर्यश्शृंगारदुतिकारणम्।" हिन्दी आचार्यों में चिन्तामणि इसे चित्त की दुति कहते हैं अतएव वे कह सकते हैं कि माधुर्य काव्य का वह गुण है जिससे काव्य में श्रुतिसुखदता, आर्द्रता, भावमयता और आह्लादकता आती है, उदाहरणार्थ—

"तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन
विकल होकर नित्य चंचल
खोजती जब नींद के पल
चेतना थक-सी रही तब
मैं मलय की बात रे मन।"

(जयशंकर प्रसाद—'कामायनी')

२. ओज

ओज का तात्पर्य तेज, प्रताप तथा दीप्ति से है। जिस काव्य को सुनकर हृदय में उत्साह, वीरता, आवेश जैसे भाव जाग्रत हो जाते हैं ऐसे काव्य को हम ओजपूर्ण कहते हैं। वीभत्स तथा रौद्र में यह प्रकर्ष प्राप्त करता है। वीर-काव्य की तो यह आत्मा है ही। दण्डी की दृष्टि में समासयुक्त पदों की बहुलता से यह गुण निष्पन्न होता है। ध्वनिवादी आचार्यों ने चित्त के विस्तारण या चित्त के दीप्तिकारक गुण को ओज की संज्ञा दी है। वामन के मत में रचना का गाढ़त्व ओजगुण है—"गाढबन्धत्वमोजः" और यह गाढ़त्व अक्षरों की संश्लिष्टता, संयुक्ताक्षरों के संयोग से उत्पन्न होता है। हिन्दी का वीरकाव्य इस गुण से ही सम्पन्न है।

शत घूर्णावर्त तरंग भंग, उठते पहाड़
जलराशि राशिजल पर चढ़ता खाता पछाड़
तोड़ता बन्ध प्रतिरुद्ध धरा हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष ।
(निराला—'राम की शक्तिपूजा')

३. प्रसाद

प्रसाद का शाब्दिक अर्थ है प्रसन्नता । इस गुण के लिए स्वच्छता, सरलता और सहज ग्राह्यता अत्यन्त आवश्यक है । ध्वनिवादियों की दृष्टि में यह गुण ऐसा रसधर्म है जो सामाजिक के हृदय में भाव अथवा अर्थ को शीघ्र व्याप्त कर देता है । अग्नि जिस प्रकार शुष्क ईंधन में जल्दी फैल जाती है उसी प्रकार यह गुण सामाजिक के हृदय में व्याप्त होता है । यद्यपि वामन ने 'शैथिल्यं प्रसादः' कहकर इसे पारिभाषित किया है । यहाँ पूर्वोक्त ओज गुण से विपरीत गुण वाला होने से शिथिल जैसा विशेषण लाया गया है । यह ऐसा गुण है जिसका उपयोग सभी श्रेष्ठ रचनाओं में किया गया है । केदारनाथ अग्रवाल के इस गीत की भावमयता सहज ही ध्यान आकृष्ट करती है—

"माँझी न बजाओ वंशी मेरा मन डोलता
मेरा मन डोलता है जैसे जल डोलता
जल का जहाज जैसे पल-पल डोलता
माँझी न बजाओ वंशी मेरा प्रण टूटता
मेरा प्रण टूटता है जैसे तृण टूटता
तृण का निवास जैसे बन बन टूटता ।"

४. श्लेष

इसका अभिप्राय है अनेक शब्दों, अर्थों या वर्णों का एक में संघटन होना । आनंदवर्धन और मम्मट ने इसे पृथक् गुण न मानकर ओज के अन्तर्गत समाविष्ट किया है । दण्डी रचना के सघन संघटन को श्लेष कहते हैं जबकि वामन सघन संघटन को ओज का गुण मानते हैं "मसृणत्वं श्लेषः" शब्दनिष्ठ मसृणता श्लेष है । मसृणता वामन की दृष्टि में वह तत्त्व है जिसके होने पर बहुत से पद एक पद के समान प्रतीत होते हैं । श्लेष गुण और श्लेष अलंकार में भिन्नता है । हिन्दी के आचार्यों में भिखारीदास और देव ने इस गुण को महत्ता दी है । ओज के कवियों ने भी कविता में सांकेतिकता जैसे गुण लाने के लिए संघटित पद का प्रयोग किया है, जैसे—

"तुम प्राण और मैं काया
तुम शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म
मैं मनोमोहिनी माया ।
(सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—'तुम और मैं')

सच्चिदानंद में तीन पद हैं--सत्, चित् और आनंद, जिसका एक पद में प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार मनोमोहिनी अर्थात् मन को मोहने वाली माया की सांकेतिकता भी द्रष्टव्य है।

५. समता

इसका अभिप्राय है—समान अर्थात् जहाँ एक जैसा भाव हो। भरतमुनि की मान्यता है कि रचना में यदि समासरहित, कठिन तथा व्यर्थ पद न हो तो वहाँ समता का भाव होता है। पहले हम इसी पर विचार करते हैं। समास शब्दों को नया अर्थ देते हैं, जैसे हम राजा का पुरुष न कहकर राजपुरुष (तत्पुरुष समास) कह देते हैं तो एक ही शब्द अर्थ बताने में समर्थ तो है लेकिन राजपुरुष शब्द अपेक्षाकृत दुरूह है। इसी प्रकार कठिन पद भी दुरूहता उत्पन्न करते हैं, जैसे "शतशत फेनोच्छ्वसित" जैसा पद। ठीक इसी प्रकार कुछ पद व्यर्थ में रख दिये जाते हैं और उनकी निरर्थकता समूचे अर्थ को दुरूह बना देती हैं। समता गुण ऐसे दो काकु में मिलता है जहाँ भाव सामासिकता, कठिनता और निरर्थकता (व्यर्थता) के व्यूह में फँसकर सम्प्रेषण में बाधक नहीं बनते हैं। सहज, सरल, स्वाभाविक एकरस अभिव्यक्ति इस गुण का लक्षण है।

दण्डी के अनुसार बन्धों या रचनाओं की एकरूपता का गुण ही समता है। ध्वनिवादियों ने इसे प्रसाद के अन्तर्गत समाहित किया है। वामन की दृष्टि में रचना शैली का अभेद समता है—"मार्गाभेदः समता" कहने का अभिप्राय है कि जिस शैली से रचना आरम्भ की जाये उसका पर्यवसान भी उसी शैली में होना समतागुण है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के इस गीत में प्रत्येक पद उस ऊब, संत्रास और निराशा की अभिव्यक्ति करता है जो कवि के भीतर के अवसाद से उत्पन्न है—

"कितना चौड़ा पाट नदी का, कितनी भारी शाम
कितने खोये-खोये से हम, कितना तट निष्काम
कितनी बहकी-बहकी सी दूरागत वंशी टेर
कितनी टूटी-टूटी सी नभ पर विहँगों की फेर
कितनी सहमी-सहमी सी क्षिति की सुरमई पिपासा
कितनी सिमटी-सिमटी सी जल पर तट-तरु अभिलाषा
कितनी चुप-चुप गयी रोशनी छिप-छिप आयी रात
कितनी सिहर-सिहर कर अधरों से फूटी दो बात,
चार नयन मुस्काये खोये भींगे फिर पथराये
कितनी बड़ी विवशता जीवन की कितनी कह पाये।"

(सर्वेश्वरदयाल सक्सेना—'विवशता')

६. सुकुमारता

कोमलता, सुकुमारता का पर्याय है। कोमल वर्णों की योजना जिस रचना में हो और उसके साथ ही सुकुमार भावों की व्यंजना भी हो तब वहाँ यह गुण होता है। दण्डी के मतानुसार अपरूप वर्णों की योजना में सुकुमारता होती है। वामन भी लगभग इसी को दुहराते हुए कहते हैं—"अजरठत्वं सौकुमार्यम्" अर्थात् रचनागत अकठोरता सौकुमार्य गुण है। इसी आधार पर ध्वनिवादियों ने इसका अन्तर्भाव माधुर्य में कर दिया है। हिन्दी के आचार्य भी इसे स्वतन्त्र गुण नहीं मानते हैं। छायावादी कवियों ने इस गुण का खूब प्रयोग किया है—

"सैकत शय्या पर दुग्ध धवल तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल
लेटी हैं श्रान्त क्लान्त निश्चल।
तापस बाला गंगा निर्मल शशिमुख से दीपित मृदु करतल
लहरें उर पर कोमल कुंतल
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर लहराता तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर

(सुमित्रानन्दन पन्त 'नौकाविहार')

७. अर्थव्यक्ति

इस गुण का अभिप्राय अर्थ प्रकाशन से है। शब्दों अथवा पदों द्वारा समग्र अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति को भरतमुनि ने अर्थव्यक्ति गुण कहा है। दण्डी के मत में जिन पदों से अर्थ अभिप्रेत अर्थ से अन्यत्र न जाये वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है। वामन के शब्दों में "अर्थव्यक्ति हेतुत्वमर्थव्यक्तिः" अर्थात् अर्थ की स्पष्ट प्रतीति का हेतु अर्थव्यक्ति गुण है।

"स्नेह निर्झर बह गया है
रेत ज्यों तन रह गया है।
दिये हैं मैंने जगत् को फूल-फल
किये हैं अपनी प्रभा से चकित चल
पर अनश्वर था सकल पल्लवित पल
ठाठ जीवन का वही
जो ढह गया है। (निराला)

८. उदारता

इस गुण से काव्य में, प्रतिपाद्य अर्थ में उत्कर्ष की प्रतीति होती है। इसके अनेक अर्थ माने जाते हैं, जैसे—व्यापकता, उत्कर्ष, प्रभावात्मकता और असंकीर्णता।

भरतमुनि मानते हैं कि अलौकिक चरित्रों का वर्णन जब शृंगार, अद्भुत जैसे रसों के संयोग से किया जाता है, तब वर्णन में यही गुण काम करता है। दण्डी की दृष्टि में उक्तिविशेष को दिखाने के लिए इस गुण का प्रयोग रचनाकार करता है। वामन के मत में "विकटत्वमुदारता" अर्थात् रचना की विकटता उदारता है। नर्तकियों के चरण-नूपुरों से जैसे विचित्र और सुन्दर ध्वनि होती है ठीक वैसे ही वर्णों के नृत्य से विकटत्व जैसा गुण उत्पन्न होता, जैसे—

"लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर
शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर।

(सुमित्रानंदन पन्त—'निष्ठुर परिवर्तन')

९. कान्ति

कान्ति अर्थात् आभा, कमनीयता। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार कान्ति ऐसा गुण है जिसके अन्तर्गत श्रुति-मधुर तथा चित्ताकर्षक क्रीड़ाशीलता का वर्णन हो। जबकि दण्डी इस गुण को स्वाभाविक वर्णन का केन्द्रबिन्दु मानते हैं लेकिन शर्त यह है कि उस स्वाभाविक वर्णन द्वारा कान्त जगत् की कमनीयता उद्घाटित हो। मम्मट कान्ति का अन्तर्भाव ओज में करने के पक्षधर हैं। देव और भिखारीदास कान्ति गुण को चारु वचन में तलाशते हैं—ऐसे रुचिर वचन जिनका अर्थ गूढ़ होकर प्रकट अपितु सुमति-जनों की समझ में आये। वामन रचना की उज्ज्वलता अर्थात् नूतनता को कान्ति गुण कहते हैं—

'औज्ज्वल्यं कान्तिः' जैसे प्रसाद की बिजली के फूल की कल्पना—

"नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।"

(जयशंकर प्रसाद—'कामायनी')

१०. समाधि

इसका शाब्दिक अर्थ है—सम्यक् आधान अर्थात् एक वस्तु के धर्म का दूसरी पर आरोपण। दण्डी के विचार में जहाँ लोकसीमा के अनुरोध से अन्य के धर्म का अन्यत्र आरोप किया जाता है वहाँ समाधि गुण होता है जबकि वामन के कथनानुसार क्रमशः आरोह-अवरोह जहाँ हो वहाँ समाधि गुण माना जाता है। "आरोहावरोहनिमित्तं समाधिराख्यायते।"

"हो रहे झर कर दृगों से
अग्नि-कण की क्षार शीतल
पिघलते उर से निकल
निःश्वास बनते धूप श्यामल
एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ।"

(महादेवी वर्मा—'दीपगीत')

भारतीय काव्यशास्त्र में गुणविवेचन को लेकर बहुत मतवैभिन्य रहा, लेकिन छायावादोत्तर काल की कविता में भी इन दसों गुणों को निर्दिष्ट किया गया, अतः इनमें से किसी को भी कम महत्त्व का नहीं कहा जा सकता है। आज की कविता जिस जमीन पर स्थित है वहाँ सूक्ष्म अभिव्यक्ति, सांकेतिकता, संक्षिप्तता और प्रभावोत्पादकता पर अधिक बल दिया जाता है, अतएव आज इन गुणों का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है।

काव्यदोष

गुणों का अभाव दोष है। मम्मट काव्य की परिभाषा देते हुए बताते हैं—"तददोषौशब्दार्थौं सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" अर्थात् काव्य को सर्वप्रथम दोषरहित होना चाहिए। भरतमुनि गुण को दोष का विपर्यस्त मानते हैं—"विपर्यस्तागुणाः काव्येषु कीर्तिताः।" लगभग इसी मान्यता का अनुकरण करते हुए दण्डी ने दोष का लक्षण न देकर दोषाभाव को ही गुण की संज्ञा दे दी है—"महान् निर्दोषिता गुणाः।" भामह को तो काव्य में एक भी दोषयुक्त शब्द स्वीकार नहीं है। उनके अनुसार दोषपूर्ण काव्य कुपुत्र की भाँति निन्दनीय है। सदोष काव्य की रचना साक्षात् मृत्यु है। इससे तो अच्छा है कविता ही न लिखी जाये। दण्डी का भी विचार यही है, फर्क शब्दों के परिधान का है। दण्डी को काव्यदोष बिलकुल सहन नहीं है क्योंकि वे काव्य की विफलता के कारण होते हैं। उनकी दृष्टि में जैसे सुन्दर शरीर को कुष्ट का एक धब्बा कुरूप बना देता हैं वैसे ही दोष काव्य को असुन्दर बनाते हैं। यह कवि के कौशल से ही संभव है कि वह दोषों को भी गुण में परिवर्तित कर दे—"उत्क्रम्य दोषगणना गुणवीथी विगाहते।"

भोजराज, अग्निपुराणकार की दृष्टि में भी दोष अनुचित है। काव्यसौन्दर्य के विघातक तत्त्व-दोषों को काव्य से दूर ही रखना चाहिए। मम्मट मुख्यार्थ के आकर्षक तत्त्व को दोष कहते हैं और काव्य में मुख्यार्थ रस ही है—

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥

इसी को विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में बड़े ही सपाट शब्दों में कह दिया है कि—"रसापकर्षका दोषाः ।" वामनाचार्य के मतानुसार दोष गुण के विपर्यय होते हैं तथा काव्यसौन्दर्य की हानि करते हैं—"गुण विपर्ययात्मानो दोषाः ।"

हिन्दी के आचार्यों के मत में भी दोषयुक्त कविता का अस्तित्व ही नहीं होना चाहिए । श्रीपति के मतानुसार जिस पदार्थ के दोष से अच्छी कविता दूषित हो जाती है उसे दोष कहते हैं—

"जा पदार्थ के दोष से आछे कवित नसाइ
दूषन तासो कहत हैं श्रीपति पण्डित राइ ।"

आचार्य भरत दोषों की संख्या दस मानते हैं । कालान्तर में इस वर्गीकरण में पर्याप्त परिष्कार किया गया । मम्मट के अनुसार दोष के तीन भेद हैं—शब्ददोष, अर्थदोष एवं रसदोष । समग्र दोषों को विश्वनाथ के अनुसार इस प्रकार माना गया है—

रसापकर्षका दोषास्ते पुनः पंचधा मतः
पदे तदंशे वाक्येऽर्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत् ॥

अर्थात् रस के अपकर्षक दोष पाँच हैं—पददोष, पदांशदोष, वाक्यदोष, अर्थदोष तथा रसदोष ।

पददोष, पदांशदोष आदि के पुनः अनेक भेद किये गये हैं । इनमें कुछ प्रमुख दोष इस प्रकार हैं—

न्यूनपदत्व दोष

जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, जहाँ अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए जितने शब्द अपेक्षित हैं उससे कम शब्दों का प्रयोग रचनाकार करता है वहाँ यह दोष होता है । कविता चूँकि छन्दों में बँधी होती है अतः छन्दों के नियम से कहीं-कहीं शब्दों की काट-छाँट करनी पड़ती है, जैसे—

"समर्पण लो सेवा का सार,
सजल संसृति का यह पतवार"

यहाँ सेवा से पहले तुम शब्द अपेक्षित है ।

अधिकपदत्व दोष

न्यूनपदत्व का ठीक उल्टा यह दोष है अर्थात् जहाँ अभीष्ट से अधिक शब्द हों । अनावश्यक शब्दों को निकाल देने पर भी अर्थ व भाव में अन्तर यदि नहीं पड़ता तो इस दोष की पुष्टि हो जाती है—

"वह रे अनंत का मुक्तमीन, अपने असंगसुख में विलीन
स्थित निजस्वरूप में चिरनवीन"

'निज' पद हटा देने पर भी अर्थ या भाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि उसके आगे स्वरूप पद आया है।

च्युतसंस्कृति दोष

किसी रचना में जब व्याकरणविरुद्ध प्रयोग कोई रचनाकार करता है तब यह दोष माना जाता है। यह दोष पाँच प्रकार का होता है—लिंगदोष, वाचनदोष, कारक-दोष, सन्धि तथा प्रत्यक्षदोष।

"शशि मुख पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये।"

'आँसू' की इन पंक्तियों में स्पष्ट है कि नायिका के प्रति यह कथन है तथापि 'आये' पद का प्रयोग है जो पुंलिंग वाचक है अतः यह लिंग सम्बन्धी दोष है।

क्लिष्टत्व दोष

ऐसे शब्दों का प्रयोग जिसका अर्थ लगाना सहज नहीं होता वहाँ यह दोष पाया जाता है। काव्य में चमत्कार पैदा करने के लिए इस तरह के प्रयोग कवि करते रहे हैं। हिन्दी साहित्य में भी मध्यकालीन कवियों ने कूट पदों की रचना की है। इन पदों का अर्थ कठिनता से उद्घाटित होता है। सूरदास ने इसका भरपूर प्रयोग किया है, उदाहरणार्थ—

"पदरिपु पद अँटक्यो न सम्हारति, उलट न पलट खरी
सिव-सुत-वाहन आइ मिले हैं, मनचित बुद्धि हरी।"

पदरिपु-पाँव का दुश्मन अर्थात् काँटा, जिसमें वस्त्र अटक गया है। सिव-सुत-वाहन पद में शिव के पुत्र कार्त्तिकेय उनका वाहन मयूर अर्थात् मोर के आकर्षण ने उनके विवेक का हरण कर लिया है।

संदिग्धत्व

कवि चमत्कार-सृष्टि के लिए अक्सर एक पद ऐसा रख देते हैं जो सन्देह उत्पन्न करता है। कवि की दृष्टि में भले ही यह गुण हो किन्तु पाठक कौन-सा अर्थ ग्रहण करे, यह भ्रम उसे होता है अतः यह काव्य का दोष ही कहा जायेगा।

"सिर चढ़ी रही पाया न हृदय,
तू विकल कर रही है अभिनय।"

सिर चढ़ना, मुहावरा अत्यधिक प्रिय होने का द्योतक है किन्तु कामायनी में श्रद्धा हृदयपक्ष, भावपक्ष का प्रतीक है तो इड़ा बुद्धिपक्ष का। श्रद्धा बुद्धि की उसी प्रतीका-

त्मकता की ओर इशारा कर रही है अतएव इस प्रतीक को न समझने के कारण अर्थ संदिग्ध हो जाता है।

दुष्क्रमत्व

जहाँ क्रम शास्त्र अथवा लोक के विरुद्ध हो वहीं यह दोष पाया जाता है, जैसे—

"नृप ! मोको हय दीजिये अथवा मत्त गजेन्द्र।"

शास्त्रविहित है कि पहले बड़ी वस्तु माँगी जाये, विकल्प में छोटी; किन्तु यहाँ विकल्प में जो वस्तु अर्थात् हाथी माँगा जा रहा है वह घोड़े की अपेक्षा उच्च श्रेणी का है।

पतत्प्रकर्षदोष

यदि वर्णनीय वस्तु का निरंतर उत्कर्ष की अपेक्षा अपकर्ष दिखाया जाये तो यह दोष सिद्ध होता है। सामान्यतः वर्णन में विशेषण उत्तरोत्तर प्रकर्ष की ओर होते है लेकिन यदि यह क्रम विपरीत हो तो वह वाक्यदोष बन जाता है, जैसे—

"अगर मैं तुमको ललाती साँझ की
नभ की अकेली तारिका, अब नहीं कहता
या शरद के भोर की नीहार न्हाई कुई
टटकी कली चम्पे की।"

नभ की तारिका, कुई और फिर चम्पे की कली—यहाँ क्रमशः उपमान का अपकर्ष दिखाया गया है।

दूरान्वयदोष

वाक्य में परस्पर अन्वय न हो पाना इस दोष को उत्पन्न करता है। इससे अभिप्रेत अर्थ में बाधा उत्पन्न होती है, जैसे—

"थे दृग से झरते अग्निखण्ड
लोहित थे ज्यों हिंसा प्रचण्ड।"

दृग से झरते आँसुओं को अग्निखण्ड कहना, प्रचण्ड हिंसा को लोहित बताना इस दोष की सृष्टि करता है।

स्वशब्दवाच्यत्वदोष

भाव जहाँ व्यंग्य रूप में न होकर स्वशब्दवाचक हो जाता है वहाँ यह दोष होता है। भाव संकेत है,कविता में उसका सौन्दर्य व्यंजना में है अभिधा में नहीं, जैसे—

"विस्मृति आ, अवसाद घेर ले
नीरवते ! बस चुपकर दे
चेतनते चल जा, जड़ता से
आज शून्य मेरा भर दे।"

शब्द-शक्तियाँ

शब्द और अर्थ में ही समग्र साहित्य-साधना निर्भर है। शब्द बिना अर्थ के नहीं होता और अर्थ निकलता ही शब्द से है इसीलिए कहा गया है—

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥"

कालिदास की इसी भावना को गोस्वामी तुलसीदास ने अपने ढंग से व्यक्त किया कि—

"गिरा अर्थ जल वीचिसम,
कहियत भिन्न न भिन्न।"

शब्दों के उच्चरित होने पर जिस संकेतित, लक्षित या व्यंग्यभूत तत्वों की उपस्थिति होती है उसे अर्थ कहा जा सकता है। शब्दों का अर्थ प्रसंगानुसार परिवर्तनशील है। सैन्धव शब्द का उच्चारण करने पर उसका कौन-सा अर्थ श्रोता लेता है यह उसकी योग्यता पर निर्भर है। सैन्धव का अभिप्राय नमक-विशेष भी है और घोड़ा भी। नमक के स्थान पर घोड़ा तथा घोड़े के स्थान पर नमक कतई नहीं चल सकता।

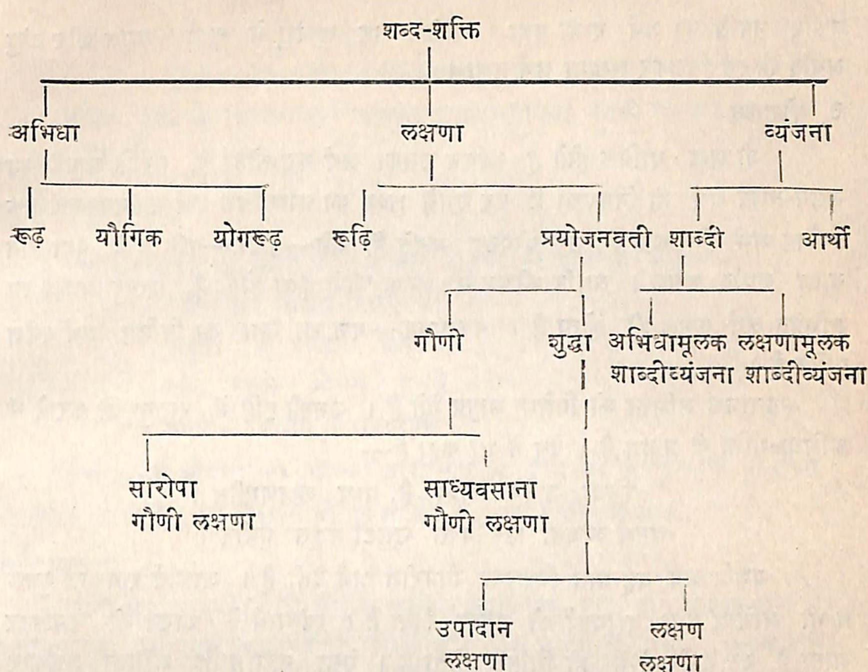
काव्यसाधना वस्तुतः शब्दसाधना ही है। साधारण बोलचाल की भाषा और काव्यभाषा में अन्तर होता है। कवि द्वारा प्रयुक्त शब्द में अर्थमात्र न होकर कुछ अलौकिक एवं चिरस्थायी अर्थप्राणता भी होती है इसीलिए अग्निपुराणकार का कथन है कि—

"नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥"

महाभाष्य का कथन है कि—"प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।" काव्य के भीतर कोई शब्द निरर्थक नहीं होता। शब्द में असीम शक्ति होती है। उचरित होते ही वह हमारे मन, कल्पना और अनुभूति को प्रभावित करता है। सर्प शब्द का उच्चारण भय से सिहरा देता है। खटाई का नाम ही मुँह में पानी भर देता है। यह प्रभाव अर्थगत होता है। अतः जिस शक्ति के द्वारा शब्द का यह अर्थगत प्रभाव पड़ता है उसी को हम शब्द-शक्ति कहते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में इसका बड़ा वैज्ञानिक विवेचन मिलता है। शब्द-शक्तियाँ तीन हैं—तदनुसार शब्द और अर्थ हैं, जैसे—

शब्द-शक्तियाँ	शब्द	अर्थ
(१) अभिधा	वाचक	वाच्यार्थ
(२) लक्षणा	लक्षक	लक्ष्यार्थ
(३) व्यंजना	व्यंजक	व्यंग्यार्थ

शब्द-शक्ति को आरेख द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—



मूल रूप में शब्द-शक्तियाँ तीन हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना।

अभिधा

शब्द का वह व्यापार है जिसमें मुख्यार्थ का साक्षात् बोध हो जाता है। यह शक्ति वाक्य के अन्तर्गत किसी शब्द के संकेतित अर्थ का ही बोध कराती है। मुख्यार्थ-बोधक होने के कारण ही इसे मुख्या और अग्रिमा भी कहा जाता है। मम्मट के अनुसार—"स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते" अर्थात् वह मुख्य अर्थ और उसका जो व्यापार है वह अभिधा कहलाता है।

अभिधा शक्ति द्वारा जिन वाचक शब्दों का अर्थ ज्ञात होता है वे तीन प्रकार के होते हैं—१. रूढ़, २. यौगिक, ३. योगरूढ़।

१. रूढ़

रूढ़ शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं होती – अर्थात् इन शब्दों का प्रयोग एक विशेष प्रसिद्ध अर्थ का बोधक होता है, जैसे—पेड़, गाय, घोड़ा, चन्द्र, पशु आदि।

२. यौगिक

यौगिक शब्द प्रकृति और प्रत्यय के योग से बनते हैं। जिन शब्दों के टुकड़े करके प्रत्येक टुकड़े का अलग-अलग अर्थ करते हुए समग्र शब्द के अर्थ का बोध कराया जाता है वे यौगिक कहे जाते हैं, जैसे—भूपति—भू अर्थाद् पृथ्वी और पति अर्थात् स्वामी और इस

प्रकार भूपति का अर्थ राजा हुआ। इसी प्रकार सुधांशु में सुधा—अमृत और अंशु अर्थात् किरण मिलकर चन्द्रमा अर्थ हुआ।

३. योगरूढ

जो शब्द यौगिक होते हैं लेकिन उनका अर्थ रूढ़ तोता है, प्रकृति प्रत्यय का अलग-अलग अर्थ तो निकलता है पर उनसे शब्द का वास्तविक अर्थ न निकलकर एक विशिष्ट अर्थ निकलता है उसे योगरूढ़ कहते हैं, जैसे—पंकज—कीचड़ में पैदा होने वाला अर्थात् कमल। यद्यपि कीचड़ में अनेक चीजें पैदा होती हैं, परन्तु पंकज का अभिप्रेत अर्थ कमल ही होता है। गणनायक—गण का नेता का विशिष्ट अर्थ गणेश गृहीत है।

भट्टनायक अभिधा को विशेष महत्व देते हैं। उनकी दृष्टि में रसानुभूति कराने में अभिधा-शक्ति ही प्रधान है। देव ने भी कहा है—

"अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणाहीन।
अधम व्यंजना रस विरस उलटी कहत नवीन॥"

यद्यपि अब यह बात बिलकुल विपरीत अर्थ देती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अभिधा तथा वाच्यार्थ को महत्व दिया है। व्यंग्यार्थ के कारण जो चमत्कार आता है वह वाच्यार्थ में ही निहित होता है। ऐसा नहीं है कि अभिधा अलंकार कल्पनाविहीन काव्य हो। निम्नोक्त कविता द्रष्टव्य है—

"मोर मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
इह बानक मो मन सदा बसौ बिहारीलाल॥"

सौन्दर्य का यह वर्णन सीधे कृष्ण के प्रसिद्ध बिम्ब से जोड़ देता है।

लक्षणा

मुख्यार्थ को बाधित करके रूढ़ि अथवा प्रयोजन के माध्यम से जहाँ अन्य अर्थ लक्षित होता है वहाँ शब्द की लक्षणा-शक्ति कार्य करती है। मुख्यार्थ में व्याघात से अभिप्राय वाच्यार्थ के प्रत्यक्ष विरोध से है। वक्ता जो कहना चाहता है, श्रोता उसके कथन को प्रयोग के प्रचलन से, रूढ़ि से अथवा प्रयोजन से ऐसा अर्थ निकाले जो वाच्यार्थ से सम्बन्ध रखते हुए भी अलग अर्थ को लक्षित करे, जैसे—"भारत धर्मनिरपेक्ष देश है।" यहाँ भारत कोई व्यक्ति नहीं जो धर्मनिरपेक्ष हो। कहने का अभिप्राय है कि भारतीय संविधान, भारत देश के वासी, भारतीय नियम व्यवस्था—ये सभी धर्मनिरपेक्ष हैं।

लक्षणा दो पर आधारित है—रूढ़ि और प्रयोजन।

रूढ़ि लक्षणा

मुख्यार्थ को छोड़कर रूढ़िवश अथवा प्रचलन होने के कारण अन्य अर्थ जहाँ ग्रहण किया जाय, जैसे—

"प्रीति कर काहू सुख न लह्यो
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपुहि प्रान दह्यो ।"

दीपक पतंग के पारम्परिक उदाहरण को गोपियाँ निजी प्रेम की पीड़ा में व्यक्त कर रही हैं ।

प्रयोजनवती लक्षणा

विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए जहाँ लक्षणा की जाती है, जैसे—

"रो-रोकर सिसक-सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी ।"

यहाँ 'सुमन नोचना' की योजना द्वारा कवि ने प्रिय की निष्ठुरता के प्रयोजन को लक्षित किया है । यह लक्षणा दो प्रकार की है—गौणी और शुद्धा ।

गौणी लक्षणा

गौणी लक्षणा मुख्यार्थ को बाधित करके सामान्य रूप, गुण, धर्म, सादृश्य सम्बन्ध के आधार पर अन्य अर्थ को लक्षित करती है । उस लक्षण में उपमा, रूपक जैसे सादृश्यमूलक अलंकारों का वैशिष्ट्य दिखाई देता है । 'पुरुष सिंह है' कहने से पुरुष सिंह (पशु) नहीं हो गया अपितु उसके पुरुषत्व और सिंह के सिंहत्व की सदृशता दिखाने के लिए ऐसा प्रयोग किया गया है । उदाहरणार्थ—

"रनित भृंग घंटावली झरित दान मधुनीर ।
मंद मंद आवत चल्यो कुंजर-कुंज-समीर ॥"

यहाँ वासन्ती ऋतु में हाथी का आरोपण किया गया है । गौणी लक्षणा के भी दो भेद हैं—सारोपा और साध्यवसाना ।

सारोपा गौणी लक्षणा

एक वस्तु का दूसरी वस्तु में भेदज्ञापन आरोप कहलाता है । 'मुखचन्द्र' में मुख आरोप विषय है जबकि चन्द्र आरोप्यमाण या विषयी है । इस लक्षणा में सादृश्य-सम्बन्ध के आधार पर आरोप और आरोप्यमाण दोनों ही के कथन से यथार्थ के बाधित होने पर भी अन्यार्थ लक्षित होता है ।

"अलि कुहरा-सा नभ, विश्व
मिटे बुद्‌बुद जल-सा
यह दुःख का राज्य अनन्त
रहेगा निश्चल-सा

हूँ प्रिय की अमर सुहागिनी
पथ की निशानी नहीं।
मैं प्रिय पहचानी नहीं॥"

कुहरे से भरा नभ और जल के बुलबुले सदृश यह विश्व है अर्थात् प्रकृति पर क्षणभंगुरता का आरोप किया गया है किन्तु कवयित्री ने स्वयं को 'अमर सुहागिनी' कहकर मुख्य अर्थ को बाधित कर दिया है और एक नया अर्थ उभरता है, प्रिय की पहचान ही न होना। क्षणभंगुरता में छिपी शाश्वतता की तरह ही प्रिय की पहचान बिना अखण्ड सुहागिनी की अनुभूति को लक्षित किया गया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा

मुख्यार्थ में बाधा होने पर सादृश्य-सम्बन्ध के आधार से आरोप्यमाण द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति जहाँ हो, वहाँ साध्यवसाना गौणी लक्षणा होती है, अर्थात् उपमेय का कथन न होकर यहाँ केवल उपमान का कथन होता है, जैसे—

"कलियों को उन्मुख देखा
सुनते वह करुण कहानी
फिर देखा उड़ जाते भी
मधुकर को कर मनमानी।"

यहाँ उपमान रूप में कलियों को भ्रमर की शोषक वृत्ति की करुण कहानी सुनते और फिर भौंरे को मनमाने ढंग से एक फूल का रस चूसकर दूसरे फूल पर गुँजार करते प्रस्तुत किया गया है। यहाँ उपमेय की स्थिति भी वही है, प्रिय भौंरे के सदृश ही छली है।

शुद्धा लक्षणा

सादृश्य-सम्बन्ध के अतिरिक्त किसी अन्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का ज्ञान इसी शब्द-शक्ति से कराया जाता है।

"अबे! सुन बे गुलाब
भूल मत गर पाई खुशबू रंगो आब,
खून चूसा फूल का तूने अशिष्ट
डाल पर इठला रहा कैपिटलिस्ट।

निराला की इन पंक्तियों में गुलाब में कैपिटलिस्ट का प्रतीक शोषणवृत्ति के कारण है। सादृश्य-सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों में सामीप्य, तात्कर्म्य, अंगांगि, आधार-आधेय, कार्य-कारण सम्बन्ध हैं। निराला की उपर्युक्त पंक्तियों में तात्कर्म्य सम्बन्ध है। गुलाब फूलों का राजा कहा जाता है, उसने शोषणवृत्ति द्वारा ही खुशबू,

रंग सभी कुछ प्राप्त किया है, जैसे कोई पूँजीपति (कैपिटलिस्ट) दलितों के खून-पसीने की कमाई से पूँजीपति बनता है। 'अबे सुन बे गुलाब' के सम्बन्ध में निराला का उपेक्षा भाव कैपिटलिस्ट की शोषणवृत्ति को लक्ष्य करके हैं। इसके भी दो भेद हैं—उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा।

उपादान-लक्षणा

जहाँ मुख्यार्थ की बाधा होने पर तथा वाच्यार्थ-संगति के लिए अन्य अर्थ लक्षित होने पर भी निजी अर्थ टूटता नहीं वहाँ उपादान-लक्षणा होती है, जैसे, निम्नलिखित कविता में—

"विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है।
अरी हृदय को थाम महल के लिए झोपड़ी बलि होती है॥"

लक्षण-लक्षणा

जहाँ मुख्यार्थ की बाधा होने पर वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए प्रसंगानुकूल मुख्यार्थ का त्याग कर दिया जाता है किन्तु सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों के सहारे भिन्न अर्थ ग्रहण किया जाता है, जैसे—

"लहरों में प्यास भरी है,
है भँवर पात्र भी खाली।
मानस का सब रस पीकर
लुढ़का दी तुमने प्याली।"

'आँसू' के परिवेश को देखते हुए प्रिय की निष्ठुरता की पराकाष्ठा में आश्रय की भावशून्यता की स्थिति का लक्ष्यार्थ उभर कर आता है।

व्यंजना

व्यंजना का शाब्दिक अर्थ है—विशेष रूप से स्पष्ट करना अथवा विकसित करना। अभिधा, लक्षणा—दोनों से जहाँ अर्थ नहीं स्पष्ट होता वहाँ शब्द की व्यंजना-शक्ति काम कर रही होती है। संस्कृत का बहुत ही प्रचलित उदाहरण है—"गंगायां घोषः" इसका अभिधार्थ हुआ—"गंगा में गाँव" जो संभव नहीं है। लक्षणा-शक्ति से काम लें तो अर्थ निकलता है—"गंगा के समीप गाँव" लेकिन यहाँ भी वक्ता का यह अभिप्रेत अर्थ नहीं है। "पवित्र शीतल गाँव" वाला अर्थ तो व्यंजना द्वारा ही निकलता है। गंगा की पवित्रता और शीतलता द्वारा गाँव के इसी गुण को व्यंजित किया गया है। व्यंजना-शक्ति से सम्पन्न शब्द व्यंजक कहलाता है और उससे निकला अर्थ व्यंग्यार्थ।

"मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परे स्याम हरित दुति होय॥"

यहाँ श्याम का हरे रंग में परिणत होना नहीं अपितु निराशा में आशा का संचरण है।

व्यंजना के दो भेद है—शाब्दी और आर्थी।

शाब्दी

जहाँ व्यंजना का आधार शब्द होते हैं वहाँ शाब्दी व्यंजना होती है। शब्द के दो रूप हैं—अभिधामूलक और लक्षणामूलक। इसी आधार पर शाब्दी व्यंजना के भी दो रूप माने गये।

अभिधामूलक शाब्दी व्यंजना

अनेक अर्थोंवाले शब्दों का संयोग के आधार पर अभिधा द्वारा एक निश्चित अर्थ निकलता हो तो उस शब्द-शक्ति को अभिधामूलक शाब्दी व्यंजना की संज्ञा दी जाती है, जैसे—

"अजौ तर्‌योना ही रह्यो श्रुति सेवक इक अंग।
नाक वास वेसरि लह्यो बसि मुकतन को संग॥"

यहाँ श्रुति-सेवक-वेदपाठियों का जीवन्मुक्त के सत्संग में उद्धार होना प्रमुख अर्थ है, लेकिन इसके पश्चात् एक और अर्थ 'तरयोना' और वेसरि जैसे आभूषण लेकर है जो शाब्दी व्यंजना का व्यापार है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना

लक्ष्यार्थ द्वारा जहाँ एक अर्थ निश्चित हो जाये फिर कोई दूसरा अद्‌भुत अर्थ निकले वहाँ लक्षणामूलक व्यंजना होती है, जैसे—

"आयो बसंत नहीं घर कन्त लगीं सब अन्त की होन इलाजैं
बैठि रही हमहूँ हियहारि कहाँ लगि टारिये हाथन गाजैं॥"

यहाँ 'हाथन गाजैं टारने' में विरह-व्यथा के दूर करनेवाले उपचारों का साध्यवसान है लेकिन व्यंग्यार्थ है कि प्रिय साक्षात् के अभाव में वेदना दूर होने वाली नहीं है।

आर्थी व्यंजना

व्यंग्य जहाँ शब्द पर आधारित न होकर अर्थ पर आधारित होता है। दूसरे शब्दों में, जो शब्द-शक्ति वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य, अन्यसन्निधि वाच्य, प्रकरण, देश-काल, काकु चेष्टा आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है वह आर्थी व्यंजना कही जाती है। वक्ता-विशेष के कथन से जो व्यंग्य उद्‌घाटित हो, जैसे—

"दुःख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज जो नहीं कही।"

निराला की ये पंक्तियाँ सामान्यतः कोई महत्व नहीं रखतीं लेकिन इन पंक्तियों के पीछे निराला का समूचा व्यक्तित्व छिपा हुआ है जो तमाम चुप्पी के बावजूद इन पंक्तियों में बहुत कुछ कह गया है। निराला का अपराजेय व्यक्तित्व समाज, परिवार, परिस्थिति—इन सबके थपेड़ों के बावजूद नहीं हारा था लेकिन 'सरोज स्मृति' की ये पंक्तियाँ उस समूचे परिवेश का रेशा-रेशा उधेड़ने को विवश कर देती हैं। वाच्यार्थ से भी व्यंग्य निकलता है, जैसे—

"खेलन सिखये अलि भले चतुर चितेरे मैन।
चाहत पिय अद्वैतता काननचारी नैन॥"

यहाँ सखी नेत्रों के काननचारी होने की बात कहकर सन्देश देती है कि जिस प्रकार वन में बसनेवाला योगी ब्रह्म से अद्वैतता चाहता है उसी प्रकार नायिका के नेत्र भी प्रिय से मिलने को व्याकुल हैं।

लक्ष्यार्थ से भी यह व्यंग्य उद्घाटित होता है—

"यह तीव्र हृदय की मदिरा
जी-भर कर छककर मेरी
अब लाल आँख दिखलाकर
तुमने ही मुझको फेरी।"

आँखें लाल क्रोध में भी होती हैं और शृंगारिक स्थिति में भी। यहाँ जी-भर कर भावनाओं के साथ खिलवाड़ करके उसे नकार दिया गया है। बोद्धव्य की विशेषता से भी व्यंग्य उभर कर आता है—

"ऊधौं जाहु तुम्हें हम जाने
वा मथुरा काजरि को कोठरि जे आवे तेइ कारे।"

गोपियों की झुंझलाहट इतनी अधिक बढ़ गयी है कि सामान्य शिष्टाचार भी उनके बस का नहीं रह गया है। अतिथि का भी वे तिरस्कार कर देती हैं—यह कहकर कि तुम्हें हम जान गये हैं, मथुरा काजल की कोठरी है, तुम भी वहीं से आये हो अतः तुम भी वही करोगे जो अब तक सभी ने किया है। जितने कुटिल मिले वो सब काले ही थे अतः तुम कैसे अलग होगे ? यहाँ प्रकारान्तर से मथुरा निवासियों पर कृष्ण (काला) का प्रभाव भी व्यंजित है। कृष्ण अर्थात् काले का निवास स्थान मथुरा काजल-कोठरी है। एक बार भी वहाँ हो आने वाला कृष्ण का पक्षधर (कृष्णमय) बन जाता है। देश-काल, चेष्टा आदि के द्वारा भी व्यंग्यार्थ पुष्ट होता है, जैसे—

"निकल रही थी मर्म वेदना,
करुणा विकल कहानी-सी।
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही,
हँसती-सी पहचानी-सी॥"

प्रकृति का अकेलापन उस समूचे परिवेश को उद्घाटित कर रहा है। एक संस्कृति विनष्ट हो चुकी है, दूसरी सृजन की प्रक्रिया में है। यह व्यंग्यार्थ अर्थ पर निर्भर है।

आज का साहित्य कहता कम है, संकेत अधिक देता है। इसलिए व्यंजना का महत्व अधिक बढ़ गया है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि अभिधा और लक्षणा का अस्तित्व ही न रह गया हो। भाषा के बहुविध रूप अलग-अलग माँग करते हैं और अभिव्यक्ति जिस तरह भी सहज सम्प्रेषित हो सके, वही शब्द-शक्ति उपयोग में लायी जाने लगती है।



पाश्चात्य काव्यशास्त्र

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की रूपरेखा

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का आरम्भ-बिन्दु यूनान है। भारतीय मनीषा जिस प्रकार समस्त समस्याओं का समाधान और कला-संस्कृति का केन्द्रबिन्दु वेद को मानती है ठीक उसी प्रकार पश्चिमी विद्वान् जब तक किसी क्षेत्र का इतिहास यूनानी विचार-धारा से सम्बद्ध नहीं करते उन्हें आश्वस्ति नहीं मिलती। और जब यूनान का नाम आता है तो परम्परा की गत्यात्मक अखण्डता प्लेटो-अरस्तू के उल्लेख के अभाव में असंभव लगती है।

प्लेटो, अरस्तू ने अलग से काव्यशास्त्र का कोई ग्रन्थ नहीं लिखा लेकिन उनके विचार उनके सीमित लेखन में बिखरे पड़े है। प्लेटो के काव्य-सम्बन्धी विचार भी 'आयोन', 'फएड्रस' तथा 'रिपब्लिक' में मिलते हैं। इन विचारों के आधार पर ही काव्य के प्रेरणास्रोत कविकर्म, काव्य के स्वरूप, उपयोगिता, विन्यास आदि पर विचार किया गया है। काव्य की प्रेरणा-शक्ति को प्लेटो सर्वोपरि मानता है। उसकी मान्यता हैं कि "कवि प्रकाश है, उसमें उड़ान भरने की शक्ति है, वह पवित्र है। लेकिन अलौकिक प्रेरणा के अभाव में वह कुछ भी अन्वेषित नहीं कर सकता।" श्रेष्ठ रचना अनुप्रेरित होने से होती है जिसे यूनान में दैवी प्रेरणा की संज्ञा मिली। काव्य में सत्य का आधार और लोकमंगल की स्थापना को प्लेटो ने महत्वपूर्ण बताया। रिपब्लिक पुस्तक में प्लेटो ने काव्य पर आरोप लगाते हुए कहा है कि वह वासना को जाग्रत और पुष्ट करती है। इस पुस्तक में यहाँ तक कहा गया कि कवि को राज्य में रहने की जगह नहीं है। वह केवल ऐसे कवि को राज्य का नागरिक बनाना चाहेगा जो पुण्यात्माओं का गुणगान करता है, जो अभिभावकों के नियमानुसार कविता लिखता हो अर्थात् प्लेटो की दृष्टि में काव्य का आदर्श है जो नागरिकों को गुणों से भूषित करे तथा उच्चतर चारित्रिक स्तर पर प्रतिष्ठित कर सके। इसके अतिरिक्त उसने यह भी प्रतिपादित किया कि कला सत्य से दूर है, वह अनुभूति की अनुकृति है। उपयोगी कला की अपेक्षा वह कविकर्म को निकृष्ट श्रेणी का कहता है। जर्मन शिक्षाविद् कैंपे की भी धारणा है कि काव्य-रचना की जगह ऊन कातना अधिक उपयोगी है।

यूनानी काव्यशास्त्र की परम्परा में प्रमुख स्थान प्लेटो के शिष्य अरस्तू का है। अरस्तू ने सर्वप्रथम साहित्य और कला की क्रमबद्ध व्याख्या की। प्लेटो ने काव्य को असत्, हीन, हानिकारक बताया तो अरस्तू ने उसके विपरीत काव्य को सत्, गम्भीर

और उपयोगी बताया। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पोइटिक्स' में उसने 'अनुकृति' शब्द का नवीन अर्थ ग्रहण करते हुए उसे एक विशिष्ट प्रक्रिया बताया। हिन्दी का अनुकरण शब्द यूनानी के Mimesis का तथा अँग्रेजी के Imitation का अनुवाद है और प्लेटो से भी पहले से प्रचलित है। लेकिन अरस्तू 'कला को प्रकृति का अनुकरण' कहकर उसे एक विशिष्ट अर्थ देते हैं, वह इसे 'पुनःसर्जन' जैसे कार्य से जोड़ते है। अनुकरण द्वारा कवि विषयवस्तु को नवीन अभिप्राय, अर्थ और मूल्य से समन्वित करता है। कला जीवन की कल्याण-साधना में बाधक नहीं होती अपितु सौन्दर्य-साधना में अनुरक्त रहकर आनन्द की सिद्धि करती है। अरस्तू ने वस्तु-निष्ठता के आधार पर काव्य की संघटना का विश्लेषण किया है। अपने ग्रन्थ में उसने मुख्यतः 'त्रासदी' और 'विरेचन' का जिक्र किया है। त्रासदी, 'ट्रेजेडी' का हिन्दी रूपान्तर है। सर्वप्रथम त्रासदी तत्त्व के व्याख्याकार अरस्तू हुए। उनके मत में त्रासदी दृश्यकाव्य का एक भेद है, उसकी आधारभूत कथा गम्भीर होती है, उसका एक निश्चित आयाम होता है तथा स्वयं में वह पूर्ण होती है। इसके साथ ही वह जीवन के अनेक गम्भीर पक्षों का चित्रण भी करती है। त्रासदी के ही द्वारा भावों को जाग्रत करके विरेचन पद्धति के माध्यम से मानव-मन का परिष्कार होता है। त्रासदी का कर्त्तव्य कार्य केवल करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है, किन्तु इन्हें एक अनिश्चित कल्पनात्मक परितोष प्रदान करना है। इनको कला के माध्यम में डालकर परिष्कृत तथा स्पष्ट करना है। त्रासदी की परिभाषा में प्रयुक्त विरेचन शब्द ने भी विद्वानों को आकर्षित किया। दरअसल, विरेचन शब्द यूनानी चिकित्साशास्त्र से ग्रहण किया गया है जिसका अर्थ 'रेचक' औषधि द्वारा उदर-विकारों की शुद्धि है। रेचक औषधि का यहाँ लाक्षणिक प्रयोग है। त्रासदी आदिकला के रूप में मनोविकारों की शुद्धि करती है। जाहिर है कि यहाँ अरस्तू ने कलात्मक आस्वाद की ओर संकेत कर दिया है। सबसे बड़ी उपलब्धि तो यह रही कि अरस्तू ने काव्य की स्वतन्त्र सत्ता और अस्तित्त्व की घोषणा की। कवि-स्वभाव और काव्य के स्वरूप का प्रकृत सम्बन्ध भी अरस्तू ने बताया। यह अवश्य है कि अरस्तू ने काव्य को वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से देखा-परखा है, किन्तु उनके अवदान से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

आगस्टन सम्राटों ने कवियों को राज्याश्रय दिया। उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि की। वर्जिल और होरेस ने इस युग को अमर बना दिया। होरेस इस युग का प्रतिनिधि साहित्यकार और आलोचक था। उसमें यवनानी क्लासिकल कला का उदात्त रूप देखा जा सकता है। 'आर्स पोइतिका' जो होरेस द्वारा उसके पुत्रों को लिखा गया लम्बा छन्दोबद्ध पत्र है, उसमें काव्य के सम्बन्ध में बिखरी हुई धारणाएँ संगृहीत हैं। उसकी दृष्टि में साहित्य का उपयोगितावादी होना अनिवार्य है। इसके साथ ही लेखक का

उद्देश्य सही शब्दों की तलाश होना चाहिए 'आर्स पोइतिका' में मुख्यतः तीन वस्तुओं पर विचार किया गया है—१. विषयवस्तु, २. रूपतत्त्व, ३. कवि। होरेस ने काव्य के विभिन्न अवयवों में परस्पर तथा प्रत्येक अवयव का सम्पूर्ण रचना के साथ सार्थक सम्बन्ध अनिवार्य माना है। अनुभूति की ईमानदारी भी होरेस की दृष्टि में महत्वपूर्ण है, क्योंकि अनुभूति के प्रति ईमानदार होने पर ही कोई कवि सहृदय के चित्त में तद्वत् अनुभूति उत्पन्न कर सकता है। उसकी दृष्टि में काव्य का प्रयोजन—काव्य शिक्षा तथा आनंद दोनों है। कवि कल्पना तथा यथार्थ को मिलाकर नवीन सृष्टि करता है, इस अर्थ में कवि कर्म कष्टसाध्य है।

१२वीं शताब्दी में साहित्यिक आलोचना को दाँते-कृत 'द वल्गारि एलोकियो' जैसा एक अमूल्य ग्रन्थ प्राप्त हुआ। अरस्तू के बाद यूनान के लांजाइनस विचारक काव्यशास्त्री हुए। इनका समय ई० पू० तीसरी शताब्दी माना जाता है। लांजाइनस का 'काव्य में उदात्त तत्त्व' ग्रन्थ भी दाँते से कम उपयोगी नहीं है। अपने इस ग्रन्थ में लांजाइनस ने काव्य का विशद विवेचन करते हुए दो तत्त्वों को प्रमुख माना है—१. काव्य की विषयवस्तु का चुनाव, २. तदनुरूप भाषा का प्रयोग। विचारों की भव्यता और भावावेग की सघनता का सम्बन्ध कवि की आत्मा से सम्बद्ध है। लांजाइनस का विश्वास था कि श्रेष्ठ साहित्य की रचना के लिए एक उदात्त शैली भी आवश्यक है। किन्तु यह वाक्यविन्यास की श्रेष्ठता अथवा विस्तृत शब्दाडम्बर नहीं है। यह उदात्त तत्त्व उचित अवसर पर प्रस्फुटित होकर अपना आलोक विकीर्ण कर लेखकीय शक्ति का परिचय देता है और इसके लिए प्रतिभा के साथ ही गहन अध्ययन भी आवश्यक है। काव्य कवि की आत्मा का, उसकी संपूर्ण प्रकृति का फल है। लांजाइनस के विचार में समीक्षक केवल आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति नहीं करता अपितु लेखक द्वारा प्रयुक्त साधनों की विवेचना भी करता है। इस अर्थ में देखें तो रचनाकार और समीक्षक का एक ही अनुभव दायरे से जुड़ने का सवाल सर्वप्रथम लांजाइनस ने ही उठाया जो प्रभाववादी समीक्षा से अलग है। डेविड डैचेज ने उसके विवेचन को व्यावहारिक समीक्षा का विवेचन माना है।

काव्य को जीवन की आलोचना कहनेवाले इंग्लैण्ड निवासी कवि समीक्षक मैथ्यू आर्नाल्ड अँग्रेजी साहित्य के विक्टोरिया युग के अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के प्रख्यात आलोचक थे। साहित्यालोचन और समाज के सम्बन्धों पर आर्नाल्ड ने अधिक सफाई और विस्तार से लिखा है। उनके ग्रन्थ 'कल्चर एण्ड एनार्की' का प्रतिपाद्य यही है। इसके अतिरिक्त 'एसेज इन क्रिटिसिज्म' के कुछ निबन्धों में भी इसका विवेचन है। स्वच्छन्दतावादी आत्मानुभूति के विरुद्ध उन्होंने यूनानी अभिजातवादियों की तरह संयम, तटस्थता और वस्तुनिष्ठता का समर्थन किया। यूनानी कविता की तीन बातों

से वे प्रभावित थे और उससे सीख लेने की बात करते थे—विषय चयन, सही निर्माण और अभिव्यंजना की गौणता। आर्नल्ड के सिद्धान्तों में एक तरह का अन्तर्विरोध व्याप्त है। बुद्धि से अभिजातवादी किन्तु हृदय से समसामयिक रोमैण्टिक मन और स्थितियों का हिमायती होने के कारण वे एक ओर मानवीय क्रिया-कलापों की काव्यात्मक संघटना के पक्षपाती थे तो दूसरी ओर अनजाने ही विक्टोरियायुगीन अनुभूतियों से अभिभूत थे।

कुल मिलाकर आर्नाल्ड के आलोचक का काम था 'संस्कृति' का संवर्धन और उन्नयन। इन्होंने काव्य को ही शाश्वत मूल्यों का अक्षयस्रोत माना, उसे जीवन की आलोचना कहा और शिवत्व तथा नैतिक उपदेश को कला के मूल्यांकन की कसौटी बताया। काव्य की प्रक्रिया के विषय में इन्होंने कुछ नहीं कहा जबकि उसे जाने बगैर काव्य का मूल्यांकन सम्भव ही नहीं है।

लन्दन में जन्मे वाल्टर होरैशियो पेटर कलावादी एवं लालित्य बोध के विचारकों में हैं। वाल्टर पेटर ने माना कि लेखक का उद्देश्य जीवन या वास्तविकता की अनुभूति प्रस्तुत करना नहीं है अपितु उसके प्रति अपनी भावना का प्रकाशन करना है, अभिव्यक्ति में ही सत्य अवस्थित होता है। अतः इन्होंने रूपवादी प्रवृत्ति का आरम्भ किया। फ्रान्स में सन् १८७० और १८८५ के बीच कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रतीकवाद नामक रूपवादी आन्दोलन साहित्य में प्रचलित हुआ। बादलेयर, बर्लैन, रिम्बा, मलार्मे तथा इलियट इसी धारा में हुए। रूपवादी प्रवृत्ति के अनुसार लेखक का उद्देश्य वस्तु का यथार्थ चित्रण करना नहीं, उसके प्रभाव का वर्णन करना है।

बीसवीं शती के आरम्भ में ही इर्विंग बेबिट्-जैसे नीतिवादी विचारक के कारण आलोचना ने एक नयी दिशा पकड़ी। इनके अनुसार कलात्मक सृजन का अनुभव सहजानुभूति की क्रिया है जो मन में पूर्णता प्राप्त कर लेती है। कलाकार उसकी ओर आत्मसुख के कारण प्रवृत्त होता है।

इंग्लैण्ड के चैशायर में सन् १८९३ ई० में जन्मे आई०ए० रिचर्ड्स ने साहित्य का एक वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया, क्योंकि वैज्ञानिक युग में बुद्धिवादी तरीके से मानवीय प्रयत्नों के बीच कविता का स्थान सुनिश्चित करना अनिवार्य था। 'प्रिंसिपुल्स ऑफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म' के पाँच अध्यायों में उसने आधारभूत मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का विश्लेषण किया है। रिचर्ड्स की दृष्टि में "अनुभवों के अन्तर (सम्बद्ध, असम्बद्ध अनुभव) को स्पष्ट तथा उन्हें मूल्यांकित करने का प्रयास आलोचना है।" काव्य का अनुशीलन वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के लिए उपयोगी मनोव्यवस्था का विकास करता है। ऐसी मनोदशा उसके मत में सहसंवेदन (साइनेस्थेसिस) है जिसे दूसरे शब्दों में आवेगों का संघटन अर्थात् अनेक भावों का एक साथ उद्रेक भी कहा जा

सकता है। काव्यानुभूति को वह आनंदानुभूति नहीं मानते, फिर भी सौन्दर्यशास्त्रीय अनुभव की समाधि-स्थिति अर्थात् अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य को वह स्वीकारते हैं। इसी को आचार्य शुक्ल हृदय की मुक्तावस्था या रसदशा कहते हैं। सम्प्रेषण प्रक्रिया पर भी रिचर्ड्स ने विचार किया है। काव्य को वह अनुभूतियों की संश्लिष्ट संघटना कहते हैं। काव्य वह बिन्दु है जिस पर कवि और प्रमाता मिलते हैं। कवि के द्वारा सम्प्रेषित अनुभूतियों को प्रमाता अपनी योग्यतानुसार ग्रहण करता है। अतः प्रमाता में भी कवि-अनुभूति उत्पन्न होती है। रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धान्त की आलोचना हुई। रिचर्ड्स मानते हैं कि समस्त अनुभव, कलामूल्यों के साथ जुड़े हैं। सौन्दर्यानुभूति विशिष्ट तथा विलक्षण होती है और मूल्यों से जुड़ी होती है अतः कला संचित मूल्यों का भण्डार हैं। लेकिन आलोचकों ने इस सिद्धान्त को जे० एस० मिल के उपयोगितावाद से प्रभावित बताया। इलियट स्वच्छन्दतावाद के विरोध में कहते हैं कि "कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करता। वह केवल माध्यम होता है।" इसी आधार पर इनका सिद्धान्त निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त कहलाता है। इसी निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त को माननेवाले इलियट ने रिचर्ड्स पर वैयक्तिकता का आरोप लगाते हुए कहा कि उसके काव्यात्मक अनुभव का मनोविज्ञान जिस प्रकार खुद उसी के काव्यानुभव पर आधारित है उसी प्रकार उसका मूल्य-सिद्धान्त उसके अपने मनोविज्ञान पर। रिचर्ड्स के अर्थमीमांसा सिद्धान्त का, जो व्यावहारिक होने के साथ वस्तुमुखी है, विद्वानों में स्वागत हुआ। यह सिद्धान्त 'मीनिंग ऑफ मीनिंग' तथा 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' जैसी कृतियों में प्रतिपादित किया गया है। अर्थ के चार प्रकारों का उल्लेख है—वाच्यार्थ (सेंस), भावना (फीलिंग), पाठक के प्रति वक्ता की अभिवृत्ति (टोन) तथा उद्देश्य (इंटेंशन)। इसी सन्दर्भ में प्रसंग-गर्भता का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है अर्थात् शब्दों में कुछ अर्थ मौजूद होते हैं और कुछ प्रसंग के कारण उपस्थित हो जाते हैं। शब्द का एक निश्चित अर्थ है किन्तु कवि के उद्देश्य और भावनाओं के अनुसार उनमें नवीन अर्थ भर जाता है। इसीलिए श्रेष्ठ रचनाओं में ऐंबिग्युटी (अनेकार्थता) जैसा तत्त्व स्वीकार किया गया है। इस सन्दर्भ में ब्रुक्स का कहना है कि काव्य में जटिलता अनिवार्य है, क्योंकि इसी से काव्य अपनी संश्लिष्टता में अन्वितिपूर्ण तथा अनेक अर्थों से समन्वित होता है।

रिचर्ड्स ने अर्थमीमांसा अथवा भाषिक संरचना पर बल दिया और आलोचना का नया रास्ता निकाला। भाषिक विश्लेषण से आलोचना वैज्ञानिकता के निकट आयी और नयी आलोचना की पृष्ठभूमि तैयार हुई।

अमेरिका के सेण्ट लुई स्थान में सन् १८८८ में जन्म लेनेवाले टी० एस० इलियट ने काव्य और काव्यालोचन के सन्दर्भ में नयी मान्यताएँ प्रस्तुत कीं। सर्वप्रथम तो उसने माना कि कवि ही सच्चा आलोचक हो सकता है। यहाँ ध्यातव्य है कि भारतीय

परम्परा में माना जाता था कि असफल कवि सफल आलोचक होता है लेकिन इलियट के प्रभाव से भारतीय मान्यता में भी बदलाव आया। 'छायावाद' के 'काव्यशास्त्र' को प्रतिष्ठित करने का श्रेय छायावादी कवियों को ही है। इसके अतिरिक्त प्रयोगवाद का समूचा काव्यशास्त्र सप्तकों की भूमिकाएँ हैं। टी० एस० इलियट का विचार इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि कवि के विचार उसके काव्य से सामंजस्य स्थापित करते हैं। उसने स्वच्छन्दतावादी काव्यदृष्टि के विरुद्ध विद्रोह किया और ह्यूम के सदृश माना कि मानव व्यक्तित्व सीमित है। आलोचक का कर्त्तव्य है कि ऐसी वस्तुनिष्ठ सत्ता की खोज में प्रवृत्त हो जो परिपक्व काव्य-निर्माण की प्रेरणा दे सके। और इसके लिए आवश्यक है कि कवि अपने व्यक्तित्व से दूर हटकर सार्वभौमता की अभिव्यक्ति करे। वह स्पष्टतः कहता है कि कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करता। वह केवल माध्यम होता है। इस माध्यम में ही अनेक प्रभाव और अनुभव अप्रत्याशित तथा विचित्र ढंग से समन्वित होते हैं। जो प्रभाव और अनुभव व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं—काव्य में उनका कोई स्थान नहीं हो सकता है और जो काव्य में अभिव्यक्त होते हैं वे कवि व्यक्तित्व में नगण्य हो सकते हैं। कहने का अभिप्राय है कि एक तो कवि माध्यम है, दूसरे, उसमें अनेक प्रकार के अनुभवों का सामंजस्य घटित होता है। पर यहाँ इलियट यह भूल जाता है कि कवि सचेतन प्राणी है अतः सक्रियता उसकी प्रकृति है। अपने इस निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त के दो रूप इलियट ने माने हैं—एक निर्वैयक्तिकता स्वाभाविक होती है जो एक शिल्पी में है, दूसरी निर्वैयक्तिकता वह है जिसे प्रौढ़ कलाकार उपलब्ध करता है। काव्य के दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता ही श्लाघ्य मानी गयी है। दरअसल, इलियट कहना यह चाहता था कि वैयक्तिकता का प्राधान्य कविता की श्रेष्ठता के आगे प्रश्नवाचक चिह्न खड़ा कर देता है। कविता में निजीपन की अतिशयता का परिहार आवश्यक है भी क्योंकि तटस्थ भाव से ही कवि सार्वजनीन भावों की अभिव्यक्ति कर सकता है। इलियट ने इसके बाद वस्तुनिष्ठ-समीकरण (ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। यह सिद्धान्त कृति की संरचना को महत्त्व देता है। कवि अपने संवेगों को पाठकों तक सम्प्रेषित करने के लिए वस्तुओं, स्थितियों तथा घटनाओं की श्रृंखला का चयन करता है। गहराई से देखा जाये तो यह सिद्धान्त प्रतीकवादियों से प्रभावित है, जिनकी मान्यता है कि काव्य सीधे भावाभिव्यक्ति नहीं करता है। मेलार्मे, एजरा पाउंड कविता में अर्थगत रागात्मकता और सांकेतिकता का समर्थन करते हैं।

इलियट काव्य की समग्रता और संरचना पर जोर देता है जो भाषिक है और रूपक बिम्ब, प्रतीक का महत्त्व भी काव्य की आन्तरिक अनिवार्यता के रूप में इलियट ने स्वीकार किया है। कविता हृदय, मन और बुद्धि के द्वन्द्व का परिणाम है। इस अर्थ में इलियट की दृष्टि में कविता अन्तर्विरोधों की रिपोर्ट है।

प्रख्यात सौन्दर्यशास्त्री-बेनेदेतो क्रोचे का जन्म इटली के नेपल्स नगर में १८६६ ई० में हुआ। बेनेदेतो क्रोचे का अभिव्यंजनावाद का सिद्धान्त भी पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण आयाम है। क्रोचे इटली का दार्शनिक विचारक था। उसने पश्चिमी कला, साहित्य, अर्थशास्त्र, दर्शन का गहन अध्ययन किया था। क्रोचे के मत में प्रभाव की रूप रचना अभिव्यंजना या कला है। अभिव्यंजनावाद वस्तुतः सौन्दर्यशास्त्र का विषय है, साहित्य और आलोचना का नहीं। क्रोचे की मान्यता है कि कलात्मक सृजन का अनुभव सहजानुभूति की क्रिया है जो मन में पूर्णता प्राप्त कर लेती है। वह कला को स्वान्तःसुखाय मानता है। क्रोचे का कहना है कि "ज्ञान दो प्रकार का होता है—प्रातिभज्ञान और प्रज्ञात्मक ज्ञान। पहला ज्ञान कल्पना-प्रसूत होता है और दूसरा बुद्धि-प्रसूत। पहला व्यष्टिगत या व्यक्तिगत होता है तो दूसरा समष्टिगत या सार्वदेशिक (यूनिवर्सल)। पहले प्रकार के ज्ञान द्वारा वस्तु के बिम्ब निर्मित होते हैं तो दूसरे के द्वारा उनकी अवधारणाएँ, विचार या प्रत्यय।" प्रातिभज्ञान ही स्वयंप्रकाश-ज्ञान अथवा सहजानुभूति है। बाह्य वस्तुओं के इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न संवेदना का कोई रूपाकार नहीं होता इसीलिए आत्मा संवेदना का अनुभव तो करती है किन्तु उसे अभिव्यंजित नहीं कर पाती। आन्तरिक क्रिया इसे स्वायत्त करके उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है, यही अभिव्यंजना है, सहजानुभूति है। क्रोचे की दृष्टि में कला आध्यात्मिक क्रिया है अतः काव्य का शब्दबद्ध होना और चित्र का रेखाबद्ध होना अनिवार्य नहीं है। कलात्मक उपकरण कला का बाह्य विधान है। अभिव्यंजना को साधन की अपेक्षा नहीं है क्योंकि प्रातिभज्ञान स्वतन्त्र और निरपेक्ष है। यह सिद्धान्त कई सवालिया सिद्धान्त खड़े कर देता है। क्योंकि अगर काव्य शब्दबद्ध न हो और चित्र रेखाबद्ध न हो तो कौन-सा माध्यम है जिसके आधार पर आलोचक विश्लेषण करेगा ?

क्रोचे की दृष्टि में कला या अभिव्यंजना अखण्ड तथा अविभाज्य है। दूसरे शब्दों में कहें, अभिव्यंजना वर्गीकृत नहीं हो सकती, क्योंकि वह एक आध्यात्मिक और सौन्दर्यपरक संश्लिष्टता है। इसी से जुड़ी दूसरी बात है कि कलात्मक सौन्दर्य की श्रेणियाँ नहीं होतीं। अभिव्यंजना सुन्दर ही होगी, असफल अभिव्यंजना का कोई अस्तित्व नहीं है। कला का उद्देश्य रसानुभूति कराना नहीं है, उसका आनंद अभिव्यंजना का आनंद है। अभिव्यंजना का एक नया नाम प्रगीतिवाद भी दिया गया। क्योंकि प्रगीत आवेगात्मक अभिव्यक्ति नहीं है, न चीख है न शोक—सहज अनुभूति की अभिव्यक्ति है। क्रोचे ने कहा "कविता को न तो अनुभूति कहा जा सकता है और न बिम्ब, न दोनों का योग। वह अनुभूति का निदिध्यासन है अथवा प्रगीतात्मक सहजानुभूति है।" इस आधार पर कवि के प्रत्येक शब्द में, प्रत्येक सर्जनात्मक कल्पना में उसकी सभी आशाएँ-निराशाएँ सुख-दुःख-आभास, औदात्य आदि अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। आलोचक का कार्य

काव्यात्मक उद्देश्यों की छानबीन करना है। कुल मिलाकर कह सकते हैं कि क्रोचे के कवि को बोलने की जरूरत ही नहीं है किन्तु वह जिस मानसलोक में जीता है उस अरूप की व्याख्या को रूप कैसे दिया जाये, यह एक बड़ा प्रश्नचिह्न है।

बीसवीं शती में कार्लमार्क्स और फ्रायड, ये दो विचारक हुए। कार्ल मार्क्स का जन्म १८१८ ई० में जर्मनी के ट्राय-नगर में हुआ था जबकि सिगमंड फ्रायड ने १८५६ ई० में आस्ट्रिया के मुराविया नगर में जन्म लिया। कार्ल मार्क्स ने स्पष्टतः काव्यसिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया किन्तु उनके लेखों, पत्रों में इसकी झलक मिल जाती है। प्रगतिवादी आलोचना बनाम समाजवादी यथार्थ के मूल में द्वन्द्वात्मकता का सिद्धान्त है जिसे हीगेल से ग्रहण किया गया है। सन् १७७० ई० में स्टुटगार्ट में जन्मे हीगेल की दृष्टि में प्रकृति तथा समाज का आधार विश्वात्मा है जो प्रकृति तथा मानव से स्वतन्त्र है। विश्वात्मा पक्ष है, पदार्थ प्रतिपक्ष है और सौन्दर्य समन्वय। प्रकृति विश्वात्मा का दूसरा रूप है। अपूर्ण प्रकृति को पूर्ण मानने से विरोध उत्पन्न होता है जो विश्वात्मा से प्राप्त होता है। मार्क्स ने इस विरोध अथवा द्वन्द्व तत्त्व को तो स्वीकार किया किन्तु विश्वात्मा अथवा परमतत्त्व को अस्वीकार किया है। उसकी दृष्टि में पदार्थ सत् है जो द्वन्द्वात्मकता के नियमों से परिचालित होता है। समाज के विकास की आधारशिला आर्थिक होती है। साहित्य, संगीत, कला समाज का ऊपरी ढाँचा है। अतः जब हम साहित्य की आलोचना करेंगे तो समाज के आर्थिक आधार के विश्लेषण को केन्द्र में रखना होगा। पूँजीवाद व्यवस्था में समाज शोषक और शोषित दो वर्गों में विभक्त है। इसी वर्गीय संघर्ष का चित्रण करना साहित्य का कार्य है। साम्यवादी व्यवस्था का समर्थन तथा शोषित की पक्षधरता साहित्यकार का धर्म है। साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन-स्थितियों का वस्तुनिष्ठ वर्णन समाजवादी यथार्थवाद है। इसके लिए मनोभूमि निर्माण करना साहित्यकार का दायित्व है। लेकिन बड़े ही स्पष्ट शब्दों में समाजवाद के लिए साहित्य को बतौर हथियार इस्तेमाल करने की बात कहता है।

साहित्य के मूल्यांकन के भी तीन आधार स्वीकार किये गये—जब साहित्य लिखा गया, तद्युगीन आर्थिक आधार का विश्लेषण; वर्गसंघर्ष की तलाश तथा सर्वहारा वर्ग की पक्षधरता। मार्क्सवादी दृष्टि में साहित्यकार जिस वर्ग में उत्पन्न है, वह जाने-अनजाने उसके प्रभाव में रहता है। किन्तु काव्य को वर्ग के दायरे में सीमित कर देना उसकी संवेदनात्मक विशेषता पर प्रश्नचिह्न लगाना होगा। कवि रचना-प्रक्रिया में निर्वैयक्तिक होकर लोकहृदय से तादात्म्य स्थापित करता है अतः यदि वस्तुतः वह कवि है तो चाहे जिस वर्ग का हो, उसकी रचना पाठक के लिए सहज संवेद्य होगी। यदि ऐसा न होता तो रचना में शाश्वतता-जैसा गुण नहीं आ पाता।

लूकाच ने समाजवादी यथार्थ को सौन्दर्यशास्त्रीय रचनात्मकता से सम्बद्ध किया और कवि की वैयक्तिकता को भी स्वीकृति दी। अर्न्स्ट फिशर ने समाजवादी कला शब्द के प्रयोग द्वारा कलाकार के अभ्युद्देश्य प्रकट होने की बात उठायी। उसने काव्य के रूपगत परिवर्तन को वस्तुगत परिवर्तन कहा।

मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति में जिन आधारों की बात की गयी वे साहित्येतर प्रतिमान हैं, जिनके आधार पर साहित्य की व्याख्या नहीं की जा सकती। हाँ, उससे साहित्य को देखने-परखने की एक दृष्टि जरूर मिलती है।

कार्ल मार्क्स ने बहिर्जगत के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया है तो फ्रायड ने मनुष्य के अन्तर्जगत् के अन्तर्द्वन्द्व को वाणी दी है। मनोविश्लेषण के आदिप्रवर्त्तक फ्रायड हैं। कलाकार फ्रायड की दृष्टि में स्नायुरोगी और कुंठित व्यक्ति है जबकि कला उसकी अतृप्त इच्छाओं की तृप्ति का साधन है। मनुष्य के अचेतन मन की दमित आकांक्षा ही कला के रूप में जन्म लेती है। इस रूप में भी कह सकते हैं कि कला मनोग्रन्थियों से मुक्त होने का मार्ग है। कलाकार अन्तर्मुखी व्यक्ति होता है, वह जानता है कि अपने दिवास्वप्नों का विस्तार कैसे करें? एडलर की दृष्टि फ्रायड से अधिक व्यापक है। वह कला को सम्पूर्ण व्यक्तित्व की विकृति मानता है और अधिकार भावना को जीवन की केन्द्रभूत प्रेरक शक्ति मानता है। युंग ने जिजीविषा पर अधिक बल दिया। उसने कहा कि "आदिम अनुभूति कलाकार की सर्जनशीलता का स्रोत है। चूँकि उसका आकलन सम्भव नहीं है इसलिए उसे रूप देने के लिए पौराणिक बिम्बविधान की आवश्यकता होती है।" कहना न होगा कि यह कथन प्राचीन प्रेरणा सिद्धान्त को ही नयी शब्दावली देता है।

मनोवैज्ञानिकों की इस वृहत्त्रयी ने रचना के बारे में कुछ न कहकर रचनाकार का मनोविज्ञान बताया है लेकिन यह आधार एकांगी है। कलाकार यदि सचमुच कलाकार है तो मनोविज्ञान की सीमाओं का अतिक्रमण करेगा और तब इस जटिलता तथा संश्लिष्टता का वर्णन करने में मनोविज्ञान मौन हो जायेगा अतः यह एक पद्धति है, समग्र आलोचना नहीं।

नयी समीक्षा का प्रारम्भ सन् १९४१ में प्रकाशित जॉन क्रो रैन्सम की पुस्तक 'न्यू क्रिटिसिज्म' से माना जाता है। इस समीक्षा की मान्यता है कि कृति का मूल्यांकन कृति के आधार पर होना चाहिए, वहाँ साहित्येतर आयाम आवश्यक नहीं है। इस पद्धति के अनुसार कृति स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष होती है। इन समीक्षकों को कृति के साथ कृतिकार, उसकी रचना प्रक्रिया, परिवेश आदि का सामञ्जस्य मान्य नहीं है। एक प्रकार से देखें तो नयी समीक्षा भाषिक संरचना को केन्द्र में रखती है। काव्यभाषा

सामान्य भाषा से अलग होती है। इस भाषिक सर्जना को क्लीन्स ब्रुक्स (जन्म सन् १९०६ ई०) विसंगति या विडम्बना के रूप में देखते हैं तो अमेरिका निवासी एलन-टेट तनाव द्वारा विवेचित करते हैं। जॉन क्रो रैन्सम के शिष्य एलन टेट प्रखर आलोचक और कवि के रूप में विख्यात हैं। ब्रुक्स स्पष्टतः कहते हैं कि विडम्बना काव्यभाषा का सामान्य वैशिष्ट्य है तो विसंगति विशेष गुण है। एलन टेट अपने निबंध 'काव्य में तनाव' के विस्तार (एक्सटेंशन) और घनता (इंटेन्शन) को अन्तर्मुक्त मानता है। रैन्सम काव्य में टेक्श्चर और स्ट्रक्चर का तनाव देखता है। टेक्श्चर अर्थात् बनावट और स्ट्रक्चर अर्थात् निर्मित संरचना। स्ट्रक्चर काव्य का तर्क है। वह काव्य को रूप देता है। आइवर विण्टर मानते हैं कि मात्र संरचनागत विश्लेषण काव्य का बोध कराने में असमर्थ है।

नयी समीक्षा काव्य को स्वतःपूर्ण वस्तु मानती है। यह रूपवादी है और 'कला कला के लिए' का समर्थन करती है। भाषिक विश्लेषण को बल देती है अतः संप्रेषण, आस्वाद-जैसे महत्त्वपूर्ण मुद्दों को बिलकुल छोड़ देती है। ऐतिहासिक मूल्यांकन से भी इसका कोई सरोकार नहीं है। इसके अतिरिक्त नयी समीक्षा पर सबसे बड़ा आरोप यह लगाया जाता है कि वह लघु कविताओं के लिए तो ठीक है, लेकिन प्रबंध काव्यों, नाटकों तथा उपन्यासों के विश्लेषण में असमर्थ है।

साहित्य का सत्य उसके शब्दों का सत्य है और सच्चे शब्द बोलते हैं, वहाँ संप्रेषण जैसी समस्या उठती ही नहीं। धूमिल जैसे कवि मानते हैं कि "कविता एक सार्थक वक्तव्य है। क्लीन्स ब्रुक्स भी यही कहते हैं कि कविता समूची कविता को ही संप्रेषित करती है, लिफाफे में जैसे चिट्ठी भरी जाती है उस तरह काव्य रूप में वस्तु नहीं भरी जाती।" इसे रूपवादी कहना भी उचित नहीं है। एलन टेट के अनुसार कला सम्भावित दुनिया का व्याकरण लिखती है। फिर भी यह तो है ही कि नयी समीक्षा ने साहित्य की स्वतन्त्र और स्वायत्त सत्ता पर बल देकर अपनी विशिष्टता प्रमाणित की है, वैशिष्ट्य प्रमाणित किया है। काव्येतर प्रतिमानों के अनुशासन में पिसते काव्य को मुक्त करने का श्रेय नयी समीक्षा अर्थात् न्यू क्रिटिसिज्म को ही जाता है और यही कारण है कि नयी समीक्षा अनेक शाखाओं, प्रशाखाओं में विभक्त हो गयी। मिथकीय आलोचना, अर्थात् काव्य में मिथक जैसे तत्वों को तलाशने वाली आलोचना, रूपवादी आलोचना, अर्थात् रूसी रूपवाद जो काव्य के रूपात्मक विश्लेषण को केन्द्र में रखता है और कलावाद का समर्थक है। शैली-वैज्ञानिक आलोचना अर्थात् साहित्य को भाषिक विश्लेषण के माध्यम से व्याख्यायित करने वाली आलोचना या दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि साहित्य का शैलीगत मूल्यांकन भाषा के माध्यम से करने-वाली आलोचना—इसके रूप हैं। मिथक आधुनिक समीक्षा का एक प्रिय शब्द है। यहाँ

तक कि कुछ लोग तो साहित्य और मिथक में अन्तर ही नहीं मानते। कैसिएर भाषा और मिथक की उत्पत्ति एक साथ मानता है जबकि मैक्समूलर भाषा से मिथक की उत्पत्ति मानता है और मिथक को भाषा का रोग कहता है। वस्तुतः इसमें यथार्थ का बिम्ब नहीं बल्कि दोनों में अद्वैत सम्बन्ध होता है। नाम तथा वस्तु एक हो जाती है। रिचर्ड चेज की भी मान्यता है कि काव्य और मिथक एक ही प्रकार की मानवीय आवश्यकता से उद्भूत होते हैं, उनमें एक ही तरह की प्रतीकात्मक संरचनाएँ होती हैं।

मिथक आदिम मनुष्य का यथार्थ है जबकि साहित्य सभ्य मनुष्य का यथार्थ है, जिसमें उसका अपना उद्देश्य और दृष्टिकोण भी समाहित रहता है। साहित्य में मिथकों का साभिप्राय प्रयोग होता है। साहित्यकार मिथकीय बिम्बों द्वारा अपनी रचना में आदिम विश्वासों को भी अर्थवत्ता देता है। एक प्रकार से ऐतिहासिक-पौराणिक घटनाओं का समसामयिक परिवेश में पुनराख्यान करना मिथक है। मिथक की मूल प्रवृत्ति सर्जनात्मक है और साहित्य में भी यह तत्व सर्वप्रमुख है। मिथक के प्रतीकों, अभिप्रायों तथा आदि रूपों की व्याख्या प्रस्तुत करना मिथकीय समीक्षा का ध्येय है। मिथक एक माध्यम है, जिसके द्वारा रचनाकार युग-सन्दर्भ को संवेदना और बोध के धरातल पर रूपान्तरित करता है। युवक, विद्रोह, तनाव, घटना, दैत्याकार यान्त्रिक सभ्यता, अकेलापन, इतिहास, शब्दात्मकता,अचेतन के रूपाकार, परामनोविज्ञान के रूपाकार तथा विज्ञान के ब्रह्माण्डीय मिथक सभी धारणाएँ मिथकीय रूप ग्रहण करती हैं। मिथकीय समीक्षा इन धारणाकृत मिथकों की सृजन-प्रक्रिया से गहराई तक सम्बन्धित है। एरिक फ्राम के अनुसार मिथक हमारा अपने प्रति एक संदेश है—एक गोपनीय भाषा है जो आन्तरिक जीवन की बाह्य घटना की तरह ठीक करने में सहायता पहुँचाती है। लेखक मूलतः एक 'मिथमेकर' है। यह एक वादमुक्त आलोचना है। साहित्येतर ज्ञान की आवश्यकता की भी यह समीक्षा स्वीकारती है। नयी समीक्षा की अव्याप्ति तथा शास्त्रीय समीक्षा की साहित्येतर व्याप्ति में समन्वय स्थापित करने में ही मिथकीय समीक्षा की सार्थकता है।

रूसी रूपवादी समीक्षा का प्रभाव पश्चिम की रूपवादी समीक्षा प्रणाली पर पड़ा। बोरिस एकेनबाम, विक्टर श्कोलोव्स्की, रोमन जैकोब्सन आदि इसके प्रमुख प्रवक्ता थे। इनका मुख्य उद्देश्य काव्यभाषा का अध्ययन करना था। रूपवादियों ने काव्य को वैयक्तिकता और सौन्दर्यशास्त्र से मुक्त करके वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया। इनका मूलाधार साहित्यिक संरचना है। कला पूर्ण स्वायत्त और आत्मानुशासित अनुशासन है। साहित्य में साहित्यिकता उत्पन्न करनेवाली वस्तुएँ ही विवेचनायोग्य हैं। ब्रिक कविता को एक आन्तरिक तथा आत्मानुशासित संरचना मानते हैं जिनमें छन्द और रूप का समान दर्जा है। रोमन जैकोब्सन मानते हैं कि कविता सामान्य भाषा का सचेत

विरूपीकरण है, सामान्य भाषा के खिलाफ एक संघटित आक्रमण है। रूपवादियों के लिए साहित्यिकता काव्यमूल्य है। सामाजिक परिवर्तन से इसका कोई सरोकार नहीं है। कहना न होगा कि 'रूपवाद कलावाद का ही रूपान्तर' है क्योंकि कविता की रूपात्मकता शिल्पपक्ष से सम्बद्ध है।

शैलीविज्ञान साहित्यिक समीक्षा का सिद्धान्त और प्रणाली—दोनों ही है। सिद्धान्ततः इनकी दृष्टि भाषावादी है। यह समीक्षा-पद्धति साहित्य को शाब्दिक कला मानती है और कृति को 'स्वनिष्ठ इकाई'। साहित्यिक कृति के लिए भाषा सिर्फ अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं है अपितु भाषा साहित्य के भीतर जन्म धारण करती है।

योरोपीय शैलीविज्ञान साहित्यिक विद्वान् तथा भाषाशास्त्री का मिलनस्थल रहा है जबकि रोमान्स शैलीविज्ञान में क्रोचे एवं उसके स्कूल के प्रभाव से सौन्दर्यशास्त्र के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव रहा है। दरअसल, साहित्यिक भाषा का विश्लेषणपरक अध्ययन शैलीविज्ञान कहा गया है। आधुनिक स्पेनी शैलीविज्ञान की दृष्टि में भाषागत शैलीविज्ञान सारे भाषिक समूहों का अध्ययन है।

शैलीविज्ञान एक ओर भाषाविज्ञान से सम्बन्धित है तो दूसरी ओर साहित्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र की सिद्धान्त-संहिता से भी उसका सम्बन्ध है। शैलीविज्ञान का लक्ष्य है नवीनता, चमत्कार की सृष्टि। विज्ञान की तरह शैलीविज्ञान विश्लेषण करके कोई निष्कर्ष नहीं देता अपितु सूक्ष्म तत्वों का विवेचन करते हुए काव्य को एक नया आयाम देता है। इतना होने के बावजूद इस सिद्धान्त में भाषा का बाह्य संसार, शाब्दिक चमत्कार ही प्रमुख नहीं है, आभ्यन्तर अर्थ सम्बन्धी विशेषताएँ भी इसमें संश्लिष्ट हैं। कवि की अनुभूति तक भाषा के माध्यम से पहुँचना शैलीवैज्ञानिक समीक्षक का साध्य है। हाँ, इसका सांख्यिकीय रूप काव्य-सौन्दर्य में बाधक अवश्य है। यह समीक्षा उत्तरोत्तर विकसित हो रही है, शैलीवैज्ञानिक बराबर अपनी प्रयोगविधियों का संशोधन कर रहे हैं।

पश्चिम के समीक्षाशास्त्र की नयी प्रणाली डीकान्स्ट्रक्शन अर्थात् 'अनुपस्थिति की तलाश' का सिद्धान्त है। फ्रांसीसी दार्शनिक, भाषाविद् और समीक्षक डेरिड इस समीक्षा-पद्धति के जन्मदाता हैं। कहा जा सकता है कि उत्तर संरचनावाद का सर्वाधिक प्रभावशाली आन्दोलन है यह। एच० एम० एब्राम का कथन है कि उसकी खोज भाषा से हटकर पाठ या टेक्स्ट पर केन्द्रित है। और वह पाठ असामान्य ढंग से संकुचित कर देता है। हेलिस मिलर डीकान्स्ट्रक्शन को अलंकृतिमूलक अनुशासन मानता है। उच्चारण एक श्रौत बिम्ब है जो एक प्रत्यय को जन्म देता है और लिखित शब्द इसी श्रौत बिम्ब का चित्रालेख है, जैसे पंकज का उच्चारण करने पर कमल के फूल का प्रत्यय होना। सस्यूर भाषिक प्रतीक को संकेतक और संकेतित की अन्विति मानता है।

कोई चिह्न किसी-न-किसी शाश्वत वाद का संकेतक होता है अर्थात् चिह्न की अर्थवत्ता सन्दर्भ में होती है। डेरिड के मत में इन्हीं चिह्नों से अनुपस्थिति की तलाश की जाती है। अतः उसकी दृष्टि में आलोचना लेखन का वह रूप है जो कविता, कहानी, उपन्यास की संरचना में बिखरे चिह्नों की तलाश करती है। आज का रचनाकार चिह्नों से भाषा का काम लेने लगा है। कविता में किसी पंक्ति के पश्चात् 'डैश' या फिर 'सवालिया निशान', या आश्चर्यबोधक चिह्न अलग-अलग अर्थ देते हैं। डैश जहाँ शब्दहीनता अर्थात् चुप्पी को व्यक्त कर रहा है वहीं सवालिया निशान पूरे सन्दर्भ को प्रश्नवाचक बना देता है। इसी प्रकार आश्चर्यबोधक चिह्न विसंगतियों का लेखा-जोखा खोलकर रख देता है। यह पद्धति साहित्य में अनुपस्थित भावों, विचारों का उद्घाटन करती है। डीकान्स्ट्रक्शन माडेल का विरोधी है। संरचनावाद का विरोधी होने के कारण इसे ध्वंसवादी, अव्यवस्थावादी समीक्षा-पद्धति भी कहा जाता है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि डीकान्स्ट्रक्शन का सिद्धान्त एक जंगल में भटका देता है और वह भी अनुपस्थित की तलाश के लिए।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र की इतनी लम्बी यात्रा में जाने कितनी प्रवृत्तियाँ उभरती हैं, नष्ट होती हैं। कुण्ठा, निराशा, मानव-द्रोह, अनास्था, समाजविरोधी स्वर और भी न जाने क्या क्या—यह सारा कुछ व्यक्त करने का साहित्य के पास कोई सिद्धान्त नहीं है, तो फिर इन सिद्धान्तों की समीक्षा करनेवाली पद्धति के विषय में कोई सिद्धान्त कैसे बनाया जा सकता है। इसीलिए बार-बार साँचे बनते हैं और साहित्य को फिट न कर पाने की कोशिश में टूटते हैं। आगे आने वाला कल किस समीक्षा-पद्धति को अपने गर्भ में छिपाये है, इसकी कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।

आदर्शवाद

आदर्शवाद एक जीवन-मूल्य भी है और दर्शन के इतिहास में सर्वत्र व्याप्त एक विचारदर्शन भी, संभवतः यही कारण है कि हॉकिंग ने आदर्शवाद को 'दर्शन का प्रबंध' ही कहा है।

आदर्शवादी विचारधारा मनुष्य की गरिमा तथा उसकी प्रकृति के वैशिष्ट्य पर बल देती है और मानव को ही अपने अध्ययन का विषय बनाती है। पाश्चात्य दर्शन साहित्य में आदर्शवाद का सम्बन्ध बौद्धिक सत्य से है। अंग्रेजी शब्द 'आइडिया' से व्युत्पन्न 'आइडियलिज्म' आदर्शवाद का उचित अर्थ प्रकट करता है। इसी अर्थ में इसे विचारवाद भी कहा जाता है। वस्तुतः आदर्शवादी विचारों का स्रोत मानव की अन्तः-प्रज्ञा ही है जो धर्म का उद्गम भी है। कह सकते हैं कि धर्म और आदर्श में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। मानव की अन्तःप्रेरणा ने अनेक विचारों को जन्म दिया और इन्हीं विचार-

तन्तुओं ने आदर्शवाद का भव्य महल खड़ा किया। भारतीय वेदान्त आदर्शवादी विचारों का समन्वित रूप है। आदर्शवादी विचारों के दर्शन विभिन्न धर्मग्रन्थों, दर्शन-शास्त्रों में होते हैं, वह चाहे वेद हो, उपनिषद् हो या फिर श्रीमदभगवद्गीता हो। यही नहीं, ये विचार चीन के लाओत्से दर्शन, यहूदी सिद्धान्त और ईसाई धर्म में भी मौजूद हैं। विचार मन का कार्य है इसीलिए आदर्शवाद को मनवाद (मेण्टलिज्म) कहना अनुपयुक्त नहीं है।

सत्य का जो रूप हमारी बुद्धि द्वारा ग्राह्य होता है वही आदर्श बनता है और तदनुरूप हम वस्तु या पदार्थ का रूप व्यवस्थित अथवा व्याख्यायित करते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से आदर्शवाद का प्रादुर्भाव सुकरात और प्लेटो की रचनाओं में मिलता है।

सुकरात के चिन्तन का विषय मनुष्य है जैसी कि उनकी मान्यता है कि "भौतिक चिन्तन से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, मनुष्य ही मनुष्य के चिन्तन का उपयुक्त विषय है।" प्लेटो ने भी बुद्धिगत सत्य को महत्त्व दिया है क्योंकि उनके विचार से वस्तुगत या इन्द्रियगोचर पदार्थ बुद्धिगत सत्य का परिणाम है अर्थात् बुद्धिगत सत्य ही विचार है और वस्तुसत्य उसकी अनुकृति है। 'रिपब्लिक' रचना में प्लेटो ने 'स्थायित्व' और सर्वव्यापकता पर बल दिया। उनकी मान्यता है कि "दृष्टिगत वस्तु अस्थायी और क्षणिक है किन्तु विचार दैवी देन है।" कहने का तात्पर्य है कि विचार स्थायी और सर्व-व्यापी है और भावना तथा तर्क द्वारा इनका बोध होता है जबकि ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य जगत् का बोध कराती हैं। प्रकृति उसी परम सत्य अथवा विचार की अनुकृति है और प्रकृति की अनुकृति कला है। इसीलिए प्लेटो कला को सत्य से कोसों दूर मानता है क्योंकि वह अनुकृति की अनुकृति है। प्लेटो इसी अर्थ में आदर्शवाद को प्रतिष्ठित करते हैं।

दरअसल, आदर्शवादी जगत् को जीव के सदृश ही मानते हैं जो आत्मा व शरीर से संगठित होता है लेकिन उसका मन सर्वव्यापी होता है। हीगेल 'जगत् के बाह्य रूप को इस सर्वव्यापी मन की एक अभिव्यक्ति' मात्र मानते हैं। आदर्शवाद भौतिक जगत् को मन और उसकी विभिन्न अवस्थाओं की उत्पत्ति भी मानता है। प्रत्येक अणु में जीवन, मस्तिष्क तथा शक्ति के साथ आत्मा भी निहित है जो परमात्मा का अंश है। भौतिक जगत इस अर्थ में एक दैवी घटना है। प्रत्यक्षीकरण का विषय होना ही जगत् के अस्तित्व का द्योतक है और यह अस्तित्व मन में निहित होता है इसीलिए आदर्श-वादी संसार को मानसिक सृष्टि कहते हैं।

मध्ययुग में धार्मिक आदर्शवाद प्रधान हो गया था और जीवन तथा साहित्य, दोनों ही नैतिक और धार्मिक आदर्शों में बँध गये। स्वच्छन्दतावाद जो नैतिक प्रतिबन्धों

के विद्रोहस्वरूप अस्तित्व में आया, वस्तुतः वह भी आदर्शवाद का ही रूप था। प्रकृति तथा मानव सौन्दर्य को कल्पना की आँखों से देखनेवाले ये कवि अन्तःकरण में पूर्ण सौन्दर्य को सँजोते गये। हाँ, हम इसे सौन्दर्यात्मक आदर्शवाद कह सकते हैं क्योंकि डॉ० भगीरथ मिश्र के शब्दों में "जहाँ भी वस्तु, व्यक्ति तथा दृश्यमान जगत् का बाह्य प्रत्यक्ष और वस्तुगत रूप महत्व का न होकर उसकी आन्तरिक भावना और विचार में आया गुण सौन्दर्यमय रूप महत्त्व का होता है; वहीं आदर्शवाद होता है।"

आदर्शवाद हवा में महल खड़ा करना नहीं है अर्थात् विशुद्ध कल्पना नहीं है। इसमें उदात्त जीवन-मूल्यों का चित्रण होता है जो विश्वसनीयता के साथ ही यथार्थ की ठोस जमीन पर अवस्थित होता है। हम कह सकते हैं कि आदर्शवाद सदैव मूल्यपरक होता है। यह एक ऐसा दृष्टिकोण माना जा सकता है जिसे लेकर साहित्यकार-कलाकार अपनी रचना को उद्देश्यपूर्ण, उदात्त चरित्रों से सुसज्जित तथा सामाजिक दृष्टि से अनुकरणीय बनाता है। यह आदर्शवादी दृष्टिकोण ही है जो हमें धर्म की पक्षधरता और अधर्म के प्रति घृणा जाग्रत् करने पर विवश करता है।

आदर्शवाद की आधारभूमि विचार है। विचार भौतिक जगत का प्राण है क्योंकि वह शाश्वत, अपरिवर्तनीय और सार्वभौमिक है। विचार मन की क्रियाशीलता के परिणाम हैं अतः आदर्शवाद को 'मनस् वाद' की संज्ञा भी दी गयी है। तर्क चिन्तन का विशेष गुण है और चिन्तन विचार द्वारा ही संभव है। इसलिए चिन्तन भी आदर्शवाद की पृष्ठभूमि तैयार करने का एक प्रमुख उपकरण है।

आदर्शवाद इसीलिए मानव तक सीमित है क्योंकि मन, मस्तिष्क, तर्क, बुद्धि, नैतिकता, आत्मा, धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्य मानव में ही निहित हैं जो इस आदर्शवादी दर्शन के मूल स्तम्भ हैं। संभवतः इसीलिए देवता से निम्नस्तरीय होते हुए भी मानव गौरव एवं प्रतिष्ठा से विभूषित है तथा परमात्मा की अन्य कृतियों पर भी उसका अधिकार है।

'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' आदर्शवादियों का मूल मन्त्र है। मानव जीवन का लक्ष्य इन्हीं मूल्यों को प्राप्त करना है। ये तीनों ही अन्योन्याश्रित हैं। मनुष्य ज्ञान और भावना द्वारा 'असीम' की अनुभूति अपने भीतर करने के लिए प्रयत्नवान होता है। असीम की अनुभूति ही वह सत्य है जिसे आध्यात्मिक सत्य के नाम से जानते हैं। फलतः आध्यात्मिक जगत की प्राप्ति ही उसका लक्ष्य होता है क्योंकि भौतिक जगत तो उसकी छायामात्र है। इसलिए आदर्शवादियों की दृष्टि में आत्मानुभूति ही जीवन का लक्ष्य है जो मूल्यों, विचारों, सद्गुणों एवं आदर्शों में विश्वास रखते हुए उचित-अनुचित की व्याख्या करता है। वस्तुतः ऐसा व्यक्ति ही आदर्शवादी है। लौकिक जगत

की अपेक्षा पारलौकिक जगत की ओर आदर्शवादी अधिक ध्यान देता है। इसके साथ ही आदर्शवादी मानव जीवन को मशीन के रूप में नहीं देखता अपितु एक सोद्देश्य जीवन उसका विषय है। मानव-मूल्य की दृष्टि से उपयोगी विषयों पर आदर्शवाद अधिक बल देता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार राज्य को भी वह भौतिक सत्ता का प्रतीक न मानकर नैतिकता का मान्य एवं मूर्तरूप स्वीकार करता है।

बर्गसाँ, काण्ट, फिश्ते, हीगेल, शॉपेन हावर, शेलिंग, देकार्त, स्पिनोजा, बर्कले आदि पाश्चात्य आदर्शवाद के प्रमुख विचारक हैं। बर्गसाँ ने जीवन पर बल दिया है, फिश्ते ने 'अहम्' को सर्वस्व माना है जबकि हीगेल के अनुसार वास्तविकता तर्क और विवेक है तथा संसार एक सविवेक प्रक्रिया है।

आदर्शवाद के कुछ रूप भी विद्वानों ने निर्दिष्ट किये हैं जिनका उल्लेख करना आवश्यक है।

निर्वैयक्तिक आदर्शवाद

इसे तटस्थ आदर्शवाद भी कहा जा सकता है। पहले चेतन है बाद में जड़—इस बात को लेकर चलनेवाला यह आदर्शवाद वस्तुवाद का विरोधी है। वस्तुत: यह संसार विश्वचेतना के इच्छानुसार निर्मित प्रकृति का ही व्यापक रूप है। विश्व का हेतु यही परम चेतना है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' भारतीय वेदान्त दर्शन का भी मत है। इस दृष्टि से देखें तो तमाम रहस्यवादी अनुकृतियाँ और धार्मिक मान्यताएँ इसी पर आधारित हैं। परमेश्वर अथवा परब्रह्म को ही विश्वचेतना के रूप में जाना जाता है और कोई दर्शन इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि परमात्मा अथवा विश्वचेतना शाश्वत नहीं है। विचारों का संसार उनकी इसी शाश्वतता से जुड़ा हुआ है। संसार की प्रत्यक्ष वस्तुएँ उसकी छाया हैं और नश्वर हैं। निर्वैयक्तिक आदर्शवाद संसार के अतिरिक्त धर्मों का स्रोत होने के साथ ही पदार्थवाद या वस्तुवाद का विरोधी भी है। दाँते, मिल्टन की रचनाएँ इसी वैचारिक पृष्ठभूमि पर आश्रित हैं।

वैयक्तिक आदर्शवाद

जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है कि निर्वैयक्तिक आदर्शवाद का विरोधी वैयक्तिक आदर्शवाद है। यह चेतनसत्ता को ही व्यक्तिसत्ता मानता है। व्यक्ति संवेदनों, संवेगों, भावना तथा कल्पना से ही वैयक्तिक अनुभूति को प्रकट करता है। भावनात्मक जगत ही विश्व का अंग बनता है। यह कहना गलत न होगा कि अस्तित्ववादी दर्शन इसी आदर्शवाद का विकास है। काण्ट, ह्यूम, नीत्शे—जैसे दार्शनिकों ने वैयक्तिक आदर्शवाद को ही आधारभूमि बनाया है। बीसवीं शताब्दी में इसी आदर्शवाद की परिणति यथार्थवाद में होती है।

भौतिक आदर्शवाद

यह रूप सीधे विज्ञान जैसे विषय से जुड़ा हुआ है और भौतिक विज्ञान से प्राप्त ज्ञान-विज्ञान के नये-नये क्षेत्रों से सम्बद्ध है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अवश्य इससे प्रभावित है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में हुए शोध कार्यों के परिणाम तथा मानव ज्ञान के क्षेत्र में इससे जो व्यापकता आयी उनका अध्ययन भौतिक आदर्शवाद के अन्तर्गत किया जाता है।

साहित्यिक आदर्शवाद

दर्शन से थोड़ा हटकर आदर्शवाद साहित्य के क्षेत्र में उभर कर आया। इसका साहित्यिक रूप पहले के सारे रूपों से अलग है। अधर्म पर धर्म की विजय, दुष्प्रवृत्तियों पर सद्वृत्तियों की विजय दिखाना इस आदर्शवाद का प्रमुख लक्षण है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अपने अवतार के लक्ष्य में इसी आदर्शवाद की झलक प्रस्तुत की है—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

उच्च, उदात्त, त्यागी, परोपकारी सज्जनों की उन्नति तथा निम्न, दुष्ट, स्वार्थी, अनिष्टकारी दुर्जनों का विनाश जैसे चित्रण साहित्य में आदर्शवाद की स्थापना करते हैं। वही साहित्य आदर्शवादी है जो समाज में उच्च जीवन मूल्यों की स्थापना करे, समाज को उन्नतिशील बनाने में सहयोग दे, ऐसे चरित्रों का निर्माण करे जो समाज के लिए अनुकरणीय हों तथा कल्याणकारी हों। आखिर साहित्य की परिभाषा 'हितेन सहितः' ही तो है।

शिव के साथ अशिव, सुन्दर के साथ असुन्दर और सत्य के साथ असत्य रखना तुलनात्मक दृष्टि से अनिवार्य है, ठीक इसी तरह साहित्य में भी अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के चरित्रों का चित्रण रचनाकार अपनी रचनाओं में करता है लेकिन रचनाकार की पक्षधरता किसकी तरफ है इसीसे उसके आदर्शवादी होने न होने का प्रश्न हल हो जाता है। दुश्चरित्रों का चित्रण करते हुए भी यदि वह उन्हें दण्डित करने, प्रताड़ित करने और उनसे बचने की प्रेरणा समाज को देता है तो वह आदर्शवादी ही कहा जायेगा। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि आदर्शवाद उदात्त प्रेरणा देनेवाला साहित्य है। वह हमेशा अच्छे और उपयोगी पक्ष पर प्रकाश डालता है। 'जीवन जैसा है' उसका वैसा चित्रण जहाँ यथार्थवाद है वहीं 'जीवन कैसा होना चाहिए' यह आदर्शवाद है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि आदर्शवाद यथार्थ का पूर्णतः निषेध नहीं है अपितु यथार्थ की धरती पर बैठकर कल्पना के पंखों से भविष्य की झाँकी का अवलोकन है।

स्वच्छन्दतावाद

नियमों में बँधी रचना और पिंजरे में कैद पक्षी में कोई अन्तर नहीं होता। परम्पराओं, रूढ़ियों, मान्यताओं की सीमा में कैद साहित्य जीवन से असम्पृक्त, रूढ़ होता हुआ अन्ततः मृतप्राय हो जाता है। रचना बन्धन नहीं, बन्धन से मुक्त होना है। बन्धन को तोड़नेवाले विद्रोही कवि की आत्मा छटपटाने की इस सीमा में मुक्ति का द्वार तलाशती है। फिर, जैसे पिंजरे से छूटे हुए पक्षी के लिए उन्मुक्त आकाश लक्ष्य बनता है वैसे ही कवि भी मुक्त, स्वच्छन्द हो जाता है। शास्त्रीयता के चश्मे को फेंक ये कवि अपनी आँखों से जीवन को देखने-परखने की कोशिश करते हैं। नयी धरती, नये आकाश और नये स्वर्ग की तलाश में उड़ान भरती ये आत्माएँ स्वच्छन्दतावाद को जन्म देती हैं।

अठारहवीं शती के अन्तिम चरण में योरप के इतिहास में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं जिन्होंने पाश्चात्य जगत् को ही नहीं अपितु समस्त विश्व को एक नया आयाम दिया। पहली घटना थी फ्रांस की जनक्रान्ति और दूसरी स्वच्छन्दतावाद, जिसने परम्परागत साहित्यिक मान्यताओं को चुनौती दी और मानव, प्रकृति तथा विश्वात्मा के सम्बन्धों को एक नयी दृष्टि से देखने का प्रयास किया। इस नवीन साहित्यिक लहर ने विशेषतया फ्रान्स, जर्मनी तथा इंग्लैण्ड को और सामान्यतया समूचे योरप को प्रभावित किया। इसमें प्राचीन काव्य परम्पराओं के प्रति अवज्ञा तथा विद्रोह का स्वर प्रमुख था। विक्टर ह्यूगो ने इसीलिए स्वच्छन्दतावाद को साहित्यिक उदारवादिता जैसा विशेषण दिया।

शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्वच्छन्दतावाद का सम्बन्ध रोमांस से है, जो रोम से सम्बद्ध है। रोम साम्राज्य में बोली जानेवाली भाषाओं (स्पेनिश, फ्रान्सीसी, इतालवी, पुर्तगाली) को रोमांस भाषाएँ कहा जाता है। वस्तुतः यह लैटिन का विकसित और अपभ्रंश रूप है। लैटिन अब भी धर्म तथा कानून की भाषा रही किन्तु साधारण बोलचाल की भाषा में साहित्य-सृजन का काम आरंभ हो गया। सरलहृदय बर्बर विजेताओं ने ईसाई धर्म को पूर्णतया सत्य मान कर अंगीकार किया। उनके साहित्य में इन सरल धार्मिक विश्वास, शास्त्र, गौरव तथा शौर्य गाथाओं का प्रणयन हुआ। यहाँ पर छन्द साहित्य तत्कालीन जीवन से प्रसूत वास्तविकता से जुड़ा तथा आधुनिक था। जीवन के यथार्थ से जुड़े इस साहित्य में जनमानस को उद्वेलित करने की अद्भुत क्षमता थी। अपनी जनप्रियता के कारण शीघ्र ही इस साहित्य में न केवल

तत्कालीन योरप की अपितु मध्य एशिया तथा भारत तक की अनेक शौर्य-प्रेम-गाथाएँ एक केन्द्रीय आकर्षण से खिचकर आ गयीं। ग्यारहवीं शती से तेरहवीं शती तक यूनान, रोम तथा पौर्वात्य शौर्य-प्रेम-गाथाएँ फ्रान्स में पहुँच कर तद्युगीन साहित्यिक साँचे में ढलीं। इनमें ताजगी, सरलता तथा गतिशीलता थी। १७वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में इसका अर्थ "काल्पनिक और असत्य" से लिया गया। फ्रान्सीसी दृष्टिकोण से इसका अर्थ था साहसशील, कल्पनाशील और भावनाशील। १७८९ ई० में फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति ने योरप की पुरानी संस्कृति को पूर्णतया बदल दिया और एक नये दृष्टिकोण का उदय हुआ। जर्मनी में "रोमांटिस" शब्द का प्रयोग पहले उपन्यास के अर्थ में, फिर प्राकृतिक दृश्यों के अर्थ में हुआ। साहित्य में उदात्तवाद के विरोधी पक्ष के रूप में "रोमांटिसिज्म" का प्रयोग फेड्रिक श्लेगेल ने किया। आगे चलकर इसमें प्रेम और विषाद का योग हो गया। हिन्दी में रोमांटिसिज्म का पर्याय स्वच्छन्दतावाद कहा जाता है। कालक्रम की दृष्टि से उसका आरंभ रूसो के अभ्युदय सन् १७४९ ई० और अन्त हीगेल की मृत्यु (१८३१) के आसपास माना जाता है।

रूसो इस रोमांटिक धारा का प्रथम प्रतिनिधि था। इस महान् परिवर्तन की प्रेरणा से ही एक अभिनव कला का जन्म हुआ जिसे स्वच्छन्दकला का नाम दिया गया। १९वीं शती की अँग्रेजी कविता के लिए इसका विशेष प्रयोग हुआ, जिसके प्रमुख कवि कीट्स, शैली, वर्ड्सवर्थ, बायरन तथा काउपर थे। इस धारा की सामान्य विशेषताएँ थीं गहन तथा आध्यात्मिक स्तर का प्रकृति प्रेम, एक उदार तथा व्यापक मानवतावाद में विश्वास तथा काव्य की मुक्त एवं स्वच्छन्द अभिव्यक्ति-प्रणाली। साहित्य को सीमा, नियत आदर्श उद्देश्य से निकाल कर स्वच्छन्द कर दिया गया। साहित्य जीवन की तरह गतिशील है और युगानुरूप परिवर्तित भी होता है अतः साहित्यकारों ने परम्परा का खण्डन किया। अनुकरण के बदले आन्तरिक प्रेरणा को महत्त्व दिया।

फ्रायड के अनुसार साहित्य में 'इदम्' की अभिव्यक्ति ही स्वच्छन्दतावाद को जन्म देती है। इदम् मन का अवचेतन भाग है जो समस्त प्रेरणाओं और इच्छाओं का उद्गमस्थल है। इदम् में ये प्रवृत्तियाँ अव्यवस्थित अवस्था में पड़ी रहती हैं। यह क्षेत्र बुद्धि, तर्क, नैतिकता से परे, अराजकता के शासन में रहता है। इदम् मानव मन की सबसे शक्तिशाली शक्ति यौन प्रवृत्ति का क्रीड़ास्थल है। रोमांटिक कला में इदम् में व्यक्ति की दमित इच्छाएँ अभिव्यक्ति पाती हैं। अवचेतन मन के अप्रतिम आलोक में कलाकार के रंग-बिरंगे स्वप्न और कल्पनादृश्य जाग्रत होते हैं। इनमें अविरल प्रवाह और आवेग रहता है। कहना न होगा कि स्वच्छन्दतावाद जीवन को भावना की दृष्टि से देखता है। इसीलिए इसमें मौलिकता और नवीनता होने के कारण मन को

आकृष्ट करने की क्षमता होती है। ग्रियर्सन के मत में रोमांटिक कला में भाव-पक्ष प्रधान होता है, कला का बाह्य स्वरूप गौण हो जाता है; जिस प्रकार स्वप्न में मनुष्य मन के अवचेतन में दबी आकांक्षाएँ, इच्छाएँ, भावनाएँ प्रकाशन का मार्ग ढूँढ़ लेती हैं उसी प्रकार स्वच्छन्दतावादी साहित्य में रचनाकार के अवचेतन मन की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से देखें तो स्वप्न और स्वच्छन्दतावादी साहित्य में साम्य दिखाई देता है।

प्रसिद्ध आलोचक एफ० एल० लूकस की भी यही मान्यता है कि रोमांटिक कला में मन के समस्त अन्तर्वेगों, इच्छाओं भावनाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति होती है। वाल्टर पेटर के मत में रोमांटिक कला में सौन्दर्य प्रेम के साथ जिज्ञासा का भी योग रहता है। चुकि इस कला में नवीनता और मौलिकता दोनों होती है, अतः मन को आर्कषित करने की कला भी होती है। स्वच्छन्दता मन की एक विशेष प्रवृत्ति का ही नाम है जिससे अन्तर में निहित भाव का प्रकाशन होता है। स्वच्छन्दतावादी निरुदात्त, साधारण, सामान्य वस्तु को भी अपना वर्ण्य विषय बना लेता है, वस्तु का उदात्त या विशेष होना यहाँ कोई अर्थ नहीं रखता। ये विषय बन्धनहीन हैं। मूल प्रवृत्ति व्यक्तिवाद है अतः इसका नायक या तो आत्मकेन्द्रित होता है जो उदासी, गहन निराशा में डूबा होता है या फिर सामाजिक अन्याय के विरुद्ध आवाज उठानेवाला क्रान्तिकारी होता है। इसमें विवेक के स्थान पर भावुकता, वास्तविकता के स्थान पर आदर्श और आवश्यकता के स्थान पर आकांक्षा को प्रधानता दी जाती है।

स्वच्छन्दतावादी आलोचना का सूत्रपात रोमीय आलोचक लांजाइनस ने किया था। उनके अनुसार श्रेष्ठ साहित्य का उद्देश्य शिक्षा प्रदान करना न होकर पाठक के मन में हर्षातिरेक उत्पन्न करना होता है जिससे वह कुछ देर के लिए आत्मविस्मृत होकर इस भौतिक जगत् से उठकर कल्पना के विस्तृत लोक में विचरण करने लगे। तर्क और बुद्धि का प्रभाव वहाँ नहीं होता। अतः आत्मविस्मृति की अवस्था में पाठकों को पहुँचा देना ही रचनाकार की प्रतिभा की कसौटी है। इसके साथ ही लांजाइनस की यह भी मान्यता है कि श्रेष्ठ साहित्य की रचना के लिए एक उदात्त शैली आवश्यक है, जिसके लिए गहन अध्ययन चाहिए। अतः श्रेष्ठ कलाकार अपने भावों और अन्तर्वेगों को उच्छृंखल रूप में प्रकाशित नहीं करता, वह संयत शैली का निर्वाह करता है। कहना न होगा कि लांजाइनस जिस स्वच्छन्दतावाद की बात करता है वह विशुद्ध नहीं है, शास्त्रीयता से अछूता नहीं है।

काव्य को बाह्य बन्धनों से मुक्त करके उसको प्रशस्त मार्ग दिखाना स्वच्छन्दतावाद की सबसे बड़ी देन है। समय के साथ-साथ काव्यानुभूति का क्षेत्र व्यापकतर होता गया। नवीन अनुभवों की माँग से कलाकार अपनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए

आतुर हो गया। १८वीं शताब्दी के सातवें दशक में प्रसिद्ध जर्मन आलोचक लैसिंग ने शास्त्रीय नियमों को छिन्न-भिन्न करने के लिए अपना स्वर ऊँचा किया। प्रतिभा नियमों की अनुगामिनी नहीं होती, नियमों को प्रतिभा के अनुसार ढलना पड़ता है। लैसिंग की दृष्टि में कला में भाव की अभिव्यक्ति की ही महत्ता होती है। कलाकार की श्रेष्ठता इसी बात में है कि वह माध्यम को इस प्रकार नियंत्रित करे कि उसमें भाव की अधिकाधिक अभिव्यक्ति हो सके, और उसके लिए अनुभूति में कल्पना का योग आवश्‍यक हो जाता है।

लांजाइनस और लैसिंग की इस मीमांसा का पूर्ण विकास रोमाण्टिक विद्रोह में हुआ जिसका सूत्रपात विलियम ब्लेक ने किया था। उसने काव्य को समस्त शास्त्रीय नियमों के पाश से मुक्त कर उसे स्वच्छन्दता प्रदान की। उसका दृढ़ विश्वास था कि कवि को अपनी शक्ति दिव्यात्माओं द्वारा प्राप्त होती है और वह एक माध्यम के रूप में उन दिव्य शक्तियों का संदेश विश्व को दिया करता है। काव्य में कल्पना इसीलिए प्रमुख तत्त्व है। कल्पना का जगत ही वस्तुतः सत्य जगत है, वह अनन्त और शाश्वत है। इसी शाश्वत जगत में उस प्रत्येक वस्तु का सत्यरूप अवस्थित है जिसकी छाया हम प्रकृति के दर्पण में देखते हैं। उसकी दृष्टि में मानसिक वस्तुएँ ही सत्य हैं, भौतिक अवास्तविक और मिथ्या हैं। कल्पना शक्ति के द्वारा ही इस प्रत्यक्ष जगत की प्रतीकात्मकता को समझ सकते हैं।

स्वच्छन्दतावाद के कला सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, शैली तथा कीट्स की कविताओं में मिलता है, जो यह मानकर चलते हैं कि कवि कर्म मानव हृदय की मूल भावनाओं का चित्रण है। इसीलिए इन कवियों ने प्रकृति के उन्मुक्त परिवेश को अपना वर्ण्य विषय बनाया, जहाँ कृत्रिमता नहीं थी, जटिलता नहीं थी, जहाँ भावनाएँ सभ्यता और समाजगत संस्कारों से विकृत नहीं हुई थीं। रूसो के विचारदर्शन का कवियों पर स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है, जिसने मनुष्य की स्वतन्त्रता की माँग की और कहा कि मनुष्य संसार में स्वतन्त्र उत्पन्न होता है, संसार की बेड़ियों में कसे जाने पर उसकी भावनाएँ कलुषित और विकृत हो जाती हैं। प्रकृति की क्रोड़ छोड़ने का ही यह दुष्परिणाम है कि व्यक्ति जाति, धर्म, वर्ण, समाज की दीवारों में कैद हो गया है। मन की निष्क्रियता पर आधारित सिद्धान्तों का खुले शब्दों में विरोध कोलरिज ने भी किया। उसने सिद्ध किया कि जीवन और काव्य वस्तुतः एक दूसरे से अलग नहीं हैं। जगत का ज्ञान उसकी रचना-कल्पना द्वारा ही संभव है। कोलरिज मन को सक्रिय और सृष्टिकर्ता का प्रतिबिम्ब स्वरूप मानता है। इस अर्थ में कल्पना का संसार मिथ्या नहीं है अपितु वास्तविक है। समस्त कलाएँ भोक्ता के मन के भावों को जाग्रत करके सौन्दर्य के माध्यम से साक्षात् आनन्द की अनुभूति कराती हैं।

पी० बी० शैली की दृष्टि में भी काव्य में कल्पना की ही अभिव्यक्ति होती है। इसी कल्पनाशक्ति के आधार पर कवि साधारण वस्तु को भी मनोहर बना देता है। कवि साधारण मानव नहीं, द्रष्टा है। कल्पना की दिव्य दृष्टि से वह दृश्य जगत के पीछे छिपे अदृश्य जगत को देखता है और मिथ्या जगत के मायावी रूप को पार करके सत्य तथा वास्तविकता को पा लेता है। काव्य में भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति को शैली स्वीकार करता है।

जाहिर है कि स्वच्छन्दतावादी की दृष्टि में कल्पना का महत्त्व सर्वोपरि है। कल्पना ही वह शक्ति है जो "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू" जैसी उक्ति को चरितार्थ करती है। शैली ने इसीलिए कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति कहा है। कल्पना जब सौन्दर्य को ग्रहण करती है तो वही सत्य होता है।

कल्पनाशीलता और भावप्रवणता में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। विज्ञान के प्रभुत्व ने कल्पना के पंख ही नहीं काटे,भावधाराओं को भी सुखा दिया। स्वच्छन्दतावाद ने सिर्फ कल्पना की दिव्यता की ही घोषणा नहीं की अपितु जीवन में उसके महत्त्व का भी उद्‌घोष किया। अतः स्वच्छन्दतावादी काव्य भावनासम्पृक्त कल्पनाशीलता का काव्य है जो जीवन की रागात्मक वृत्तियों की अभिव्यक्ति को प्रमुखता देता है। उसके लिए कल्पना एक भावसिक्त दिव्यदृष्टि है, सृजन-शक्ति है। सुदूर का सम्मोहन इसी कल्पनाशील भावना का परिणाम है। ये कवि सन्निकट, सुपरिचित वस्तु के प्रति आकर्षित नहीं होते, दूरस्थ, अलक्षित के प्रति जिज्ञासा प्रकट करते हैं। नवीनता के प्रति आग्रह इन्हें नये विषय, नयी अभिव्यक्ति प्रणाली की ओर प्रेरित करता है। बुद्धि आलोकित जगत की स्पष्टता से ऊबकर ये कवि मनोवेगों के अज्ञात अन्तराल में प्रवेश करना चाहते हैं। रहस्य का झिलमिल आवरण इन्हें कल्पनालोक में भरमाता रहता है। इन्हें दृश्य की अपेक्षा अदृश्य युवती अधिक मनोहर लगती है, श्रुतगीतों से अश्रुतगीत अधिक मधुर लगते हैं और ज्ञात की अपेक्षा अज्ञात लोक अधिक भव्य लगता है।

आत्मनिष्ठता स्वच्छन्दतावादी कविता की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। कवि का व्यक्तित्व वर्ण्य विषय से एकाकार हो जाता है। व्यक्तिगत रागद्वेष, हर्षोल्लास, शोकजगत, आशा, अभिलाषा और आत्मनिवेदन इन कविताओं के वर्ण्य विषय हैं। इमर्सन के मत में "प्रत्येक व्यक्ति एक विश्व है। अपनी शक्तियों के उपयोग से प्रत्येक व्यक्ति अपने विश्व का निर्माण कर सकता है।"

आदिकाल से प्रकृति कवियों का वर्ण्य विषय बनती रही है। परन्तु स्वच्छन्दतावाद से पूर्व प्रकृति मनुष्य के लिए उसके सुख-दुःख की सहचरी नहीं थी, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। स्वच्छन्दतावाद ने पहली बार उसे परमाणुओं का समवाय

न मानकर एक चेतना सत्ता के रूप में ग्रहण किया। मानवीयता से अनुप्राणित वह संवेदना चेतनायुक्त सत्ता है। विलियम ब्लेक ने सिकता कण में शाश्वत आत्मा के दर्शन की घोषणा की। प्रकृति पुजारी वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति को अपनी कविता की आधारशिला माना। प्रकृति ही उसकी धारयित्री प्रतिभा का स्रोत थी और कल्पना-लोक का द्वार खोलती थी। प्रकृति कहीं आनन्दमयी, कहीं करुणामयी, कहीं वरदायिनी माँ, कहीं उपदेशक है। वह न केवल उसे आनन्द प्रदान करती है बल्कि आश्चर्य और भय से भी कभी-कभी उसे आह्लादित और आतंकित करती है। शैली प्रकृति को विश्वात्मा का प्रकट रूप मानता है। वह उसकी शक्ति, स्वच्छन्दता और गतिमयता से अत्यधिक प्रभावित है। कीट्स प्रकृति के विभिन्न रूपों में आत्मविभोर हो जाता है और आत्म-विस्मृति के इन क्षणों में सांसारिक दु:खों से मुक्त हो सात्विक आनन्द का अनुभव करता है। प्रकृति को मानव की प्रेरक और नियामक भी माना गया है।

स्वच्छन्दतावाद ने जिन नये वर्ण्यविषयों का परिचय दिया उसे व्यक्त करने के लिए नयी अभिव्यंजना शैली की भी आवश्यकता हुई। काव्य प्रक्रिया एक सायास सृजन है, विचारों का स्वत: प्रवाह है। काव्यानुभूति के तीव्रतम क्षणों में जीवन के रहस्य की झलक मिलती है। अत: उसकी अभिव्यक्ति भी अनिवार्यत: धूमिल होगी। इसलिए स्वच्छन्दतावादी कवि प्रतीकों, बिम्बों का आश्रय लेकर उस अप्राकृतिक, अलक्षित सौन्दर्य की झलक पाने का प्रयास करते हैं। चिरन्तन सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति के स्थान पर लक्षणा, व्यंजना, विरोधाभास द्वारा आभास कराने का प्रयास करते हैं। यही कारण है कि स्वच्छन्दतावादी काव्य रूपकसंकुल, प्रतीक-बहुल होता है। कोलरिज के काव्य सिद्धान्तों में तो प्रतीक केन्द्रीय तत्त्व है। क्योंकि प्रतीक की सबसे बड़ी विशेषता ससीम में असीम का आभास है।

रूपकों, प्रतीकों, पुरावृत्तों द्वारा ही स्वच्छन्दतावादी कवि अपने कल्पना-लोक की सृष्टि करता है। स्वच्छन्दतावादी कविता दीपशिखा के सदृश है जो वस्तु जगत के अदृश्य पक्ष तथा अलक्षित सौन्दर्य को आलोकित करती है। काव्य में प्रयोग की जाने वाली भाषा के लिए कोई बन्धन भी नहीं है क्योंकि स्थिति और भाव के अनुरूप भाषा भी विविध रूप ग्रहण करती है। भाषा का आभिजात्य स्वरूप भी यहाँ आवश्यक नहीं माना गया क्योंकि भावना-कल्पना यहाँ मुख्यतत्त्व है। कवि वर्ण्य विषय का रूप ही नहीं, उसकी आत्मा भी झलकाना चाहता है। वर्ण्य विषय तथा बिम्ब, उपमेय तथा उपमान, विचार तथा अलंकार में घुलमिल जाते हैं। भाषा वस्तु का वर्णन ही नहीं करती, वस्तु के साथ एक हो जाती है।

प्रभावोत्पादकता में छन्द-विधान और नाद-सौन्दर्य का योगदान महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। समस्त कविता छन्दमय अभिव्यक्ति है। शब्दों की

नादशक्ति का सार्थक प्रयोग कविता को प्रभावी, हृदयग्राही और रमणीय बनाता है। कोलरिज तथा एडगर एलन पो ने शब्दों की नादमयता का कुशल प्रयोग किया है।

स्वच्छन्दतावादी काव्य तीव्र आकांक्षा का काव्य है। स्वच्छन्दतावादी कवि स्वभावतः विद्रोही हैं। वे समकालीन विश्वासों, परम्पराओं, मान्यताओं का तिरस्कार करके नयी सृष्टि, नये विधान रचना चाहते हैं। स्वच्छन्दतावादी विगत का पुनर्निर्माण न करके उसे ऐसा बनाना चाहते हैं कि जैसा उसे होना चाहिए। इस प्रकार हर रूढ़ि और परम्परा को तोड़ना ये अपना अधिकार समझते हैं। अतः भौतिक और यथार्थ जगत से हटकर ये भग्नावशेषों, खण्डहरों में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। इसी कारण कालान्तर में उदासी, सन्त्रास, कुण्ठा का भी अनुभव इन्हें करना पड़ता है। अति कल्पनाशीलता ने इन्हें अपने परिवेश से बिलकुल काट-छाँट कर एक ऐसे मायावी संसार में भटकने को छोड़ दिया जो चिरन्तन नहीं है। इसी आधार पर इनकी कविताओं को प्रलाप की भी संज्ञा दी गयी है। जिन आदर्शों, बन्धन, नियमों का पालन करने में शास्त्रीयतावादी कवि गौरव का अनुभव करते थे उनका उल्लंघन करना, खण्डन करना स्वच्छन्दतावादी कवियों का ध्येय बन गया।

संगीत का मोह भी इनके काव्य में दुष्परिणामों की झलक देता है। कविता संगीत में लयतरंग ले सकती है किन्तु अर्थहीन लयवत्ता लेकर वह संगीत भले हो जाये, कविता नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त कई तत्त्व ऐसे हैं जो अन्तर्विरोध उत्पन्न करते हैं। सारे नियमों को तोड़ने में ही अपना अस्तित्व समझने वाला स्वच्छन्दतावाद नैतिकता, मर्यादा को तोड़ता हुआ अनुशासनहीनता की पृष्ठभूमि तैयार करता है जो भविष्य में दुष्परिणामों को ही जन्म देती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि स्वच्छन्दतावादी कवि विद्रोही अवश्य है पर वह नयी सृष्टि, नये विधान रचना चाहता है। उसकी रचनात्मकता जीवन्त है और गतिशील भी। वह अस्पष्ट है किन्तु हृदयस्पर्शी भी है। वह कल्पना के पंख लगाकर नये क्षितिज में उड़ान भरता है। यही नहीं, अपनी सीमित शक्ति से असीम को मापना चाहता है। कभी-कभी यह शक्ति उसे आशा के द्वार पर ले जाकर छोड़ती है तो कभी निराशा के अन्धकूप में धकेल देती है।

यथार्थवाद

जीवन की सच्ची अनुभूति यथार्थ है और जब इसका अभिव्यक्तीकरण कलात्मक ढंग से होता है तो वह यथार्थवाद कहलाता है। १९वीं शती ने मानव मन में एक विचित्र हलचल पैदा की, फलतः विचारों में एक निराला स्पन्दन जाग्रत हुआ। फ्रान्स की राजक्रान्ति, ज्ञान-विज्ञान की प्रगति तथा थोथी मान्यताओं की आलोचनाओं ने विचार-

धारा को झकझोर कर रख दिया और उसकी दृष्टि यथातथ्यवादी बनी। विज्ञान ने तमाम पुरानी मान्यताओं और रूढ़ियों को एक झटके में समाप्त करके मनुष्य को यथार्थ की ठोस जमीन पर खड़ा कर दिया। भौतिकवादी दृष्टि को सम्पन्न बनाने का काम डार्विन ने किया और जीवन-विकास के सम्बन्ध में कुछ यथार्थवादी प्रस्थापनाएँ कीं। फ्रायड के मनोविज्ञान-सिद्धान्त ने भी इसे पुष्टि दी। मनोवैज्ञानिक आधार पर अवचेतन मन की प्रतिक्रियाओं पर सूक्ष्मता से विचार हुआ और साहित्य में यथार्थवादी चित्रण की प्रवृत्ति उभरी। मार्क्स ने मानव को प्रतिष्ठा दी जो अर्थप्रेरित होकर साहित्य रचना करता है। समाज में वर्गसंघर्ष का यथावत् चित्रण साहित्यकार का रचनाकर्म माना जाने लगा। परिणामतः गरीबों, मजदूरों, किसानों आदि शोषित समुदायों की समस्याओं, द्वन्द्वों, हलचलों का यथार्थ चित्रण साहित्य में होने लगा। औद्योगिक क्रान्ति ने भी अपना योगदान किया और मानव कल्पना के पंख उतार कर यथार्थ की जमीन तलाशने लगा। कह सकते हैं कि कला, साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवाद १९वीं शती में उभरकर आया।

सन् १८५५ में कोर्वे ने अपने चित्रों का प्रदर्शन किया जिसमें यथातथ्य निरूपण की शैली व्यवहृत हुई और इस सन्दर्भ में कोर्वे ने रियलिज्म शब्द का उल्लेख किया। तत्पश्चात् १८५६ ई० में "फ्लावेयर" का प्रसिद्ध उपन्यास "मैडम बावरी" प्रकाशित हुआ जिसने क्षुद्र व नगण्य चित्रों को उच्च कलातमक स्तर पर प्रतिष्ठित किया तथा व्यर्थ के दिखावे को अनावृत कर दिया। यहीं से यथार्थवादी आन्दोलन के आविर्भाव का संकेत मिलना आरम्भ हो गया। जोला ने प्रकृति और समाज की निजी व्यवस्था को मान्यता देते हुए यथातथ्य चित्रण की ओर इंगित किया। विक्टर ह्यूगो के उपन्यास "हचवैक ऑफ नैटरडम" तथा "ल मिजरेबल" आदि में उपेक्षित व हीन पात्रों को मानवीय गुण प्रदान करके उन्हें विश्व के उच्चतम पात्रों की श्रेणी में खड़ा कर दिया गया। यह कहना अधिक उपयुक्त है कि साहित्य में यथार्थवाद, आदर्शवाद तथा स्वच्छन्दतावाद के विरोध में आया। कोई साहित्यकार जब अपनी रचना में मानव जीवन एवं समाज का वास्तविक चित्र उपस्थित करता है अर्थात् अपनी विषयवस्तु काल्पनिक संसार को न बनाकर वास्तविक संसार को बनाता है तब उसे यथार्थवादी साहित्यकार कहते हैं।

यथार्थ और यथार्थवाद एक होते हुए भी स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यथार्थ है आधारभूमि, जिस पर जीवन का जो चित्र उभरता है वह यथार्थवादी कहलाता है। सम्भवतः कजामिया ने इसीलिए लिखा कि यथार्थवाद साहित्य में एक शैली नहीं बल्कि एक विचारधारा है। कजामिया विचार को प्राथमिकता देता है लेकिन यह भी सच है कि विचारों की अभिव्यक्ति में शैली का

सहयोग अपेक्षित होता है। जबकि स्टीवेन्सन का विचार इसके ठीक विपरीत है कि "यथार्थवाद" का प्रश्न साहित्य में मुख्यतः सत्य से अल्पांश भी सम्बन्ध नहीं रखता बल्कि उसका सम्बन्ध केवल रचना की कलात्मक शैली से है।

यथार्थवाद एक पद्धति है जिसका उद्देश्य है जीवन में सभी वस्तुओं का पूर्ण निष्ठामय चित्रण एवं प्रकृति का पुनः प्रस्तुतीकरण। "डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर" में शिप्ले के विचार इस तरह व्यक्त होते हैं—"साहित्यिक समालोचना में यथार्थवाद शब्द का प्रयोग आदर्शवाद और स्वच्छन्दतावाद के विरोध में उन साहित्यिक कृतियों के लिए किया जाता है जो वास्तविक जीवन की अनुकृति में निर्मित होती हैं और अपनी विषयवस्तु को वास्तविक जीवन से ग्रहण करती हैं। यथार्थवादी लेखक वह होता है जो वस्तून्मुखी दृष्टि धारण करता है और अपनी रचना में अपनी व्यक्तिगत भावनाओं एवं विचारों को सन्निविष्ट न कर अपनी विषयवस्तु का निर्वाह फोटोग्राफिक विवरणात्मक शैली में करता है। जार्जल्यूकास के विचार से सच्चे यथार्थवादी साहित्य की यह प्रमुख विशेषता है कि लेखक बिना किसी भय अथवा पक्षपात के ईमानदारी के साथ जो कुछ भी अपने आसपास देखता है उसका चित्रण करे।

यह सच है कि यथार्थवाद वस्तु का यथातथ्य चित्रण है पर यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि साहित्यकार "फोटोग्राफर" नहीं है, सर्जक है। साहित्य में सर्जनात्मक प्रक्रिया, वस्तुओं का यथावत् चित्रण न होकर संश्लेषणात्मक होती है। वह केवल वर्णन नहीं करता, चुनाव भी करता है। "यथार्थवाद वह साहित्यिक संश्लेषण है जो चुनाव तथा रचना के माध्यम से अपने वास्तविक विचारों को समुन्नत रूप में पाठकों के समक्ष उपस्थित करता है। एक ओर तो यह भौतिकता को आदर्शवादी संस्पर्श से मुक्त करता है तो दूसरी ओर चेतन जीवन का आधार प्रस्तुत करता है। इस प्रकार यथार्थवाद मानव मस्तिष्क को ऐन्द्रजालिक विरूपताओं से मुक्ति दिलाता है।

फ्लावेयर वस्तुगत दृष्टिकोण तथा जीवन के सामान्य पक्षों के महत्त्वपूर्ण उद्घाटन को यथार्थवाद का वैशिष्ट्य मानता है। निरन्तर नवीन विषय, परिस्थिति तथा भाषा की गवेषणा ही यथार्थवाद की सजीव एवं व्यापक उपलब्धि का आधार है।

साहित्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण भारतीय रचनाकारों का भी रहा है और भारतीय परिवेश में यथार्थवाद को आँकने की कोशिश सर्वप्रथम प्रेमचन्द के साहित्य में स्पष्टतः दिखाई देती है। वह कहते हैं कि "यथार्थवाद चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। यथार्थवादी रचनाकार का उद्देश्य यह नहीं होता कि वह अपनी रचनाओं में नेकी का फल नेक और बदी का फल बद दिखाये। चूँकि समाज में इसके विपरीत उदाहरण मिलते हैं इसलिए यथार्थवादी अपनी रचना में भी इस

सच्चाई को उजागर करता है। इस वर्ग का रचनाकार काल्पनिक लोक में भ्रमण नहीं करता बल्कि जिस परिवेश में साँस लेता है उसकी धड़कन को भी महसूस करता है। अतः उसका चित्रण अनुभव की प्रामाणिकता के आधार पर होता है। इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, विषमताओं तथा क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है।" लेकिन यह यथार्थवाद का एक स्थूल रूप ही है। यदि हम गहराई से देखें तो पायेंगे कि यथार्थवाद हमें निराशा के भयानक जंगल में छोड़ता नहीं है, वहाँ ले जाकर आशा का मार्ग दिखाता है। सारी उथल-पुथल, सारी हलचल, सारे अन्तर्विरोधों के बीच से गुजरकर भावी स्वर्ग की आशा का बीजारोपण करने में यथार्थवाद की एक अहम् भूमिका है।

जयशंकर 'प्रसाद' ने साहित्यिक दृष्टि को केन्द्र में रखकर यथार्थवाद का मूल्यांकन किया। उन्होंने स्वीकार किया कि "यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। पारम्परिक दृष्टि साहित्य का लक्ष्य विशेष का आकलन मानती थी। आदर्शवाद का विषय जहाँ आकाश है, उच्चता है, वहीं यथार्थवाद का विषय पथरीली धरती है, लघुता है। यथार्थवादी रचनाकार भिखारी, विधवा, चींटी, झींगुर, चतुरी चमार, कुल्ली भाट, रिक्शावान, गाड़ीवान को अपना विषय बनाता है अर्थात् साहित्यिक दृष्टि से लघुता को देखता है। इसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है, साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।" यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि समस्त रचनाकार एक ही तथ्य को नहीं ग्रहण करते। अगर ऐसा होता है तो वह रचना सार्थक रचना नहीं रह पाती। यहाँ विविध शैली-विधान, भाषा का वैविध्य होना आवश्यक है। वास्तविकता एकांगी नहीं होती है। वस्तुतः यथार्थवाद का मूल भाव वेदना है। जब समूह चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है तब वेदना की विवृति अनिवार्य हो जाती है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त अवधारणा को केन्द्र में रखकर यथार्थवाद की व्याख्या की है—"कलाक्षेत्र में यथार्थवाद ऐसी एक मानसिक प्रवृत्ति है जो निरन्तर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपायित होती रहती है।"

पं० नन्ददुलारे बाजपेयी यथार्थवाद को वस्तुओं की पृथक् सत्ता का समर्थक मानते हैं और उसे समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर उन्मुख बताते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में यथार्थवाद का सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तु जगत से है। चीजों को देखने-परखने की दृष्टि ही यथार्थवादी को वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करती है और यथार्थवादी मानता है कि वह सत्य का अन्वेषी है और सत्य वही है जिसे वह अपनी इन्द्रियों से जान पाया है। जाहिर है कि यथार्थवाद एक दृष्टि है जिसका साहित्य में सार्थक उपयोग किया गया है।

यथार्थवादी किसी लक्ष्यविशेष को महत्त्व नहीं देता अपितु जो कुछ भी अनुभव क्षेत्र में आता है और जो उसकी बुद्धि से सिद्ध होता है वह उसी का समर्थक है।

मानव जीवन की आशा-निराशा, जय-पराजय, उत्थान-पतन—सारा कुछ यथार्थवादी साहित्य का अंग है। साहित्यकार इनकी अभिव्यक्ति कर मानव मन को आकर्षित करता है। जीवन की असंगतियाँ, कुण्ठाएँ, अनास्थाएँ साहित्य में यथातथ्य रूप पाकर भी विकृतियों को जन्म नहीं देतीं। मानव को सचेत करती हैं। निष्क्रियता के बदले सक्रियता, अनास्था के बदले आस्था और निराशा के बदले आशा साहित्य का यथार्थ है।

महादेवी वर्मा के शब्दों में "यथार्थ की कविता को जीवन के उस स्तर पर रहना पड़ता है जहाँ से वह हमें जीवन के भिन्न वर्णों के चित्र ही नहीं देती, प्रत्युत उनमें व्यक्त जीवन के प्रति प्रतिक्रियात्मक संवेदन भी होता है।"

यथार्थवादी साहित्य प्रतिमा की सृष्टि है। वह कलाहीन, मानव अनुभूति शून्य, नीरस नहीं है। यहाँ शिवदान सिंह चौहान का यह कथन बड़ा उपयुक्त लगता है कि महान साहित्य और कला सदा निर्विकल्प रूप से जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है अतः उसकी एकमात्र कसौटी भी उसका यथार्थवाद है। सत्य और यथार्थ के नाम पर बहुत सी विकृत और असन्तुलित चरित्रों की जीवनगाथा भी लिखी गयी। यहाँ यह उल्लेखनाय है कि यथार्थवाद का मूल सिद्धान्त है वस्तु का उसके यथार्थ रूप में चित्रण, लेकिन ऐसा चित्रण नहीं जो साहित्य न रहकर निम्नकोटि में आ जाये। फ्लावेयर पहला व्यक्ति था जिसने साहित्यकारों से माँग की थी कि वे दैनिक जीवन के छोटे से छोटे एवं नगण्य चित्रों को अपनी कला द्वारा साहित्य के उच्चस्तर पर चित्रित करें। कुशल कलाकार की लेखनी वर्ण्य वस्तु का सौन्दर्य बढ़ा देती है चाहे वह कितनी ही निम्न कोटि की वस्तु क्यों न हो।

यथार्थवाद का एक विकसित रूप प्रकृतवाद भी है जो अंग्रेजी के नेचुरलिज्म का हिन्दी रूपान्तर है। इसका आरम्भ और विकास फ्रान्स में हुआ। जोला ने सन् १८८० तथा १८८१ में लिखे अपने लेखों में इसकी व्याख्या प्रस्तुत की। उसकी मान्यता थी कि मानवीय सत्य निरावृत्त है इसीलिए कला को जीवन के यथार्थ रूप में ग्रहण करते हुए कलाकृति को उसने मानव एवं प्रकृति के समन्वय के रूप में स्वीकृति दी। उसका कथन था कि यथार्थवाद का उसके लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं है क्योंकि वह यथार्थ को वैयक्तिक प्रकृति से सम्बद्ध करके प्रस्तुत करना चाहता था। सामान्यतः प्रकृतवाद के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं जो प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने की चेष्टा करके यथार्थवाद का रूप प्रस्तुत करती हैं। प्रकृतवादी रचनाएँ भी जीवन के समस्त कार्य

व्यापारों का यथावत् चित्रण करती हैं। दरअसल प्रकृतवाद और यथार्थवाद का प्रेरणास्रोत जीवन का वास्तविक चित्रण है। अतः दोनों को एक समझने का भ्रम भी उत्पन्न हो जाता है।

कुछ समीक्षक प्रकृतवाद को निम्नकोटि का यथार्थवाद ठहराते हुए कहते हैं कि यथार्थवाद और प्रकृतवाद में सैद्धान्तिक स्थूल भेद यही है कि साहित्य में यथार्थवाद मुख्यतः भावुकता, रोमानवाद और आदर्शवाद का तिरस्कार है। जबकि प्रकृतवाद न केवल इनको तिलांजलि देता है अपितु और आगे बढ़कर भौतिक और यान्त्रिक अनुमानों पर आधृत एक नये जीवन-दर्शन का निरूपण करने लगता है। प्रकृतवादी साहित्य में प्रायः विकृतियों और अश्लीलतापूर्ण दृश्यों का अधिक चित्रण मिलता है इसीलिए इसे कुछ 'निम्नकोटि का यथार्थवाद' जैसी संज्ञा दी गयी है। "मुख्यतः प्रकृतवादी साहित्य जड़विज्ञान की देन है, उसमें मनुष्य की आदिम वासनाओं तथा शारीरिक चेष्टाओं के प्रति विशेष आग्रह पाया जाता है। प्रकृतवादी रचनाएँ घृणा और कुत्सा की प्रचारक मात्र बनकर रह गयी हैं। हिन्दी में इस तरह का साहित्य कम है। हाँ, प्रकृतवादी शैली को लक्ष्य मानकर कुछ साहित्य लिखा गया है।

बीसवीं शताब्दी में बहुत से साहित्यकार साहित्य को नये परिप्रेक्ष्य में देखने को उत्सुक थे जिसका परिणाम हुआ अतियथार्थवाद का जन्म। अतियथार्थवाद भी अन्य काव्यान्दोलनों की भाँति फ्रान्स में जन्मा। इसका प्रादुर्भाव १९२२ ई० के आस-पास हुआ और इसका कारण बहुत कुछ प्रथम महायुद्धजनित परिस्थितियाँ थीं। प्रथम महायुद्ध में जितना नरसंहार हुआ, नृशंसता तथा लोलुपता का जो नग्न और वीभत्स नृत्य हुआ वह मानव जाति के लिए प्रथम अनुभव था। संवेदनशील मन पर इसकी भयंकर प्रतिक्रिया हुई। वे वास्तविक जीवन-जगत् से घृणा करने लगे। वास्तविकता से ऊबे ऐसे व्यक्तियों की पूर्वसंचित आस्थाएँ विनष्ट हो गयीं अस्तु अतियथार्थवाद में इन कलाकारों को ऐसा मार्ग मिला जिसमें उनकी मानसिक रुग्णता की अभिव्यक्ति हो सकी।

अतियथार्थवादी चेतन और अवचेतन तथा अन्तर और बाह्य जगत् के बीच की दीवार को तोड़कर एक अतियथार्थ जगत् की सृष्टि करना चाहते हैं जिसका सम्बन्ध सपनों और मन की अवचेतन अवस्थाओं से होता है और जहाँ वास्तविकता तथा अवास्तविकता, विचार और क्रिया मिल जाते हैं तथा समस्त जीवन को प्रेरित करते हैं और यहीं उनकी कृतियाँ फैण्टेसी का रूप ले लेती हैं। अज्ञेय, मुक्तिबोध आदि हिन्दी के प्रयोगशील कवियों ने अतियथार्थवाद को सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया है। इस विशेष स्कूल के कवि लेखक तथा चित्रकार अपने विश्वास और कलाकृतियों—दोनों में अतियथार्थवाद से प्रभावित हैं।

यथार्थवादी साहित्य में युगसत्य की ही नहीं अपितु उसके स्तरविशेष को भी अभिव्यक्ति होती है, जहाँ युग का सत्य परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। कला के निर्माण में यथार्थवाद साहित्य की उत्तम शैली है।

साहित्य का सत्य कल्पना को बिलकुल नहीं छोड़ देता, वह यथार्थ के आधार पर जितना ही दृढ़ होता है उतना ही गहराइयों तक पहुँचता है। प्रत्येक युग में वास्तविकता की तलाश ही साहित्य में सच्चा यथार्थवाद है। जीवन ग्रहण करके ही यथार्थवाद शक्तिसम्पन्न होता है। रचनात्मक यथार्थवाद समाजोपयोगी है। परिवर्तनशील जगत् को पहचानकर तदनुरूप प्रभावशाली चित्रण करना कलाकार का कर्तव्य है, जैसा कि शिवदानसिंह चौहान मानते हैं कि जो अपनी उपयोगिता समाप्त करके मिट रहा है वह असत्य है और जो उभर रहा है वही सत्य है।

"सत्यं शिवं सुन्दरम्" के सूत्र के आधार पर यथार्थवाद अधिक वैज्ञानिक हो गया है।

आचार्यशुक्ल की दृष्टि में यथार्थवाद जीवन-प्रवाह के आभास मात्र का चित्रण करता है। मार्गदर्शन की प्रवृत्ति यथार्थवाद में नहीं परिलक्षित होती। वह व्यक्ति को और भी मोहग्रस्त बनाकर उसे विनाश के कगार पर खड़ा करती है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी की विचारधारा भी कुछ ऐसी ही है कि यथार्थवादी साहित्य में कल्पना द्वारा जब वस्तु को विचित्र रंगों से अनुरंजित किया जाता है या किसी धर्म या नीति के लिए उसमें काट-छाँट की जाती है तो उसमें जीवन के स्वस्थ उपकरणों का अभाव दिखाई देता है। लियो टाल्सटॉय ने भी यथार्थवाद की मात्रा और विवरणों की सच्चाई के आधार पर कलाकृति का मूल्यांकन अनुचित बताया है।

यथार्थवाद इतिहास नहीं है जो घटना की सूची तैयार करे, न ही कैमरा है कि जो वस्तु उसके सामने आये उसका यथावत् चित्र उपस्थित कर दे। उसका एकमात्र लक्ष्य है वस्तुजगत की स्थितियों को समक्ष रखते हुए सुन्दर से सुन्दरतम स्थितियों की ओर समाज को उन्मुख करना। समाज की कुप्रथाओं की ओर ध्यान आकृष्ट करने में यथार्थवाद की अहम् भूमिका है।

यथार्थवादी कलाकार की प्रतिभा की उर्वरता इसी में है कि वह शाश्वत सत्य को पहचाने और समाज में परिवर्तन लानेवाले तत्त्वों को अपने साहित्य में चित्रित करे।

रूपवाद

"कला कला के लिए" काव्यान्दोलनको पुनर्जीवित करती रूसी रूपवादी समीक्षा उन्नीसवीं शती के अन्त से आरम्भ हुई और इसका प्रभाव बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक तक कायम रहा। इस बीच कुछ राजनैतिक संकट उपस्थित होने से सन् १९३०

में इसका अस्तित्व समाप्त होने लगा, किन्तु रूस के बाहर इस प्रवृत्ति का विस्तार सन् १९६५ के बाद हुआ। रूसी रूपवादियों की समीक्षाओं का एक संकलन तोदोरोव ने फ्रान्सीसी भाषा में अनूदित किया, जिसका प्रभाव पश्चिम की रूपवादी समीक्षा प्रणाली पर स्पष्ट लक्षित हुआ। बोरिस आइखनबौम, विक्टर श्केलोव्स्की, रोमन याकोब्सन आदि इसके समर्थक थे। इनकी दृष्टि मूलतः काव्यशास्त्रीय थी। अरस्तू के काव्यशास्त्र से इस प्रवृत्ति ने प्रेरणा ग्रहण की थी। अरस्तू त्रासदी का अध्ययन विशुद्ध साहित्य के सैद्धान्तिक आधार पर करते हैं। रूसी रूपवादियों ने भी साहित्यिक कृतियों के साहित्यिक रूप को ही लक्ष्य बनाया। इन रूपवादियों के दो मुख्य केन्द्र थे, मास्को और पेट्रोगार्ड। सन् १९१५ में मास्को में भाषिकी केन्द्र की स्थापना हुई थी जबकि सन् १९१६ में पेट्रोगार्ड समाज की स्थापना हुई जिसका मुख्य उद्देश्य था काव्यशास्त्र का अध्ययन।

इस काव्यान्दोलन का मूलाधार फ्रान्सीसियों का प्रतीकवादी आन्दोलन भी कहा जाता है क्योंकि प्रतीकवाद में रूपवाद पर ऐकान्तिक बल दिया जाता है। लेकिन सच तो यह है कि प्रतीकवाद में वैयक्तिक दर्शन और सपनों का भी समावेश है जबकि रूपवाद में काव्य को वैयक्तिक और सौन्दर्यशास्त्र से मुक्त करने की बात कही गयी है। रूपवादी आइखनबौम के अनुसार रूपवादी चिन्तक साहित्य के विज्ञान के लिए संघर्ष करते थे। विज्ञान विश्लेषण पर आधारित है, वह एक निश्चित निष्कर्ष पर ले जाता है। रूपवादी चिन्तक भी साहित्य को रूपतत्त्व के विश्लेषण से जोड़कर एक नया आयाम देना चाहते थे। वे चाहते थे कि साहित्य विज्ञाननिरपेक्ष तथातथ्यपरक हो। इनका प्रयास था कि सर्वप्रथम साहित्य को विषय के रूप में स्थापित किया जाये। काव्यगत तथ्यों का वैज्ञानिक अनुसन्धान करने की इस प्रवृत्ति को रूपवादी "रूपात्मक अधिगम" की संज्ञा देते हैं। अर्थात् रूप तत्त्वों के विश्लेषण के माध्यम से किसी निष्कर्ष तक पहुँचने की प्रवृत्ति रूपवादियों में थी।

रूपवाद का बुनियादी सरोकार साहित्यिक संरचना से है। साहित्येतर आयामों—इतिहास, समाज-मनोविज्ञान से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, है तो बस संरचना में इस्तेमाल तकनीकों से। कला पूर्णतः स्वायत्त है। श्केलोव्स्की के शब्दों में कला हमेशा जिन्दगी से मुक्त होती है, इसका ध्वज बाहर की चारदीवारी पर फहराते हुए झण्डे के रंग को प्रतिबिम्बित नहीं करता। कलारूपों का विवेचन कला नियमों द्वारा ही होना चाहिए। रूपवादी चाहते थे कि जिस प्रकार भाषा (वस्तु) का विज्ञान पूर्णत निर्धारित और स्वायत्त है, ठीक उसी प्रकार साहित्यिक कृतियों के विज्ञान की भी स्वतन्त्र सत्ता हो। किन्तु ऐसा हुआ नहीं। रोमन, याकोब्सन ने साहित्य की साहित्यिकता पर काफी जोर दिया। कला समीक्षा का सम्बन्ध कला की 'डिजाइन' से है, उसके सर्जक उपकरणों से है, न कि कथ्य अथवा सन्देश से। रूपवादी साहित्य को समग्रता में देखने के पक्ष में नहीं

है। वह सिर्फ साहित्यिकता की तलाश करते हैं। इस अर्थ में रूपवादी का दायरा एक चारदीवारी तक सीमित रह जाता है। कवि अविवेच्य है, विवेच्य है तो उसकी रचना। कविता भाषा से बनती है। और काव्य सज्जा भाषा का विशिष्ट प्रयोग हुँआ करती है। साहित्य के अध्ययन में यह बात विशेष ध्यान में रखने योग्य है कि साहित्य-कला के निःसन्देह अपने कुछ विशिष्ट गुण हैं जो अन्य कलाओं में नहीं हैं। साहित्यिकता का सम्बन्ध इन्हीं विशिष्ट गुण-लक्षणों से होता है। यदि साहित्य को विज्ञान का पद प्राप्त करना है तो ऐसे रचना-तत्वों की तलाश आवश्यक हो जाती है जो साहित्यिकता को परिभाषित कर सकें। यह बिल्कुल वैसा ही है जैसे भाषा का अध्ययन करते समय व्याकरणिक संकेत का आधार लिया जाये। संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण आदि ही भाषा के रचना तत्त्व हैं। साहित्यिक कृतियों का विश्लेषण भी प्रक्रियाशील रचना-तत्त्वों के आधार पर करना रूपवादी दृष्टिकोण है। रूपवादी मानते हैं कि साहित्य का अपना विशिष्ट व्याकरण है जो उन सैद्धान्तिक संकल्पों से निर्मित होता है जिन्हें साहित्यविज्ञानी अनेक साहित्यिक कृतियों के अध्य न के आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं। रूसी रूपवादियों ने कुछ रचना-तत्त्वों की पहली बार पहचान की और इनका अध्ययन किया। अतिक्रम और अजनबीकरण ऐसे ही महत्वपूर्ण रचनातत्त्व हैं। एक ही परिवेश एकरसता उत्पन्न कर देता है। हम उसमें ताजगी का अनुभव नहीं कर पाते। चीजों को देखने का एक नजरिया बन जाता है जो उबाऊपन की हद तक पहुँच जाता है; श्केलोव्स्की "अजनबीकरण" की बात इसीलिए उठाता है। इसमें परिचित अपरिचित हो जाता है और इसका रचनात्मक स्तर पर विरूपण साहित्यकार का लक्ष्य होता है। अतः अजनबीकरण की इस प्रक्रिया द्वारा एक नयी दृष्टि मिलती है। ये रूपवादी नये यथार्थ का भी उल्लेख करते हैं जो पुराने यथार्थ से भिन्न होता है पर अन्ततोगत्वा वे "डिजाइन" और रूप पर ही अपने को सीमित कर लेते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र में संस्कृत आचार्यों ने चमत्कार और विचित्र अभिधा का प्रयोग विरूपीकरण के लिए ही किया है। वक्रोक्ति काव्यसिद्धान्त का तो मूलार्थ ही संरचनागत चमत्कार को संकेतित करना है। लेकिन यहाँ संरचना की बात भी है और भाव की भी, जिसके लिए तीन मार्गों की कल्पना कुन्तक ने की। एक अर्थ में रीतिवादी वक्रोक्तिवादी आचार्य भी रूपवादी हुए लेकिन इनका दृष्टिकोण भिन्न है— काव्यभाषा की अर्थवत्ता सामान्य भाषा से भिन्न और जटिल है। अर्थ की अनेक तहें वहाँ मिलती हैं। शब्द शक्तियों में जितनी सूक्ष्मता और वैज्ञानिकता संस्कृत काव्यशास्त्र में है उतनी अन्यत्र नहीं। कहना न होगा कि पश्चिम का रूपवाद स्थूल और शुष्क वैज्ञानिकता पर आधारित है जबकि भारतीय दृष्टिकोण शब्द की संरचना को रमणीयता और भावानुभूति से पृथक् करके देखने के पक्ष में नहीं है। यही कारण है कि साहित्य

की हर विधा के मूल्यांकन की एक ही दृष्टि मिलती है। श्केलोव्स्की प्रगीतों और उपन्यासों पर एक ही प्रतिमान लागू करता है, यद्यपि इनकी संरचना काफी भिन्न है। श्केलोव्स्की उपन्यास की कथा-संरचना पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है जो कथानक व प्लाट से अभिव्यक्त होता है। प्लाट के माध्यम से विरूपीकरण या अजनबीकरण सम्भव हो पाता है। वह मानता है कि कहानी में घटना का एक क्रम है जो एक कच्चा माल है। जबकि प्लाट वह विशिष्ट ढंग है जिससे कला विरूपीकृत हो जाती है। जो भूमिका उपन्यास में प्लाट की है वही प्रगीत में लय की। वस्तु, साहित्य रूप का प्रकार्य है, जिससे भिन्न उसकी सत्ता नहीं है। रूपवादियों की दृष्टि में रूपेतर कुछ भी नहीं है। कह सकते हैं कि रूपवाद की शक्ति कला की क्रियात्मक तकनीक पर निर्भर है। काव्य में इस तकनीक को आवृत भी किया जाता है, अनावृत भी। तकनीक के आवृत होने से साहित्यिक पदार्थ का विकास अलक्षित रह जाता है और तकनीक के अनावृत रहने से उसके अतिरिक्त किसी तरफ ध्यान नहीं जाता। भाषा की संवेदनशून्यता उसे सूचनात्मक बना देती है।

रोमन या कोब्सन की मान्यता है कि कवि भाषा का इस्तेमाल उसी तरह करता है जैसे चित्रकार रंगों का। ऐसी स्थिति में भाषा को संवेदनशून्यता और संज्ञाहीनता से वह बचना चाहता है। कविता का कार्य यह स्पष्ट करना है कि पद और पदार्थ एक नहीं हैं। कवि का एक कार्य यह भी है कि वह पाठक को अपनी भाषा-संरचना के प्रति जागरूक बनाये, जिससे वह उसकी दुनिया को नया देख सके।

रूपवादियों की दृष्टि में रचना का अध्ययन रचनातत्त्व के अध्ययन से भिन्न है, यथा किसी वाक्य का अध्ययन वाक्य-संरचना से भिन्न है। जैसे यदि वाक्य है—"राम ने रामण को मार डाला" तो इस वाक्य की संरचना होगी—संज्ञा + संज्ञा + क्रिया अथवा कर्ता + कर्म + क्रिया। जाहिर है कि ये विश्लेषण भाषा-विज्ञान अथवा व्याकरण पर आधारित हैं, जबकि साहित्यिक कृति अध्ययन की वस्तु है, अध्ययन का विज्ञान नहीं है। काव्यकृति तथा काव्यशास्त्र का मूल अन्तर वस्तु तथा विषय का अथवा वस्तु तथा विज्ञान का अन्तर है। रूपवादियों का प्रबल आग्रह विज्ञान की ओर था। रोलाँ बार्थ का यह कथन इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है कि जिस प्रकार मनुष्य के पास भाषाशक्ति है उसी प्रकार शायद उसके पास साहित्यशक्ति भी है।

आइखन बौम ने "रूपात्मक विधि का सिद्धान्त" नामक अपने एक लेख में प्रश्न उठाया कि, "रूपवादी के लिए मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि साहित्य कैसे पढ़ा जाये अपितु प्रश्न है कि साहित्यिक अध्ययन की विषयवस्तु वस्तुतः है क्या ? ऐसा लगता है कि रूपवादी चिन्तन साहित्यिक तथ्य से तो सम्बन्धित है,पर साहित्य अध्ययन विधि से नहीं। जबकि रूपवाद का गहन सम्बन्ध अध्ययनविधि से है।" तोदोरोव ने आइखन बौम के इसी

प्रश्न पर विचार करते हुए कहा है कि, "साहित्य अध्ययन के प्रयोग का निर्णय विधि द्वारा होता है। आलोचनात्मक दृष्टिकोण द्वारा ही साहित्यिक तथ्य परिभाषित हो सकता है।"

रैनेवेलेक ने काव्य तथा कृति के बीच के अन्तर को समझने के लिए भाषा तथा उच्चार के मॉडल का प्रयोग किया है। उसका कथन है कि साहित्यिक कलाकृति की स्थिति भाषा सिस्टम के समान है। हम वैयक्तिक रूप से भाषा सिस्टम को पूरी तरह कभी भी नहीं जान सकेंगे। क्योंकि हम अपनी भाषा को उसकी सम्पूर्णता में तथा पूर्णरूपेण कभी भी प्रयोग में नहीं ला सकेंगे। जाहिर है कि साहित्य कृति का अध्ययन अन्ततः साहित्य सिस्टम का अध्ययन है।

ध्वनि तथा अर्थ के निश्चित प्रतीकवादी सम्बन्ध को रूसी रूपवादी स्वीकार नहीं करते। इसके विपरीत वे ध्वनि तथा अर्थ का सम्बन्ध यादृच्छिक मानते हैं और यही कारण है कि रूसी रूपवादियों ने निरर्थक शब्द का अध्ययन किया जैसा कि श्क्लोव्स्की ने कहा कि, "निरर्थक शब्दों के तले भी वस्तु (अथवा अर्थ) भुलावा देकर छिपी होती है।"

रूसी रूपवादियों का मुख्य विरोध वस्तु तथा रूप की द्वैतात्मक दृष्टि के प्रति था। उनकी दृष्टि अद्वैतवादी है, अर्थात् वस्तु तथा रूप, रूपवादियों की दृष्टि में अलग नहीं हैं। चूँकि ये दोनों की सत्ता अलग-अलग नहीं स्वीकारते इसीलिए इन्हें अद्वैतवादी कहा जाता है। रूप को वे काव्यकृति का अंग नहीं मानते बल्कि अनेक अंगों, अंशों का समाहार कहते हैं। कह सकते हैं कि रूप अंग नहीं सर्वांग है और इस दृष्टि से देखने पर तो रचना का प्रत्येक अंश "समूह का रूपात्मक अंग है। जिसे वे वस्तु कहते हैं वह भी रूपात्मक है। मिट्टी तभी तक मिट्टी है जब तक उसे कोई आकार अथवा रूप नहीं दिया जाता। रूप में ढलकर वह केवल रूप है, रूपात्मक अंश है। आइखन बौम के मत में—रूपवादियों ने रूपक को कलात्मक संगति अथवा कलात्मक संगठन का पद दे दिया है। उन्होंने रूप को कलाकृति के अखण्ड, अविभाज्य बिम्ब के साथ अभेद कर दिया है।"

रूपवादियों के लिए साहित्यिकता का मतलब है कविविशिष्ट भाषा-प्रयोग। याकोब्सन के मतानुसार इसमें संकेत, संकेतित में रूपान्तरित हो जाता है। छन्द, लय, अलंकार आदि कविता के बाहर किसी यथार्थ का बोध नहीं कराते। ये काव्य-संरचना या संघटना के सहायक उपकरण हैं।

ब्रिक जैसे रूपवादी कविता को एक आंतरिक और आत्मानुशासित संरचना मानते हैं जिसमें छन्द और रूप का समान दर्जा है। याकोब्सन के मत में भी कविता सामान्य भाषा का सचेत विरूपीकरण है।

सच तो यह है कि नया रूप पुराने रूपों के विद्रोह के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, पर यह विद्रोह पुराने रूप का प्रतिवाद नहीं होता बल्कि साहित्य के स्थायी तत्त्वों

का एक नया संघटन अथवा पुनर्रचना होता है। जिसे एक समय में विरूपण या अजनबीकरण कहा जाता है वह भी घिस-घिसाकर पुराना पड़ जाता है। तभी तो अज्ञेय उपमानों के मैले होने और प्रतीकों के देवता के कूच करने की बात करते हैं।

साहित्यिकता का अभिप्राय है संरचना। सस्यूर के शब्दों में, "साहित्य भाषा या लॉग" है। यह स्वायत्त आन्तरिक संगति से पूर्ण अपनी सीमा में बद्ध और अनुशासित संरचना है। वस्तुतः रूपवाद कलावाद का ही दूसरा नाम है।

रूपवाद का प्रभाव आगे चलकर संरचनावाद और शैलीविज्ञान की समीक्षा ने ग्रहण किया। संरचनावाद तथा शैलीविज्ञान दोनों पद्धतियाँ भाषिक विश्लेषण पर आधारित हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य वामन ने 'विशिष्टपदरचना रीतिः' कहते हुए उसे काव्य का आत्मतत्त्व स्वीकार किया था। इसके पश्चात् कुन्तक के वक्रोक्ति में वस्तुविन्यास-वक्रता इसी संरचना का द्योतक है। कहना न होगा कि संरचनावाद आज नव्य रूपवादी विचारधारा तथा तकनीकी विश्लेषण प्रणाली के रूप में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका है। इस पद्धति ने एक तरफ प्रतीक विधान तथा सम्प्रेषण-सिद्धान्त से अपने को जोड़कर कलापरक अर्थ को समेट रखा है, दूसरी तरफ रचनात्मक बुनावट को प्रयोजनपरकता की समस्या को भी अपनी सीमा में कैद कर लिया है। भाषा की मूल प्रकृति रूपात्मक है। संरचना का सम्बन्ध इसी रूप तत्त्व से होता है। अर्थगत अन्तर होते हुए भी दो वाक्यों की संरचना एक होती है। उदाहरणार्थ—"श्याम पेड़ काटेगा" और "लता फल खायेगी" वाक्यों में व्यष्टिपरक तथ्य के आधार पर भिन्नता है। किन्तु संरचनात्मक स्तर पर ये एक हैं, दोनों ही वाक्य कर्ता + कर्म + सकर्मक क्रिया की संरचनात्मक व्यवस्था के परिणाम हैं। कलाकृति के सन्दर्भ में यह समस्या नहीं रह जाती। ताजमहल रूप है जो अपनी मूल प्रकृति में सन्निविष्ट है। चाहे कागज पर पेन्सिल से ताजमहल का चित्र बनाया जाये, चाहे उसे मिट्टी की मूर्ति में ढाला जाये, या फिर अन्य किसी ठोस रूप में ढाला जाये, वह संरचनात्मक विशिष्टताओं के आधार पर ताजमहल ही कहलायेगा। काव्यकृति भाषिक वस्तु है यह मानते हुए संरचनावादी आलोचक कविता को न केवल भाषिक वस्तु के रूप में ग्रहण करते हैं वरन् उसके इसी निर्विशिष्ट समरूपी और विकारहीन स्वरूप को पहचानने और उसके मर्म को उद्घाटित करने का प्रयत्न करते हैं।

नव्यरूपवादियों ने काव्यार्थ को भाषा में रूपान्तरित कलात्मक यथार्थ माना और यहाँ तक कहा कि साहित्य एक ऐसा भयानक हथियार है जिसके सहारे भाषा, आत्मघात करती है। कलाकृति अपने रचना संसार में बाह्य संसार को बाँधकर भी उसके पार जाती है क्योंकि वह संसार को सृजन के बल पर रूपान्तरित करती है, प्रतिबिम्बित नहीं करती।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि किसी साहित्यिक कृति का भाषिक विश्लेषण कला-सामग्री का अध्ययन मात्र है, वह संरचनावादी आलोचना नहीं है। साहित्य, कला प्रतीक है। प्रतीक विधान से जुड़कर यह विचारधारा साहित्यिक रूपविधान की सार्थकता की बात उठाने में सक्षम होती है और दूसरी ओर भाषा विज्ञान से सम्बद्ध होकर वह साहित्यिक कृतियों की अध्ययन-प्रणाली को वैज्ञानिक बनाती है और यही वह पृष्ठभूमि है जिससे संरचनावाद और शैलीविज्ञान का परस्पर सम्बन्ध दिखाई पड़ता है।

साहित्यिक शैलीविज्ञान में संरचना की संकलपना सर्जनात्मक प्रतिफलन प्राप्त करती है। शैलीविज्ञान की मान्यता है कि कृति, भाषिक कला है लेकिन रूपवादियों की तरह यहाँ भाषा का बाह्य पक्ष ही ग्रहण नहीं किया गया है—भाषा का एक वह स्तर भी है जो कृति के भीतर मिलता है और इस स्तर का सीधा सम्बन्ध कलात्मक संवेदना से होता है। भाषा के ये दो स्तर, व्यावहारिक और साहित्यिक, अपनी प्रकृति में जीवन सामाजिक और संरचनासापेक्ष हैं। लेंगर के मत में काव्यकृति का बाह्य पक्ष तो उसका रूप है जबकि उसका आभ्यन्तर पक्ष जीवन-जगत् सम्बन्धी कलाकार की अपनी चेतना है। अतः रूप सृजन आभ्यन्तर प्रक्रिया का बाह्य बिम्ब है। कलाकार आत्मगत अनुभव को जिस माध्यम द्वारा वस्तुगत अभिव्यक्ति देता है, वही रूप है। इस सन्दर्भ में डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव का मत बहुत सारगर्भित है कि—साहित्य शाब्दिक कला है और काव्यकृति शाब्दिक प्रतीक। पर जिस प्रकार कला की हर अभिव्यक्ति साहित्य का दर्जा नहीं पाती (वे ही कला अभिव्यक्तियाँ साहित्य कहलाती हैं जो अपनी प्रकृति में शाब्दिक होती हैं) उसी प्रकार हर भाषिक अभिव्यक्ति साहित्य नहीं कहलाती। केवल वे ही शाब्दिक अभिव्यक्तियाँ साहित्य का पद प्राप्त करती हैं जिनमें उसके रूप और कथ्य पक्षों के यादृच्छिक सम्बन्ध शिव-पार्वती के युग्म की तरह प्रतिभा सिद्ध हो जाते हैं। शैलीविज्ञान "रूप" की बात इसी सन्दर्भ में उठाता है। रूप की उसकी यह संकल्पना न तो कलावादियों से मेल खाती है और न ही संरचनावादियों की धारणा से।

शैलीविज्ञान जिस रूप की बात करता है वह सामाजिक मानसिकता की संकलपना का द्योतक है। भाषा सामाजिक मानसिकता की संवाहिका है। शैलीविज्ञान की यह मान्यता है कि काव्यकृति के सन्देश की मूलवृत्ति सामाजिक मानसिकता से बँधी होती है। इसी के प्रत्यक्षीकरण के लिए रूप का सृजन होता है, जैसा कि राल्फ फाक्स का मत है कि रूप, कथ्य का ही एक पक्ष है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रूसी रूपवाद एक सीमित दायरे में या कह सकते हैं भाषा की ऊपरी तह तक सीमित था। संरचनावाद में यह दृष्टि थोड़ी और

व्यापक हुई और भाषा की दूसरी तह की चर्चा जोरशोर से होने लगी और फिर शैली विज्ञान की धारा विकसित हुई जिसने इस काव्य आन्दोलन को समग्रता में देखा। कृति को वस्तुनिष्ठ मानने के बावजूद यह समीक्षापद्धति कृति की आन्तरिक लय के अन्तः सौन्दर्य को नकार नहीं सकी। भाषा की तमाम तहों की पर्त-दर-पर्त खोलने पर अर्थ के अनेक स्तर उद्घाटित होते हैं। सांख्यिकीय विश्लेषण इसका एक आयाम अवश्य है पर शैलीविज्ञान का लक्ष्य कृति की शल्यक्रिया कतई नहीं है, और सच भी है—साहित्य की समीक्षा साहित्यिकता की पहचान पहले है।

कल्पना

साहित्य में यदि कल्पना का तत्त्व न हो तो वह इतिहास जैसा ही शुष्क और नीरस हो जाये। कहना न होगा कि कल्पना कविता का प्राण तत्त्व है। कवि को काव्यसृजन के लिए आवश्यक उपकरण देकर यह उसकी भावाभिव्यक्ति को तीव्र करती है। उक्ति भी है कि "जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि"। इसके मूल में कल्पना ही काम करती है। वस्तुतः कविता की प्रभावान्विति कल्पना तत्त्व पर ही निर्भर है। पर ऐसा नहीं कि सिर्फ कल्पना ही कविता का सृजन करती है, दरअसल वह भाव तत्त्व के साथ कवि के चिन्तन को परिष्कृत करती है, उसमें सरसता, मसृणता और प्रेषणीयता लाती है।

शेक्सपीयर की दृष्टि में उन्मत्त प्रेमी और कवि का कल्पना से घनिष्ठ सम्बन्ध है, और स्टुवर्ट मानते हैं कि कल्पना-शक्ति के मूल में ही कवि की सर्जना-शक्ति है, कल्पना का औदात्य ही उसे असाधारणता प्रदान करता है। कवि अपने अमूर्त को शब्दों के माध्यम से मूर्त करने के लिए अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करता है। कोलरिज ने इस विषय पर गम्भीर चिन्तन करते हुए स्पष्ट किया कि दर्शनानुभूति के लिए मन का स्वयं सक्रिय होना अनिवार्य है। बेनेदेतो क्रोचे ने सौन्दर्यानुभूति के अन्तर्गत कल्पना को स्थान दिया है, यह स्वतः प्रकाश ज्ञान से सम्बद्ध है जिसमें मानस व्यापार प्रमुख है और कल्पना द्वारा भावनाएँ विकसित होकर मूर्त रूप ग्रहण करती हैं। इस प्रकार कल्पना आत्मा की क्रिया है जो दृश्य जगत् के नाना रूपों तथा व्यापारों को आत्मसात कर उसके सौन्दर्यात्मक पक्ष का उद्घाटन करती है। इस स्वाभाविक शक्ति से प्रेरित होकर कलाकार काव्य-सृजन करता है।

कवि कल्पना का विशद विवेचन स्वच्छन्दतावाद में हुआ। कल्पना-सिद्धान्त काव्य का एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है—जिसका आधार कल्पना द्वारा स्थापित प्रत्यक्ष बोध तथा प्रत्ययों का संयोग है। प्रत्यक्ष बोध को बिम्बों में बाँधकर कल्पना अनुभूति को स्थिरता प्रदान करती है। काव्यसर्जक कल्पना में प्रत्यक्ष बोध और प्रत्ययात्मक

विचारशक्ति में पार्थक्य नहीं होता। "कोलरिज का कल्पना-संश्लेषण का सिद्धान्त" इस तथ्य को पुष्ट करता है। कल्पना एक ऐसी शक्ति है जिसमें एक बिम्ब अथवा अनुभूति अनेक बिम्बों और अनुभूतियों को जन्म देती है। उदाहरण के लिए, अगर कमल के फूल का प्रत्यय हमारे मन में है तो हम अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा उसे ईश्वर की मूर्त्ति पर चढ़े हुए हार में, नायिका के केशपाश में, कोट के बटन होल में परिकल्पित कर सकते हैं। जाहिर है एक विशेष रूप से अनेक में ढलने वाली प्रक्रिया कल्पना से ही सम्भव है। स्मृति की असंकल्पित क्रिया कल्पना के बिम्बों को आकार देती है। फिर उसमें अनुभूति, आकार एवं यथार्थ संश्लेषण के विशिष्ट गुणों का समावेश हो जाता है। अन्ततः कल्पना अनेक परिस्थितियों को चेतना के एक क्षण में संयुक्त सृजन हेतु प्रेरित करती है। कल्पना में बिम्ब अनन्य, तात्कालिक तथा अप्रतिरूप होते हैं। काल्पनिक प्रक्रिया यथार्थ घटना से प्रेरित और कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से सम्बद्ध होती है, जैसे, उपर्युक्त उदाहरण में यदि किसी ने कमल का फूल ही नहीं देखा तो वह उसकी कल्पना कैसे करेगा ?

जर्मनी के दार्शनिक कांट ने आरम्भिक सिद्धान्त में कल्पना के स्थान पर विचार-शक्ति को प्राथमिकता दी थी लेकिन क्रमशः उनके विचारों में परिवर्तन आया और वे मानने लगे कि कल्पना ही अनुभूति एवं विचार-शक्ति दोनों का सामान्य मूल है। अनुभूति तत्त्व में सर्जनात्मक कल्पना की सक्रियता से इन्कार नहीं किया जा सकता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक 'थाट्स ऑन पोइट्री एण्ड इट्स वरायटीज' में कल्पना तत्त्व पर चिन्तन करते हुए लिखा कि प्रत्येक विचार अथवा बिम्ब-समूह के केन्द्र में अनुभूति का अस्तित्व होता है और इन विचारों तथा बिम्बों का अस्तित्व इस अनुभूति के बिना असम्भव है। अतः स्थापित संयोग, उसके द्वारा रंजित चित्र, वे सम्पूर्णताएँ जिनका कल्पना ने स्वच्छन्द कल्पना से उपलब्ध सामग्री द्वारा सृजन किया है, इन सबकी अन्विति एवं सामंजस्य के वे गुण किसी एक प्रमुख अनुभूति से प्राप्त होते हैं जो तारतम्यहीनता से उनके प्रभेद के सूचक हैं।"

विचार-शक्ति, किसी अनुभव में निहित सिद्धान्त अथवा विचार को इस रूप में अभिव्यक्त कर सकती है कि वह हमें बौद्धिक रूप से समझ में आ जाये पर उसमें पूर्णता का बोध कराने की क्षमता नहीं है, किन्तु जब इसमें कल्पना का भी समावेश हो जाता है तो इसमें सम्पूर्णता का बोध कराने की क्षमता आ जाती है, क्योंकि बुद्धि कल्पना के द्वारा किये गये मूल संयोजन का विश्लेषण करती है। सम्पूर्ण ज्ञान के लिए दो पक्षों का संयोजन जरूरी है, जिसमें से एक प्रत्यक्ष तथा काल्पनिक है और दूसरा विचारशील अथवा विश्लेषणात्मक है। काल्पनिक जीवन की रचना अन्विति तथा वैयक्तिक सम्पूर्णताओं के प्रत्यक्ष बोध से होती है जबकि बौद्धिक जीवन का निर्माण

वर्गीकरण और प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रियाओं से होता है। वस्तुतः कल्पना संकल्प-शक्ति एवं विचार-शक्ति के विवेचन के अभाव में कार्य नहीं करती।

कोलरिज ने कल्पना के दो स्तरों का वर्णन किया—एक है मुख्य कल्पना और दूसरी द्वितीयक कल्पना। मुख्य कल्पना जहाँ स्मृति द्वारा बिम्ब-रचना की प्रक्रिया है वहीं वैयक्तिक कल्पना अतीन्द्रिय प्रक्रिया है। दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मुख्य कल्पना से उत्पन्न होकर वैयक्तिक कल्पना इस प्रकार प्रवाहित होती है कि यह जान पाना असम्भव हो जाता है कि कहाँ एक का अन्त और दूसरे का आरम्भ है। वस्तुतः ये कल्पना की ही भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। कल्पना जहाँ प्रत्यक्ष बोध कराती है वहीं उसका मुख्य स्तर अथवा आरम्भिक स्तर है। इस स्तर पर कल्पना प्रत्यक्ष बोध से उपलब्ध वस्तुओं को अर्थ युक्त संरूप में संघटित करती है, यहाँ विश्लेषण एवं चिन्तन का समावेश नहीं होता। दूसरे स्तर पर कल्पना की प्रक्रिया दुहरी प्रक्रिया है जिसका परिमापन संश्लेषण में, एक सुव्यवस्थित मानसिक अन्विति में होता है। इसका सचेतन संकल्प शक्ति के साथ सह अस्तित्व होता है।

कोई घटना जैसे ही चेतन मन में प्रविष्ट होती है स्मृति की सहचरी कल्पना उद्दीप्त होकर उस स्थितिविशेष की ओर प्रवृत्त हो जाती है। यह एक प्रकार से विक्षोभ, अशान्ति की, अनुभूति की अर्थात असंतुलन की स्थिति होती है। कवि इस अनुभूति से उत्पन्न शक्ति को तद्रूप लयपूर्ण भाषा में अभिव्यक्त करके मानसिक संतुलन प्राप्त करता है। गहराई से देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि कल्पना ही वह शक्ति है जो कवि को साधारण व्यक्ति से पृथक् करती है। घटनाविशेष के द्रष्टा असंख्य होते हैं पर उस घटना को कविता का रूप देने वाला कोई एक होता है। अपनी आत्माभिव्यक्ति को रूपाकार देकर कवि एक प्रकार का विरेचन प्राप्त करता है। कविता में रूपान्तरित होकर वह घटना कवि को तनावमुक्त कर देती है।

किसी वस्तु के प्रत्यक्षबोध की अबोधगम्यता से आन्तरिक उद्वेलन उत्पन्न होता है। चूँकि प्रत्यक्षबोध अस्पष्ट होता है अतः उससे उत्पन्न आन्तरिक उद्वेलन की अस्पष्ट अनुभूति देता है। आत्मचेतन द्वारा उसी अस्पष्ट अनुभूति के विक्षेप की प्रक्रिया ही द्वैतीयक कल्पना कही जाती है। साहित्यकारों ने इसे काव्य-विरेचन की संज्ञा भी दी है। काव्यसृजन के लिए कवि का ऐसी अनुभूति से मुक्त होना आवश्यक है। रोबिन स्केलटन ने काव्यप्रक्रिया की उच्च एवं अर्थपूर्ण स्तर पर, "मानसिक संतुलन तथा एकान्वित अवबोधन" तथा "परस्पर विरोधी आवेगों के बीच संतुलन" की स्थापना के रूप में व्याख्या की है।

काव्य-प्रक्रिया एक भावस्थ क्रिया है क्योंकि कवि अपने विक्षोभ को उससे घनिष्ठ तादात्म्य स्थापित कर शान्त करता है। अशान्ति उत्पन्न करनेवाली मूल घटना के अधिक से अधिक निकट जाकर कवि उससे उत्पन्न अनुभूति का अपनी क्षमतानुसार परिष्कार करता है। इस अर्थ में काव्य-प्रक्रिया पलायन-क्रिया नहीं है। इसीलिए काव्य को प्रतीकात्मक क्रिया भी कहा गया है। कल्पना-कृतियाँ विशेष स्थितियों से उत्पन्न तथा उनके द्वारा प्रस्तुत समस्याओं का समाधान होती हैं। काव्य की कल्पना प्रक्रिया मुख्यतः अचेतन है क्योंकि पूर्ववर्ती तत्त्वों का रूपान्तर करनेवाली सर्जनात्मक प्रक्रियाएँ निश्चित ही चेतन मन के परे घटित होती हैं। जब तक एक आकार संकेन्द्रित ध्यान का विषय बना रहता है,मस्तिष्क में उसका रूपान्तर एवं स्पष्टीकरण होना असम्भव है। किन्तु वस्तुतः कल्पना का "सचेतन संकल्प-शक्ति के साथ सह अस्तित्व होता है" और इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि काव्य की कल्पना-प्रक्रिया न पूर्णतः अचेतन है और न चेतन। सच तो यह है कि परस्पर विरोधी तत्त्वों के सन्तुलन से काव्य का जन्म होता है। काव्य-प्रक्रिया यान्त्रिक नहीं होती क्योंकि उसे रचनेवाला संवेदनशील प्राणी है। अपनी गहन अनुभवशीलता के आधार पर ही वह कल्पना भी करता है, वह अपने अनुभवखण्डों से समग्र जीवन के एक एकान्वित परिग्रहण हेतु प्रयत्नशील रहता है।

कवि के व्यक्तित्व का अचेतन अंश व्यक्तीकरण की प्रक्रिया से अधिक विकसित होता है। कवि-व्यक्तित्व के विकसित होने से उसकी सहज प्रवृत्ति और तर्कबुद्धि के बीच तनाव आ गया है जिसका समाधान द्वैतीयक कल्पना करती है, इसी को मुक्तिबोध कल्पना का तीसरा क्षण कहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक कवि का सन्तुलन एक विशेष प्रकार का हो, सम्भव है किसी में सहज बुद्धि अधिक विकसित हो तो किसी में तर्कबुद्धि, और इसी आधार पर एक कविता में सचेतन अथवा अचेतन का कम या अधिक होना निर्धारित होता है। स्टीवन स्पेण्डर ने "द मेकिंग ऑव अ पोयम" में स्पष्ट किया है कि—"एक कविता का प्रथम प्रारूप उस आकृति के समान है जो स्मृति में स्पष्टतः अंकित हो गयी प्रतीत होती है किन्तु जब हम उसका परीक्षण आरम्भ करते हैं और उसके विभिन्न हिस्सों का स्मरण करने का प्रयत्न करते हैं तो वह धुँधली होती जान पड़ती है।" अपनी कविता का प्रथम प्रारूप प्राप्त करने के पश्चात् स्पेण्डर द्वैतीयक रचना की प्रक्रिया का प्रदर्शन करते हैं। तत्पश्चात् वह मूलतः प्रत्यक्ष बोधित संगीत तथा आन्तरिक अनुभूति के अनुरूप शब्दों में उसे अभिव्यक्त करने का प्रयास करते हैं। इलियट, केनेथ बर्क आदि शाब्दिक अभिव्यंजना के पूर्व होनेवाले अचेतन कल्पना-संश्लेषण के महत्त्व को स्वीकारते हैं और अविकृत सचेतन संगठन की आयोजना पर अधिक बल देते हैं। कोलरिज ने इस सन्दर्भ में ठीक ही कहा है कि कल्पना के नियम स्वतन्त्रता एवं विकास के नियम हैं। कल्पना के लिए स्वच्छन्द कल्पना का सहयोग

आवश्यक है। सत्य तो यह है कि कल्पना उच्चतर बौद्धिक शक्ति या निम्नतर स्वच्छन्द कल्पना की अनुरूप शक्ति के माध्यम से ही सक्रिय हो सकती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कल्पना का व्यापार मूर्त विधान करता है, इस अर्थ में वह ग्राहक भी है विधायक भी। कल्पना काव्य में रमणीयता, रागात्मकता लाती है, आनंद की सृष्टि करती है। जीवन के विविध दृश्य प्रस्तुत करती है। निराकार वस्तुओं को आकार देती है, तथ्य को चित्रमय बनाती है तथा भावों को जाग्रत करती है। कल्पना के अभाव में सूक्ष्म विशेषताएँ, गुण, चेष्टाएँ, क्रियाकलाप तथा मनोगत भाव पूर्णतः प्रकट नहीं हो सकते थे। वस्तुतः कल्पना-शक्ति ही कवि-प्रतिभा है।

फैण्टेसी

फैण्टेसी शब्द साहित्य के लिए नया नहीं है। रचना-प्रक्रिया में रचनाकार जब बाह्य परिवेश को आत्मसात् करता है तब उसके मन में कुछ धुँधला रहस्यमय कल्पना-चित्र उभरता है और यह स्वप्निल प्रभाव उसके अभिव्यक्ति-पक्ष का माध्यम बनता है। इसी को फैण्टेसी टेकनीक कहा जाता है।

फैण्टेसी अंग्रेजी का शब्द है जो यूनानी शब्द "फैण्टेसिया" से निर्मित है, जिसका अभिप्राय है मनुष्य की वह क्षमता जो संभाव्य संसार की सर्जना करती है। इस प्रकार फैण्टेसी का अर्थ स्वप्नचित्र है। मनुष्य के शैशव स्वभाव का एक अभिन्न अंग है फैण्टेसी। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि रचनाकार के भीतर छिपा हुआ "शिशु" ही साहित्यिक फैण्टेसी का निर्माण करता है। यह एक विशेष प्रकार की कल्पना-शक्ति है जिसे दिवास्वप्नात्मक अथवा दुःस्वप्नात्मक मानसिक बिम्ब की भी संज्ञा दी जा सकती है। इसे माया का आवरण, स्वप्नशीलता की पूरक एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता, सनक, अन्वेषण का भी रूप माना गया। क्षमता का व्यापक विकास न होने के कारण कुछ लोग इसे शकुन अथवा देव-प्रकटीकरण के रूप में भी देखते थे।

बीसवीं शती में फैण्टेसी को दिवास्वप्न का पर्याय मान लिया गया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से फैण्टेसी का सम्बन्ध उसके विचार-प्रवाह तथा उसी की चक्षुबिम्बात्मक अभिव्यक्ति से है। फ्रायड ने सम्पूर्ण साहित्य-सृजन को फैण्टेसी का एक प्रकार माना है। दरअसल, यह एक क्रिया है जो किसी अतीत की घटना अथवा कल्पित घटना के साथ जुड़कर संवेदनाओं, अनुभूतियों को स्वप्नचित्रों में परिबर्तित कर देती है। विचारों के विवेचन में इसको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का यह भी विचार है कि फैण्टेसी बाह्य जगत को समझने में अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। यह एक ऐसी धारणा है जो साहित्य-सृजन में प्रासंगिक है। सिंगर के मतानुसार फैण्टेसी को संज्ञानात्मक निपुणता समझना चाहिए जो तादात्म्य अनुकरण तथा क्रीड़ा भाव के कारण

अधिक विकसित होती है। इसका सम्बन्ध व्यक्ति के अहं के साथ है जो सूक्ष्म विचारों को सहज सम्प्रेषणीय बनाती है।

समकालीन साहित्य तथा समीक्षाशास्त्र में फैण्टेसी एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द बन गया है जो विशेष प्रकार के साहित्य तथा अभिव्यक्ति उपकरण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। मानविकी पारिभाषिक कोश में फैण्टेसी को स्वप्नचित्र मूलक साहित्य कहा गया है, जिसमें असम्भाव्य सम्भावनाओं को प्राथमिकता दी गयी है। इसके प्रयोजनों पर भी चर्चा की गयी। मनोरंजन, यथार्थ से पलायन तथा सदोष मानव एवं दोषयुक्त संसार के प्रति नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करना फैण्टेसी के ये तीन प्रयोजन हैं। इसमें से दो प्रयोजन—मनोरंजन तथा यथार्थ से पलायन—देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी उपन्यासों में मिल जाते हैं, तीसरे प्रयोजन का उदाहरण पाश्चात्य भाषाओं में स्विफ्ट की "गुलीवर्ज ट्रेवेल्स", वाल्तेयर की "कांकीद" आदि हैं लेकिन इन कृतियों को फैण्टेसी मूलक रचनाएँ मानना ही भ्रामक है। आज ऐसी रचनाएँ नहीं लिखी जा रही हैं फिर भी कहीं ज्यादा गहरे स्तर पर वहाँ स्वप्नचित्रों को लक्षित किया जा सकता है। प्रत्येक रचना-प्रक्रिया में फैण्टेसी की सर्जनाशक्ति छिपी हुई है इसलिए प्रत्येक रचनाकार कहीं न कहीं फैण्टेसी जैसे तत्त्व का इस्तेमाल करता है और इसीलिए गम्भीर रचनाओं में फैण्टेसी के अंशों को भली-भाँति देखा जा सकता है : वह चाहे 'कामायनी' हो (जयशंकर प्रसाद की), चाहे 'अँधेरे में' (मुक्तिबोध) हो, चाहे 'एक और जिन्दगी' (मोहन राकेश) हो, चाहे 'अपने-अपने अजनबी' (अज्ञेय) हो, और चाहे 'एक चिथड़ा सुख' (निर्मल वर्मा) हो। कोई भी ऐसी रचना जो अनुभव के धरातल पर तीव्र अन्तर्द्वन्द्व को मूर्त्त रूप प्रदान करती है, फैण्टेसी-परक होती है। यह भी सच है कि कोई-कोई रचना मुकम्मल फैण्टेसी नहीं होती, उसका कोई अंश ही होता है जिसका आकलन फैण्टेसी-मूलक विचार-प्रवाह में पड़कर किया जाता है।

अजन्मे कल के विषय में आशावादी दृष्टिकोण अपनानेवाले और उसे आज से बेहतर माननेवाले रचनाकार फैण्टेसी से अधिक काम लेते हैं। उन्हें विश्वास होता है कि कल आज जैसा नहीं होगा। मुक्तिबोध के अनुसार 'फैण्टेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का, अनुभूत जीवन-समस्याओंका, इच्छित विश्वासों और इच्छित जीवनस्थितियों का प्रक्षेप है।' रचना-प्रक्रिया में रचनाकार जीवन-जगत् के तथ्यों, प्रभावात्मक आग्रहों को, नेपथ्य में रखकर तथ्यों की स्वानुभूत विशेषताओं का स्वप्नचित्रात्मक प्रक्षेप करता है। मुक्तिबोध की कविताएं बार-बार आगामी सपनों को प्रतीकों, बिम्बों के माध्यम से शब्दायित करती हैं। कहना न होगा कि यह वक्तव्य फैण्टेसी-परक सार्थकता को ही स्पष्ट करनेवाला है। मुक्तिबोध ने इसका सर्वाधिक उपयोग किया है। 'पता नहीं' शीर्षक कविता में क्रान्ति की कामना के उदित होने का एक घटनात्मक चित्र खींचा गया है जो स्वप्नचित्र या फैण्टेसी है—

मुख है कि मात्र आँखें हैं वे आलोक भरी
जो सतत तुम्हारी चाह लिये होती गहरी
इतनी गहरी/कि तुम्हारी थाहों में अजीब हलचल
मानों अनजाने रत्नों की/अनपहचानी सी चोरी में
धर लिये गये/निज में बसने, कसलिये गये।

कवि के ही शब्दों में यह कैसी घटना है कि स्वप्न की रचना है। स्पष्ट है कि कविता में प्रयुक्त 'तुम' मुक्तिबोध का अप्रस्तुत श्रोता है जिसके दुःख से द्रवित होकर मुक्तिबोध बार-बार उसे सम्बोधित करते हैं। अपने अप्रस्तुत श्रोता को कवि बताता है कि उषा की आलोक भरी आँखें उसकी मानसिक थाह के साथ इतनी गहरी हो जाती हैं कि पाठक श्रोता के मन में हलचल मच जाती है। उसे लगता है कि वह अनजाने रत्नों की चोरी में धर-कस लिया गया। फिर अचानक वह अपने आपको स्वप्नों में घिरा पाता है। स्वप्न की समाप्ति एक प्रश्न-चिन्ह खड़ा कर देती है कि पता नहीं जिन्दगी आगे किन खतरों से जूझेगी। एक साहित्यिक की डायरी में मुक्तिबोध ने कला के तीन क्षणों की विवेचना की है—एक; जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण, दो; अपने कसकते,दुःखते मूलों से इस अनुभव की पृथक्ता और आँखों के सामने उपस्थित सी 'फैण्टेसी' में रूपान्तरण, तीन; इस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ। उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता रचना-प्रक्रिया में फैण्टेसी का मर्म एक परिदृश्य का रूप ग्रहण कर लेता है, और इस सन्दर्भ में उपर्युक्त कविता में स्वर्गीय उषा 'क्रान्ति' या नवजागरण का ऐसा स्वप्न है जो बहुमुखी होकर हजार आँखें से परिवर्त्तन का भी मनुष्य के मन में उद्वेलन तथा उमंग भरता है। वह इस सपने में कसलिया जाता है और अब तक के अनजाने विचार-रत्नों को चुराकर प्रतिबद्ध हो जाता है। चोरी में प्राथमिक आशंका का भाव निहित है और इसी स्वप्नचित्र के बीच मुक्तिबोध का प्रिय शक्तिपुरुष उपस्थित होता है जो जनक्रान्ति का अग्रदूत है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि फैण्टेसी का कोई एक अर्थ ही अन्तिम अर्थ नहीं है क्योंकि फैण्टेसी का विधान ही अर्थ की निरन्तरता के लिए किया जाता है। वस्तुतः प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत की असंगति सबसे ज्यादा फैण्टेसी में होती है। मुक्तिबोध के शब्दों में वह फैण्टेसी ही क्या जिसमें असंगति न हो। कहना न होगा कि बाह्य जगत और कवि चेतना के द्वन्द्व से विकसित अनुभव रचनाकार को मथता है और उसे अभिव्यक्ति देने की कोशिश में ही वह फैण्टेसी का विधान करता जाता है। कला के तीन क्षणों का विवेचन करते समय मुक्तिबोध ने फैण्टेसी को अनुभव की कन्या तथा

कृति को फैण्टेसी की पुत्री कहा है। फैण्टेसी के क्षण में वैयक्तिक अनुभव परिवर्तित होकर निर्वैयक्तिक हो जाता है। मुक्तिबोध प्रश्न उछालते हैं कि, "क्यों कलाकार को प्रतीत होता है कि उसकी बात सभी के लिए महत्त्वपूर्ण है?" इसलिए कि स्थितिबद्ध और स्थितिमुक्त वैयक्तिकता का समन्वय उच्चतर स्थिति में पहुँच जाता है और इसके फलस्वरूप जो प्रभाव आभास मात्र होते हैं वे कवि के मानसपटल पर चित्र बनकर उभरते हैं और उन चित्रों को वह भाषाबद्ध करता है। यही कारण है कि रचनाकार के मानसपटल पर आकलित फैण्टेसी और शब्दबद्ध फैण्टेसी में अन्तर पाया जाता है, शब्दबद्ध होकर स्वप्न यथार्थ में बदल जाता है। मुक्तिबोध के मत में "कला के तीसरे क्षण में फैण्टेसी का मूल मर्म, अनेक सम्बन्धित जीवनानुभवों से उत्पन्न भावों और स्वप्नों से मुक्त होकर इतना अधिक बदल जाता है कि लेखक उस पूरी फैण्टेसी को एक नयी रोशनी में देखने लगता है।" मुक्तिबोध उसे "पर्सपेक्टिव" कहते हैं। शब्दबद्ध होने से भाषा के तत्त्व भी उसमें समन्वित होते हैं और भाषा फैण्टेसी को संशोधित-परिवर्तित करती है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है। अरूप को रूप देना, अगम को नाम देना उसे आमूल परिवर्तित कर देता है। ठीक इसी प्रकार फैण्टेसी नाम-रूप से संयुक्त होकर अमूर्तता से कटकर मूर्त, नवल तथा भिन्न हो जाती है। जाहिर है कि मूर्त होकर जो फैण्टेसी हमारे समक्ष उपस्थित होती है वह फैण्टेसी-प्रसूत होती है, फैण्टेसी की प्रतिकृति नहीं। फैण्टेसी के रूप में अप्रस्तुत विधान सार्वजनीन समृद्ध हो जाता है, और यह सार्वजनीनता अभिव्यक्ति-प्रक्रिया में शब्दों के अर्थ के अर्थस्पन्दनों द्वारा पैदा होती है। अर्थस्पन्दनों के पीछे सार्वजनिक सामाजिक अनुभवों की एक लम्बी परम्परा होती है। इसलिए अर्थपरम्पराएँ फैण्टेसी के मूल अर्थ को काटती ही नहीं हैं, तराशती भी हैं; रंगहीन ही नहीं करतीं, नया रंग भी चढ़ाती हैं; इसके अतिरिक्त उसे नये भावों, विचार-प्रवाहों से सम्पन्न करके अर्थक्षेत्र का विस्तार करती हैं। यही कारण है कि मुक्तिबोध को छोटी कविताएँ अधूरी लगती हैं, क्योंकि वहाँ ये परिदृश्य उभर नहीं पाते। उनकी कविता में बराबर उनकी आत्मा का सहचर मित्र मौजूद है और वह वही है जिसके चेहरे पर मुक्तिबोध की ही तरह सूनेपन और अनाशा की कालिख पोत दी गयी है। पर आज के संघर्ष-जीवन में भी वह अपना पक्ष चुनने को विवश है, अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाकर। फैण्टेसी का उपयोग लेखक के लिए कई अर्थों में सुविधाजनक होता है। स्वप्न-चित्रात्मक विधान यदि न होता तो 'अँधेरे में' जैसी कविताएँ सिर्फ एकालाप बनकर रह जातीं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रतीक योजना भी अर्थों के अनेकायामी स्तर खोलने में अक्षम है, इसके प्रयोग से किसी एक विचारधारा से प्रतिबद्ध रचनाकार भी पुनरावृत्ति जैसे दोष से ग्रस्त नहीं होता, क्योंकि फैण्टेसी में वस्तुपक्ष को गौण रखकर भावों की भाषा में उसे ध्वनित करने की अपूर्व क्षमता होती है। जीवन में जो घटनाएँ, विचार असंगत कहे जाते हैं, फैण्टेसी में वे ही संगीत का उन्मेष करते हैं। अतः

कलात्मक प्रच्छन्नता के अतिरिक्त फैण्टेसी में असंगति के द्वारा संगीत-निदर्शन की सुविधा अन्य प्रतिमानों से अधिक है। स्वप्निल प्रभाव में असंभव को संभव दिखाने की क्षमता है, तभी तो मुक्तिबोध का "पुरुष" अपनी भुजाओं पर आसमान उठा लेता है; और तो और, आग में कमल खिला सकता है। मुक्तिबोध की मान्यता है कि फैण्टेसी के उपयोग की सुविधाओं में एक यह भी है कि इसके द्वारा जिये और भोगे गये जीवन की वास्तविकताओं के बौद्धिक अथवा सारभूत निष्कर्षों को अथता जीवन-ज्ञान को कल्पना के रंगों में प्रस्तुत किया जा सकता है। लेखक वास्तविकता के प्रदीर्घ ज्ञान गर्भ फैण्टेसी द्वारा सार रूप में जीवन की पुनर्रचना करता है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि फैण्टेसी ने विलक्षण कलात्मक समृद्धि प्रदान की है।

मिथक

"मिथक" के अध्ययन के प्रति समसामयिक साहित्यशास्त्र विशेष अभिरुचि प्रदर्शित करता है। कुछ लोग तो साहित्य और मिथक में फर्क नहीं मानते हैं। पश्चिम में विशेष रूप से अमेरिका में मिथकीय आलोचना की एक प्रणाली विकसित हुई है। अब तो हिन्दी समीक्षाशास्त्र में भी मिथकीय आलोचना का खूब प्रसार हो रहा है। उसे एक सार्वभौम तथा वैज्ञानिक पद्धति माना जाता है। साहित्य ही नहीं, मनोविज्ञान, नृतत्त्वविज्ञान, समाजविज्ञान के क्षेत्र में भी मिथकों पर महत्त्वपूर्ण कार्य किये गये हैं।

अंग्रेजी शब्द "मिथ" को ही हिन्दीमें "मिथक" कहा गया है। यह शब्द यूनानी के "माइथोस", लैटिन के "मिथस" और जर्मन के "मिथोस" का ऋणी है। कोशीय अर्थ में "मिथक" परम्परागत या अनुश्रुत कथा है जो किसी अतिमानवीय तथाकथित प्राणी या घटना से सम्बन्ध रखती है। विशेषतः इसका सम्बन्ध देवताओं, विश्व की उत्पत्ति तथा विश्व वासियों से होता है। यह एक ऐसा विश्वास भी है जो बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लिया जाता है। हिन्दी में "मिथ" का यही अर्थ है। सामान्यतः मिथ एक मिथ्या कथा है। फ्रेजर, हेरिसन, एम०एम० कार्नेफोर्ड आदि ने मिथक के सर्जनात्मक पहलुओं को आगे बढ़ाया है। फ्रायड और उनके अनुयायी मिथक को स्वप्न का सजातीय मानते हुए उसे इच्छापूर्ति का एक विधान स्वीकारते हैं। जिस प्रकार हमारा अवचेतन मन सदैव अपनी दमित इच्छाओं को स्वप्नों अथवा दिवास्वप्नों के द्वारा पूरा करता है उसी प्रकार पुराकाल में आदिम मानव अपनी रागद्वेषजन्य इच्छाओं, प्रेमजन्य वासनाओं तथा मृत्युजन्य संत्रास की भावनाओं को मिथकों के रूप में प्रतिफलित करता था। ग्राहम हफ की धारणा है कि "मिथक किसी विशिष्ट भाषिक संरचना में बँधा नहीं रहता। एक ही मिथक की विभिन्न भाषिक अभिव्यक्तियाँ हो सकती हैं।" अधिकांश मिथक अर्थ-मिथक होते हैं तथा प्राकृतिक व्यवस्था तथा ब्रह्माण्ड की आदिम

व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं। शास्त्रीय लेखकों के पास एक बना-बनाया मिथक-शास्त्र होता था। आज लेखकों ने अपना मिथक-शास्त्र स्वयं तैयार किया है ताकि उन्हें अपने विश्वासों का संवाहक बना सकें।

मिथक को आदिम मनुष्य की चेतना का प्राथमिक सर्जनात्मक बिम्ब कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विवाद है कि भाषा पहले अस्तित्व में आयी अथवा मिथक। विको के मतानुसार भाषा की उत्पत्ति सांकेतिक अभिव्यक्ति से हुई, मिथक भाषा विकास की मंजिल है, जबकि हरडर के मत में भाषा का आविर्भाव मिथक से हुआ है। मैक्समूलर मिथक की उत्पत्ति भाषा से मानता है और मिथक को भाषा का रोग कहता है। कैसिरर ने भाषा और मिथक की उत्पत्ति एक साथ मानी है। युंग ने इसे सामूहिक आद्य बिम्ब की संज्ञा दी है। सामूहिक अवचेतन गुह्य, गम्भीर और व्यापक होता है, अतः इस आधार पर इसे 'डीपस्ट्रक्चर' कह सकते हैं जिसकी अभिव्यक्ति मिथक है। फ्रान्सीसी समाजशास्त्री दुर्खीम के मतानुसार मिथक का सम्बन्ध प्रकृति से न होकर समाज से है। जबकि मलिनोव्स्की का कहना है कि मिथक न प्रकृति के प्रति चामत्कारिक प्रतिक्रिया है न विगत का आलेख। उसका प्रयोजन सामाजिक व्यवस्था का संरक्षण और संचालन है। रेनेवेलेक की दृष्टि में इस शब्द का अर्थ निश्चित कर पाना आसन नहीं है, यह एक अर्थ क्षेत्र का संकेत है। रिचर्ड चेज काव्य को मिथक और मिथक को काव्य मानते हैं। काव्य और मिथक एक ही मानवीय आवश्यकता से उद्भूत होते हैं। उनमें एक ही प्रकार की प्रतीकात्मक संरचनाएँ होती हैं। मिथक के प्रति इस पक्षधरता से चेज को कुछ समालोचक मिथक का दीवाना भी कहते हैं। श्रीमती लैंगर ने कला को मिथकीय चिन्तन से जोड़ा है। परी-कथाएँ आदि स्वयं में कला नहीं हैं, वे कला के लिए कच्चा माल हैं। मिथक की प्रकृति ऐसी है कि उसे विशिष्ट शब्दों या भाषा में बाँधना आवश्यक नहीं है, उसका अनुवाद हो सकता है।

मिथक आदिम मनुष्य का यथार्थ है, जबकि साहित्य सभ्य मनुष्य का यथार्थवाद है जिसमें उसका अपना उद्देश्य और दृष्टिकोण भी समाहित है। साहित्य मिथक नहीं है, हाँ, साहित्य में उसका साभिप्राय प्रयोग होता है। साहित्यकार मिथकीय बिम्बों द्वारा आदिम विश्वासों को नया रूप देता है और सम्प्रेषण की समस्या का समाधान करता है। डॉ० रमेश कुन्तल मेघ का विचार भी कुछ ऐसा ही है। वह कहते हैं कि, "मिथक मानवजाति का सामूहिक स्वप्न एवं सामूहिक अनुभव है और स्वप्न एक व्यक्ति की सुप्त आकाँक्षा।" मिथक प्रागैतिहासिक घटना या आस्था है। मानव चेतना मिथकीय चेतना से ही विकसित होकर यथार्थवादी चेतना में परिणत होती है, अतः मिथक मनुष्य का आदिम काव्य है। मिथक की अन्तर्भूमि चिन्तन नहीं है, अनुभूति है। इसमें आस्था से अधिक विश्वास का आग्रह है और यही वह भूमि है जिसपर मिथकीय कल्पना का

हवामहल खड़ा होता है। सामान्यतः पृथ्वो, क्षितिज आदि शब्द धरती के वाचक हैं, किन्तु काव्य में प्रयुक्त होकर ये अपने बद्ध अर्थ की सीमाओं का अतिक्रमण करके अनन्त अर्थ की सम्भावनाओं से जुड़ जाते हैं, पृथ्वी व्यापकता का प्रतीक बन जाती है। कहा जा सकता है कि आदिम साहित्य की मिथकीय चेतना शाश्वत आज में जीवित रहती है। मिथक भाषा की सर्जनात्मक उपयोगिता है। जैसा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि, "मिथक तत्त्व वस्तुतः भाषा का पूरक है। सारी भाषा ही इसके बल पर खड़ी है, साहित्य में मिथक अनंत अनुभवों का विश्लेषण है।"

लेखक एक प्रकार का "मिथमेकर" है, वह अवचेतन में से एक आद्य सत्य को भाषा देता है। डॉ॰ नगेन्द्र की दृष्टि में फिर भी साहित्य के अनन्त विस्तार को देखते हुए मिथक की दुनिया बड़ी छोटी है। नये कवि वर्तमान के अतीतत्त्व और अतीत की वर्तमानता में विश्वास करते हैं। समसामयिक अव्यवस्था को ठोस और गहरे रंग से चरितार्थ करने हेतु कवियों ने पुराकथाओं और मिथकों का भरपूर इस्तेमाल किया है। उदाहरणार्थ, मुक्तिबोध की कविताओं में मिथकीय प्रतीकों, सपनों का अधिकांश प्रयोग किया है। उनकी प्रत्येक कविता भूतप्रेत, ब्रह्मराक्षस, भैंसे, पशु-पक्षी, पेड़-पौधों आदि से विन्यस्त नया मिथक रचती है। मुक्तिबोध के मिथक छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त रहते हैं, फिर उनकी टकराहट एक व्यापक यथार्थ की अभिव्यक्ति करती है। मिथकों में असम्भव के स्थान पर सम्भव का, यथार्थ के स्थान पर अयथार्थ का तथा अविरोधी के स्थान पर विरोधी का चयन शेक्सपियर का पैटर्न रहा है, जिसमें अस्तित्व का संकट झाँकता रहता है।

मिथकीय समीक्षा नृतत्त्वशास्त्र, मनोविश्लेषण और भाषिकी की सहायता से रूप-तत्त्व पर प्रकाश डालती है। रचनाकार अपने युगीन सत्य के उद्‌घाटन और जटिल मानसिकता के रेखांकन में मिथकों का ही सहारा लेता है, और रचनाकार के मूल्यांकन के लिए समीक्षक को उसी तत्त्व को हथियार के रूप में इस्तेमाल करना पड़ता है। हाँ, यह अवश्य है कि यह प्रवृत्ति बौद्धिक विचार-विश्लेषण-प्रधान तथा मनोवैज्ञानिक अधिक है। इसके अतिरिक्त यह अनेक विचारधाराओं से प्रभावित भी है। "कामायनी" के मूल्यांकन से ही मिथक पर विचार हिन्दी साहित्य में किया जाने लगा। जिसके आधार पर यह कहा गया कि कामायनी का मनु वेदकालीन मनु न होकर प्रसादकालीन है। वह उस संक्रमण काल का मनु है जिसमें भारतीय समाज सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों से कटकर औद्योगिक तथा संयांत्रिक होने की दिशा में अग्रसर है। केदारनाथ मिश्र की "प्रभात की कैकेयी" रचना में दशरथ और कैकेयी दोनों ही समकालीन षड्यन्त्र-प्रधान राजनीति की विडम्बनाओं के संवाहक हैं। दिनकर के कुरुक्षेत्र का युधिष्ठिर भयानक महायुद्धों के दुष्परिणामों से आतंकित होकर "इतिहास के अध्याय पर" रोता है, और

रसेल की मानवतावादी चेतना का प्रसार करता है। धर्मवीर भारती का "अन्धायुग", "कनुप्रिया", नरेश मेहता का "संशय की एक रात", नागार्जुन का "भस्मासुर", दुष्यन्त कुमार का "एक कंठ विषपायी" जैसी रचनाएँ मिथक के कलेवर में कई प्रकार की समकालीन समस्याओं की जटिलता का विश्लेषण करती हैं।

नाटकों में जगदीशचन्द्र माथुर का "पहला राजा", सुरेन्द्र वर्मा का "द्रौपदी", डॉ० शंकर शेष का "अरे मायावी सरोवर" मिथकीय प्रयोग की नवता के सुन्दर उदाहरण हैं। उपन्यासों में आचार्य चतुरसेन शास्त्री का "वयं रक्षाम:", हजारीप्रसाद द्विवेदी का "पुनर्नवा", नरेन्द्र कोहली का "अवसर" इस प्रयोग की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः इन सारी रचनाओं में मिथकीय पात्रों, घटनाओं, मूल्यों तथा विचारों को एक नया आयाम दे दिया गया है कि वे समसामयिक परिवेश के कटु यथार्थ बन गये हैं। इन रचनाकारों की मिथक चेतना में संतुलन तथा प्रयोगशीलता का अद्भुत कलात्मक समन्वय है।

नयी समीक्षा एक प्रकार से भाषिक समीक्षा है। साहित्य की भाषा भावात्मक होती है और भावात्मक अर्थ को जानने के लिए नया समीक्षक ज्ञान के प्रत्येक स्रोत की सहायता लेता है। मिथकीय समीक्षा में मूल प्रतीकात्मक अर्थ या आद्यबिम्ब और उनसे जुड़े मिथकों के अर्थ को जानने का प्रयत्न किया जाता है क्योंकि साहित्य में अन्तर्निहित मिथक अनंत अनुभवों का विश्लेषण हुआ करता है। अतः समीक्षक का यह दायित्व हो जाता है कि वह सर्वप्रथम उस मिथक को ही समझे। इसी अर्थ में मिथकीय आलोचना को मूलतः अन्तःशास्त्रीय कहा जाता है। मिथकीय आलोचना भाषिक आद्यसत्य को जो अवचेतन में निहित है, खोज निकालती है। वस्तुतः मानव की एक मूलभूत आवश्यकता है कि वह मिथकों का निर्माण करे। मिथक मात्र सृजनशील रचनाकार को ही प्रभावित नहीं करता वरन् वह संकल्पनाएँ व पैटर्न भी प्रस्तुत करता है,जिनकी सहायता से मिथकीय आलोचक के लिए किसी साहित्यिक कृति की आलोचना सम्भव हो पाती है। मिथकीय व्याकरण से परिचित समीक्षक के लिए साहित्य की भाषा को समझने में अधिक सुनिश्चितता तथा क्षमता आ जाती है। साहित्य में गम्भीरता का आधार मिथक ही है। इसमें अन्तर्भुक्त रहस्य जिज्ञासा को सींचता रहता है।

मिथकीय आलोचना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी समन्वयवादी दृष्टि का प्रसार भी है। यह "वादमुक्त" आलोचना है। मिथक के अर्थ के विवाद में न पड़कर मिथकीय आलोचक यह देखता है कि कृति के सन्दर्भ में उसका कौन-सा अर्थ उपयोगी है और वह उसीको स्पष्ट करने में अपनी क्षमता का उपयोग करता है।

मिथकीय आलोचना साहित्य की स्वायत्तता की पक्षधर है किन्तु आलोचक को सीमित दायरे में नहीं बाँधती, अपितु दूसरे ज्ञान-विज्ञान से भी सम्बद्ध होने को कहती है जिससे यथार्थ के प्रति उसकी दृष्टि एवं उस यथार्थ की अनुभूति के तरीके में विस्तार

हो सके। साहित्य के विश्लेषण में वह साहित्येतर ज्ञान की आवश्यकता को भी स्वीकारती है। मिथक के अनेक अर्थस्तर होते हैं जो रचनाकार के बोध के द्वारा प्रक्षेपित होते हैं। वे अर्थस्तर वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक, ब्रह्माण्डीय तथा पारलौकिक हो सकते हैं। मिथकीय समीक्षा इन्हीं अर्थस्तरों की खोज करती है।

अप्रस्तुत के प्रस्तुतीकरण के लिए भाषिक स्तर पर भी अनेक रचनाकार मिथकीय शब्दों का उपयोग करते हैं। ऐसे शब्द बहुत सार्थक होते हैं, क्योंकि वे स्थितियों, समग्र अनुभवों, मनोदशाओं, मूल्यों, जीवनदृष्टियों, वास्तविकताओं, घटनाओं आदि के संक्षिप्त एवं सरलीकृत पर्याय बनकर आते हैं। युधिष्ठिर, अहिल्या, सीता, सावित्री, महाभारत, बनवास आदि हजारों शब्द हैं जो अपने पीछे एक लम्बा इतिहास छिपाये हैं। आज के आपाधापी के इस दौर में किसी को पढ़ने समझने सुनने का न अवसर है, न आवश्यकता। इसीलिए लघुकथा, मिनी कविता, क्षणिका जैसी विधा ज्यादा प्रचलित हो रही है और काव्य-मूल्य भी उसी रूप में बदल रहे हैं। यही कारण है कि प्रतीक, बिम्ब, फैण्टेसी, मिथक जैसे तत्त्व कविता का पर्याय बनते जा रहे हैं। आभ्यन्तर विचारधारा को बाह्य रूपाकार में ढालते के लिए रचनाकार के लिए मिथक अत्यन्त सहायक होता है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि लेखन मूलत: एक मिथकीय प्रक्रिया है।

प्रतीक

मनुष्य प्रतीक रचनेवाला प्राणी है। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि मनुष्य जो कुछ रचता है वह एक प्रकार से प्रतीक बन जाता है। इस तरह हमारा समस्त चिन्तन ही प्रतीकात्मक है। कहते हैं कि प्रतीक का इतिहास उसी दिन शुरू हुआ जब किसी वस्तु को कोई नाम दिया गया अथवा जब ईश्वर ने जगत् के अस्तित्व को मान्यता दी। इसका अभिप्राय है कि प्रतीक एक अर्थसंकेत है। आदिम युग की भाषाविहीन संस्कृति में अभिनय एवं अंगविक्षेप द्वारा भावों अथवा विचारों का प्रकाशन होता था। कालान्तर में प्रतीकीकरण की इसी पद्धति से भाषा और लिपि विकसित हुई। भाषा स्वयं एक प्रतीक है। किसी समरूप शब्द की सहायता से जब किसी प्रच्छन्न विषय का प्रतिविधान किया जाता है तो इसे प्रतीकीकरण कहते हैं। प्रतीक दृश्य है जो साहचर्य के आधार पर अदृश्य अथवा अप्रस्तुत को संकेतित करता है। पक्षियों के कलरव नित्य सुनने से साधारण लगते हैं जबकि डॉन एलेन की मान्यता है कि धरा और स्वर्ग के बीच स्वच्छन्द विचरण करनेवाले इन विहगों की स्वरलहरी ब्रह्माण्ड के रहस्य संकेतित करती है। और यदि हम भारतीय परिवेश में पंचतंत्र की कहानियों, जातक कथाओं को देखें तो डॉन एलेन की उपर्युक्त मान्यता सत्य से परे नहीं लगती। सामान्य जीवन-व्यवहार

में भी हम प्रतीक-पद्धति का प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ, तिरंगा झण्डा भारत देश का, रुपया भारतीय सिक्के का, वटवृक्ष विद्या का, कमल भारतीय संस्कृति का तथा नागरी भारतीय लिपि का प्रतीक है। इसी प्रकार जयचन्द देशद्रोही का, बृहस्पति ज्ञान का, गांधी शान्ति का प्रतीक बन गया है।

उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में योरोपीय वैज्ञानिक उन्नति के परिणामस्वरूप यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास अत्यन्त तीव्र गति से हुआ। इसका प्रभाव साहित्य और कला के क्षेत्र में सर्वाधिक परिलक्षित होता है। सन् १८७० और १८८५ ई० के मध्य कला-साहित्य के क्षेत्र में प्रतीकवादी आन्दोलन शुरू हुआ। अतः कलाकारों ने अपने स्वप्निल आदर्शों को प्रतीकात्मक सन्दर्भ में व्यक्त करना आरम्भ किया। सन् १८८६ ई० में जीन मोरेआस ने 'फिगारो' नामक एक पत्र में प्रतीकवाद का घोषणापत्र प्रकाशित कराया, जिसमें स्पष्टतः कहा गया कि प्रतीकवाद ही एक ऐसा शब्द है जो कला में सर्जनात्मक प्रवृत्ति को पूर्णतः व्यक्त करता है। तत्पश्चात् १८९१ में अल्बर्ट ओरिएट ने प्रतीकवाद की स्पष्ट व्याख्या करते हुए एक लेख प्रकाशित किया। इमर्सन ने शब्दों की गत्यात्मकता को दृष्टि में रखते हुए कहा कि सांकेतिक अभिव्यक्ति का नाम साहित्य है। बॉदलेयर की रचनाओं में यत्र-तत्र प्रतीकवाद के सूत्र मिलते हैं। प्रतीकवादी आन्दोलन को स्टीफेन मलार्मे ने गतिशील किया। उसने एक बडा ही स्वाभाविक सवाल उठाया कि अर्थ की स्पष्टता से आनंद कम हो जाता है अतः रहस्यात्मक प्रतीकों में यदि बात कही जाये तो वह अधिक प्रभावशाली होगी। अतः कह सकते हैं कि मलार्मे के मतानुसार रहस्य के अविकल निर्वाह से प्रतीक रचना होती है। रहस्य प्रतीकों का प्राणतत्त्व है। मलार्मे सृजन को साधना मानता हुआ विचार करता है कि "अद्वितीय क्षण मात्र प्रतीकों में बँध सकते हैं।" बर्लेन, रिम्बो, कोर्वे आदि प्रतीकवाद के समर्थकों में थे। यह आन्दोलन हीगेल और सोपेनहावर के आदर्शवादी दर्शन से भी प्रभावित हुआ। इसका प्रभाव जर्मन कवि रिल्के, रूसी लेखक ब्लोक, आयरिश कवि यीट्स आदि पर भी पड़ा।

जोसफ टी शिपली के मतानुसार प्रत्येक कला एक अन्य भाषा ही होती है और प्रत्येक कलाकार केवल अपने निर्मित प्रतीक ही प्रस्तुत करता है। एक तरह से कह सकते हैं, प्राकृतिक वस्तुओं को दिया हुआ प्रतीकात्मक अर्थ ही प्रतीकवाद की संज्ञा है। प्रकृति की यह अवधारणा कि उसमें असीम व्यंजनात्मकता निहित है—एक ऐसा केन्द्रबिन्दु है जहाँ प्रतीकवादी, कवि, दार्शनिक सभी में साम्य पाया जाता है। कुछ इसी प्रकार के विचार टामस कार्लाइल ने रखे हैं—"जिसे हम प्रतीक कहते हैं उस प्रतीक में सदा ही असीम का कुछ-न-कुछ मूर्तीकरण और प्रकाशन होता है—कम या अधिक स्पष्ट और प्रत्यक्ष। सान्त को अनन्त के साथ संपृक्त कर दिया जाता है ताकि वह

गोचर रूप से स्थित रह सके और मानो अपनी जगह साध्य हो। वस्तुतः संसार भी ईश्वर का एक विस्मृत प्रतीक ही तो है और चाहो तो यहाँ तक कहा जा सकता है कि मनुष्य ईश्वर के एक प्रतीक के अतिरिक्त और क्या है ?" अर्नेस्ट कैसिरर के मत में "भाषा का प्रयोजन यथार्थ का अनुकरण करना नहीं, वरन् उसे प्रतीकात्मक रूप देना है।"

भावात्मक तथा अभिव्यंजनात्मक, दोनों दृष्टियों से प्रतीक का काव्यत्व सिद्ध होता है। चेतना के गहन स्तरों पर अनुभूत अनिर्वचनीय भाव तथा संवेदनाओं को जैसे ही कोई रचनाकार मूर्त व स्थायी रूप देना चाहता है तो सर्वप्रथम सीमित शब्द का अनंत अर्थविस्तार करता है और यह प्रक्रिया ही प्रतीकतत्त्व को जन्म देती है। प्रतीक ही कवि की भावभूमि तथा कलाचेतना को अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं, जो सौन्दर्यवर्धक होती है। कवि की यह शिल्पगत कसौटी है कि वह सन्दर्भों को प्रतीक रूप में ग्रथित कर पाया है या नहीं। सन्दर्भ को अर्थ का एक आयाम देना तथा उसे प्रतीक रूप में संक्रमित करना कवि-प्रतिभा पर निर्भर है। मानवकृत वस्तुजगत् तथा व्यावहारिक जीवन के जाने कितने स्रोत हैं जहाँ से कवि प्रतीक ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार प्रतीक-विधान कवियों का साध्य है। काव्य-भाषा पारदर्शी शीशों की तरह नहीं होती जिससे दृष्टि बाह्य संसार का अवलोकन करती है, न ही वह दृष्टि अक्षम व्यक्ति के उस चश्मे के सदृश है जिसका उपयोग इसलिए किया जाता है कि बाह्य जीवन की धुंधली अस्पष्ट, वस्तुएँ स्पष्ट दिखाई दें। काव्यभाषा तो एक विशेष प्रकार का दर्पण है जो बाह्य जीवन की यथार्थता को गुणात्मक भेद के साथ स्वयं अपने भीतर प्रतिबिम्बित करती है।

प्रतीक में बौद्धिकता का पुट अधिक होता है। प्रतीक की सहायता से कल्पना को अधिक सूक्ष्म, संक्षिप्त तथा सौन्दर्ययुक्त बनाया जा सकता है। इससे एक नयी भाषा की सृष्टि भी हुई है तथा ध्वनि, सुगन्ध की सूक्ष्मतम विचित्र अनुभूतियाँ एवं रूप का स्पष्टीकरण भी हुआ है। रहस्यवादियों ने तो अभिव्यक्ति ही प्रतीकात्मक रूप में की है।

हिन्दी की प्रयोगवादी कविता पूर्णतः प्रतीकात्मक है। नयी कविता में रचने-बसनेवाले प्रतीक सांस्कृतिक, पौराणिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, लोकजीवन अर्थात् प्रत्येक क्षेत्र से आये हैं। अज्ञेय का साँप प्रतीक है उस नागरिक सभ्यता के कलुषित व्यक्ति का जो मानव-हितैषी न होते हुए भी नगर में बस गया है। अपनी दंशन विधा का प्रयोग करके अमृत रूप में विषवमन करनेवाले मानव न जाने कितनी संख्या में नगर-बिलों में रहते हैं। नगर में बसना नहीं आता, फिर भी चले आये हैं अपना बीबियाँ छोड़कर—

साँप तुम सभ्य तो हुए नहीं, न होगे
नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया।
एक बात पूछूँ उत्तर दोगे
फिर कैसे सीखा डसना
विष कहाँ पाया ? ("इन्द्र धनु रौंदे हुए")

मानसिक प्रतिकृति बिम्ब है परन्तु उस बिम्ब में जब अर्थ का भी निहितार्थ योग हो जाता है तो वह प्रतीक बन जाता है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता में "पहाड़" काव्य का प्रतीक है और "जंगल" कवियों का। धर्मवीर भारती का "ठण्डा लोहा" दुःख-निराशा का प्रतीक है तो अज्ञेय का "बावरा अहेरी" सूर्य का। प्रतीक के सन्दर्भ में नयी कविता में कुछ बड़े मौलिक प्रयोग हुए हैं। जैसे—"अन्धायुग", अनास्था का, "संशय की एक रात" क्षणबोध, अन्तर्द्वन्द्व का प्रतीक होकर शीर्षक रूप में प्रयुक्त हुआ है। मनोविश्लेषण की भी आन्तरिक सरिणियों में जाकर अचेतन मन और स्वप्न-प्रतीकों का प्रयोग भी नयी कविता के प्रतीकों में किया गया है। इन कवियों ने प्राचीन प्रतीकों का नवीन सन्दर्भ में तथा वैयक्तिक प्रतीकों का प्रयोग सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करने में किया, जिससे अभिव्यंजना समृद्ध हो गयी। प्रतीक का मूल प्रयोग है आन्तरिक पक्ष का उद्घाटन। यहाँ काव्य का विषय प्रत्यक्ष, भौतिक रूप में जीवन-जगत के तात्कालिक मूल्यों से सम्बद्ध होकर जीवन के चिरन्तन मूल्यों की व्याख्या बन जाता है। लैंगर की उक्ति कि "प्रतीक जिस वस्तु का प्रतीक है, उस वस्तु को नहीं, उसके भाव को, धारणा को व्यक्त करता है", बहुत उचित जान पड़ती है। कविता शब्दार्थमय है, अतः शब्द और अर्थ का समन्वय रूप में भाषा से प्रतीक के सम्बन्ध की अवधारणा समुचित है। डब्ल्यू० एम० अरबन का कथन भी इस दृष्टि से ध्यातव्य है—उन्होंने सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से उस वस्तु को प्रतीक माना है जो अपने तात्कालिक अभिप्राय से भिन्न किन्तु महत्वपूर्ण किसी अन्य अभिप्राय को सुझाती है।

कविता में प्रतीक कविता की जटिल सृजन-प्रक्रिया से सम्बद्ध है। प्रतीक-विधान के अन्तर्गत दो बातों पर विशेष बल दिया गया—एक तो विभिन्न अनुभूतियों,संवेदनाओं के बीच चयन प्रक्रिया का ज्ञान, और दूसरी इन अनुभूतियों को प्रभावित करनेवाली सांकेतिक वस्तु का चयन। अतः अभिप्रेत वस्तु भाव या अर्थ के संकेत के लिए प्रतीकों का चयन होता है।

सम्प्रेषण और अर्थद्योतन,इन दोनों क्रियाओं में प्रतीक तथा बिम्ब—दोनों काव्य-तत्त्व बहुत उपयोगी हैं। प्रतीक में अनिश्चित स्थिति की प्रधानता होती है जबकि बिम्ब वस्तु के निश्चित स्वरूप का संकेत करते हैं और इसीलिए प्रतीक एक जटिल प्रवृत्ति है

क्योंकि उसमें रहस्यात्मक अस्पष्टता पायी जाती है। प्रतीक बिम्ब नहीं बन सकते लेकिन कोई बिम्ब जब बार-बार दोहराया जाता है तो वह प्रतीक बन जाता है। काव्य में विस्तृत एवं स्वस्थ प्रयोग को समक्ष रखकर प्रतीक-योजना का विस्तार निम्नांकित क्षेत्रों में देखा जा सकता है—प्राकृतिक प्रतीक, सांस्कृतिक प्रतीक जिसमें संस्कार सम्बन्धी पौराणिक एवं आध्यात्मिक प्रतीक आते हैं। ऐतिहासिक प्रतीक जीवन-व्यापार से सम्बन्धित तथा शास्त्रीय आधार पर अवस्थित प्रतीक है। काव्य में सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के प्रसार के साथ-साथ प्रतीक-योजना का विस्तार भी बार-बार हो रहा है।

प्रतीक-योजना काव्य को सम्प्रेषणीय तथा प्रभावशाली बनाती है पर उसका ठीक-ठीक अर्थ ग्रहण करना पाठक के लिए असम्भव नहीं तो दुरुह अवश्य होता है। कबीर के काव्य की आध्यात्मिक अनुभूति में प्रतीक एक गहरा रंग भरते हैं किन्तु अनुभूत जीवन तथा परिचित सिद्धान्त की नयी अभिव्यक्ति प्रतीकों द्वारा अधिक चमत्कारी ढंग से होती है। भारतीय दृष्टिकोण से इसे साध्यवसाना लक्षणा का एक विकसित रूप स्वीकारा गया है। किसी-किसी ने इसका आविर्भाव अन्योक्ति अलंकार में करने की चेष्टा भी की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसे चित्रभाषावाद माना है। यूरोप के प्रतीकवाद की तरह प्रतीक ह्रासोन्मुखी काव्य परम्परा के प्रतीक नहीं हैं। प्रतीक-पद्धति से किसी युग के काव्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। मिथकीय तत्त्वों से कल्पना की उस शक्ति का पता चलता है जिससे प्रतीक-रचना की जाती है। हाँ, मिथक का निर्माण जहाँ मन के अचेतन अंश से प्रेरित है, वहाँ प्रतीक के निर्माण में चेतन-अचेतन-सहयोग अपेक्षित होता है। विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान ने अचेतन के अँधेरे में डूबी इच्छाओं के प्रतीकात्मक स्पष्टीकरण का स्वस्थ विवेचन किया है।

प्रतीकों की तलाश अज्ञेय की दृष्टि से सत्य की तलाश का साधन है। रचनाकार की कोशिश यही होती है कि किस प्रकार वह अनुभूति को पाठक तक सम्प्रेषित कर सके और इस कोशिश में वह अपनी कलात्मक संवेदना को तीव्रतर बनाने के लिए, और एक विशेष प्रकार की तटस्थता प्राप्त करने के लिए इन प्रतीकों का प्रयोग करता है जो निर्वैयक्तिक रहते हुए रचना को सम्प्रेष्य बना सकें।

नयी समीक्षा काव्य और भाषा की अन्तरंग अन्विति पर आधारित है। अतएव बहुत से समीक्षक मानते हैं कि काव्यकृति विशिष्ट शाब्दिक प्रतीक ही है। लेकिन यह भी सच है कि काव्य अनिवार्यतः शाब्दिक प्रतीक मात्र ही नहीं है अपितु विशिष्ट शाब्दिक प्रतीक है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस सन्दर्भ में उचित ही कहा है कि "कविता के लिए शाब्दिक प्रतीक होना एक आधारभूत शर्त है, पर हर शाब्दिक प्रतीक कविता नहीं होता।"

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सिर्फ प्रतीक ही वह तत्त्व नहीं हैं जो कविता का सृजन करते हैं—काव्यत्व एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें रस, अलंकार, बिम्ब, मिथक, फैण्टेसी जैसे तत्त्व भी जुड़े होते हैं। जीवन का संघर्ष कविता का संघर्ष बनता जा रहा है और यही कारण है कि संघर्षशील जीवन को कविता का रूप देने के लिए रचनाकार कभी किसी तत्त्व का सहारा लेता है, कभी किसी तत्त्व का।

बिम्ब

प्रतीकवाद की प्रतिक्रियास्वरूप काव्य में बिम्बवाद जैसा आन्दोलन आया। बिम्ब एक प्रकार से कवि की कल्पना की छाया प्रतिच्छाया-प्रतिकृति है या फिर अनुकृति है। इसे इन्द्रियजनित संवेदना की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति भी कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि बिम्ब वह शब्दचित्र है जो कल्पना द्वारा ऐन्द्रिय अनुभवों के आधार पर निर्मित होता है। अंग्रेजी के 'इमेज' शब्द का पर्याय है बिम्ब और इमेज का कोशगत अर्थ है प्रतिमा, मूर्ति, प्रतिकृति, बिम्ब-प्रतिबिम्ब, छाया, प्रतिच्छाया आदि। इमेजरी शब्द भी इसी से बना है जिसका तात्पर्य मनःसृष्टि, कल्पनासृष्टि, संकल्प, भावना, वासना, उपलक्षण, लक्षणा, आभास, अनुकार आदि है। मनोविज्ञान में बिम्ब शब्द से 'मानसिक पुनर्निर्माण' का अर्थ लिया जाता है। विश्वकोश के अनुसार बिम्ब चेतन स्मृतियाँ हैं जो मौलिक उत्तेजना के अभाव में उस विचार को सम्पूर्ण या आंशिक रूप में प्रस्तुत करती हैं।

रोमांटिक काव्यधारा का विरोध करनेवाली काव्यधारा में बिम्बवाद का नाम सर्वोपरि है। टी० ई० ह्यूम को इसका दार्शनिक आधार देने का श्रेय प्राप्त है। उन्होंने काव्य में नवीन रूपों तथा भावों का समर्थन किया और अभिव्यंजना को सजीव बनाये रखने के लिए बिम्ब की आवश्यकता पर बल दिया। अमेरिका के एजरा पाउण्ड ने बिम्बवाद का सर्वाधिक समर्थन किया। यह आन्दोलन १९१० से १९१८ तक अपने उन्मेष में रहा और इसने विश्व की अनेक काव्यधाराओं को प्रभावित किया। सन् १९१४ में पाउण्ड ने एक काव्यसंग्रह "देज़िभजिस्ते" इस आन्दोलन के समर्थन में ही प्रकाशित किया जिसमें रिचर्ड आल्डिगटन, हिल्डा डूलिटिल, आमी लँविल तथा पाउण्ड की स्वयं की कविताएँ संगृहीत थीं। १९१५ से १९२७ के बीच में आल्डिगटन तथा लँविल ने "सम इमैजिस्ट पोएट्स" नामक तीन काव्य-संग्रह प्रकाशित किये। कार्ल सैण्डबर्ग अमेरिका निवासी एक बिम्बवादी कवि था। यह आन्दोलन दीर्घकाल तक नहीं चल पाया क्योंकि कवियों को उसमें बहुत वैयक्तिक होना पड़ा। वे समाज की धारा से अलग होने लगे। उनकी आत्मवादी शैली सर्वग्राह्य नहीं हो सकी। बीसवीं शती के दूसरे दशक के पश्चात् ही टी० एस० ईलियट और पाउण्ड इस धारा से अलग हो गये।

इसके परवर्ती समर्थकों में कानरॉड, ऑरकेन मेरियज मूर, वालेस, स्टीवेन्स तथा लौरन्स के नाम उल्लेखनीय हैं। जहाँ तक काव्यशिल्प का प्रश्न है, बिम्ब ने अपना विशेष प्रभाव डाला है। हिन्दी साहित्य के कवियों में अज्ञेय, शमशेर बहादुर सिंह, गिरिजा कुमार माथुर, केदारनाथ सिंह इससे प्रभावित कवि हैं, यह अलग बात है कि बिम्बों की कल्पना और योजना उनकी अपनी है।

पश्चिमी विद्वानों के मत में बिम्ब बाह्य जगत् की प्रतिकृति अथवा चित्र है। हॉब्स और ह्यूम ने बिम्ब के मानसिक स्वरूप की चर्चा करते हुए इसे भौतिक जगत् की अनुभूति पर आधारित माना तथा इसे किसी सीमातक वस्तुपरक प्रतिभा के स्तर पर स्वीकार किया। ल्यूक्रेटियस इसकी व्याख्या पदार्थ-बिम्ब के रूप से करते हुए इसे मूर्त या भौतिक चक्षुविषय मानते हैं जिसका कार्य होता है अवबोध तथा स्वप्नबिम्ब की व्याख्या। मनोवैज्ञानिक अवधारणा के अनुसार बिम्ब पूर्वबोध या पूर्वानुभव की प्रतिकृति है अथवा ऐसी प्रतिकृतियों की संसृति है। इस कोटि के बिम्ब संकुल होते हैं जिनका संवेदना से गहन सम्बन्ध है। जोसेफ टी० शिप्ली के मतानुसार बिम्ब इन्द्रियगोचर पदार्थ की प्रामाणिक अभिव्यक्ति है, जबकि ह्वेले के अनुसार बिम्ब अरूप भाव या विचार की पुनर्रचना है। सौन्दर्यशास्त्र में बिम्ब को सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रतिभा की संज्ञा भी दी गयी है जो रचना के पल में अनुकृति के स्थान पर मौलिक होती है और जिसमें गत्वर, संतुलित और सुविन्यस्त 'सुन्दर' जन्म लेता है।

सी० डी० लेविस की दृष्टि में काव्य बिम्ब सामान्य बिम्ब से अलग हैं। इसकी व्याख्या उन्होंने "भावसंवलित शब्दचित्र" के रूप में की है। लेविस की मान्यता है कि "कवि की वस्तु एवं उससे प्राप्त संवेदन से युक्त पुनः सृष्टि में उक्त दोनों तत्त्व आपस में मिलकर बिम्ब का उत्पादन करते हैं जिसमें दोनों का औपम्य प्रत्यक्ष होता है।" दरअसल, काव्य एक विशेष प्रकार के शाब्दिक बिम्ब की सृष्टि है जिसमें लय, ताल, छन्दवर्ण, ध्वनिमैत्री आदि से संपुष्ट शब्दों की व्याख्या होती है। मनोविश्लेषण-शास्त्रियों में फ्रायड ने अवचेतन से उत्पन्न स्वत्व बिम्ब का वर्णन किया, जबकि युंग ने सामूहिक अवचेतन मन के आद्यबिम्ब की चर्चा की है। ये दोनों ही बिम्ब काव्यबिम्ब के सृजन में सहायक होते हैं। पश्चिमी आलोचना में एक मान्यता प्रचलित थी कि चित्र एक मौन कविता है और कविता एक बोलता हुआ चित्र है। चित्र में जो काम रंग करते हैं, कविता में वही काम भाषा और बिम्ब करते हैं। अतः बिम्ब एक ओर छन्द-लय की पकड़ द्वारा काव्य को कलात्मक अभिव्यंजना देते हैं तो दूसरी ओर अभि-व्यक्ति-पक्ष को सुन्दर बनाते हैं। सुसेन के० लेंजर ने कलाकृति को "भावबिम्बों में अनुभूत जीवन का प्रक्षेपण" माना है। काव्यबिम्ब शब्दों द्वारा उभरते हैं लेकिन भाव की सम्प्रेरणा उन्हें असाधारण बना देती है। बिम्ब को कवि की मौलिक रूपक या उपमागत

आविष्क्रिया भी कहा गया है। यह सच भी है क्योंकि साम्य की अनुपस्थिति में बिम्ब की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। काव्यबिम्ब की परिभाषा में कवि-संवेदना प्रकाशन, इन्द्रिय-बोधात्मक पक्ष, पाठक की रागात्मक प्रतिक्रिया इन तीनों का समन्वय होता है, जैसा कि लेविस ने भी संकेत दिया है। बिम्ब मात्र सज्जात्मक उपकरण ही नहीं है वह मन की भाषा का सार भी है, यह एक ऐसा शब्द है जो इन्द्रियबोधक भी है। क्रेन्गर की मान्यता है कि बिम्ब को मात्र अलंकार या मात्र सज्जा के रूप में नहीं समझना चाहिए, वह सम्पूर्ण काव्य का एक आंगिक अवयव होता है।

बिम्ब-विधान में सूक्ष्म एवं व्यंजक अप्रस्तुत सौन्दर्य निहित है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है। काव्यबिम्ब शब्दों में आबद्ध एक ऐसा ऐन्द्रिक चित्र है जो कुछ अंशों तक रूपकात्मक होता है और जिसके सन्दर्भ में मानवीय संवेगों का योग रहता है जो पाठकों के मन में एक विशिष्ट काव्यात्मक संवेदना भर देता है। इस सन्दर्भ में लेविस का यह कथन बड़ा सार्थक है कि कवि की हृदयनिष्ठ अरूप अनुभूतियाँ ही चित्रगुण से समन्वित होकर बिम्ब की संज्ञा ग्रहण करती हैं। बिम्ब में यह बात महत्व की है कि बिम्ब अनुभूति अथवा कवि की विशिष्ट संवेदना के सन्दर्भ में हो और इसके साथ ही वह काव्य संवेदना को प्रत्यक्ष करने में भी सक्षम हो। अनुभूत जीवन के कुछ निश्चित बिम्ब ही भावस्फूर्त होकर उभरते हैं। जार्ज वैले के अनुसार कल्पना स्मृति को बिम्ब में रूपायित करती है, वस्तुतः स्मृतियों का महत्व ही बिम्ब-विधान में प्रमुख होता है।

बिम्ब आधुनिक जीवन की जटिलता को व्यक्त करने के माध्यम हैं। ये इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही नहीं, मानस-प्रत्यक्ष भी हैं। इन्हें मन का विशुद्ध सृजन भी कहा गया है। कलाकार की अन्तर्दृष्टि बाह्य रूप से विशृंखल, परस्पर विरोधी प्रत्यय तथा अर्थच्छवि को संशोधित करके उसे नवीन मूर्तिमत्ता प्रदान करती है। कलाकार शब्दों, स्वरों, रेखाओं, वर्णों द्वारा अरूप को रूप देता है। अतः बिम्ब वस्तु की अनुकृति न होकर उसकी प्रतिनिधानात्मक सृष्टि होते हैं। सुमित्रानन्दन पन्त 'पल्लव' की भूमिका में लिखते हैं कि "कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता होती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए जो बोलते हों", सेब की तरह जिनके रंग की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर छलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके, जो झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हो।" कहा जा सकता है कि पन्त जिस चित्रभाषा की बात करते हैं, दरअसल वही विशेषताएँ बिम्ब के लिए भी होंगी। जैसा कि मिडिल्टन मरे स्वीकारते हैं कि बिम्ब चाक्षुष भी हो सकते हैं, श्रव्य भी और पूर्णतया मनोवैज्ञानिक भी।

बिम्ब-विधान का सम्बन्ध जितना काव्य की विषयवस्तु है उतना ही उसके रूप से भी। बिम्ब विषय को मूर्त और ग्राह्य बनाते हैं तो रूप को संक्षिप्त और दीप्त।

काव्यभाषा प्रतीकात्मक होने के साथ ही विम्बात्मक भी होती है, जैसा कि डा० नगेन्द्र का मत है कि "सार्थक शब्द के अपने-अपने बिम्ब होते हैं और लय-संगीत आदि भी श्रोत विम्बों से युक्त रहते हैं। काव्यविम्ब की रचना में ये बिम्ब उपादान के रूप में काम आते हैं।" बिम्बात्मकता की अवहेलना करके काव्यभाषा को न तो ठीक से जाना जा सकता है और न विश्लेषित किया जा सकता है। आचार्य शुक्ल भी यह स्वीकारते हैं कि कविता का कर्म अर्थ मात्र ग्रहण कराना नहीं होता अपितु बिम्ब ग्रहण कराना होता है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी तो यहाँ तक कहते हैं कि—"साहित्य यदि बिखरे और खण्डित जीवन की पुनर्रचना है तो बिम्ब-विधान इस पुनर्रचना की प्रक्रिया है। साहित्य जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करता है और जीवन की अर्थवत्ता बिम्ब से ही निश्चित होती है। कहना न होगा कि बिम्ब-योजना काव्य का प्रधान व्यापार होने से काव्य की कसौटी बन जाता है और बिम्ब-योजना की सफलता ही कवि की सफलता का मानदण्ड कही जाती है। वस्तुतः कवि अन्तस् की तीव्र काव्यानुभूति को उसी तीव्रता के साथ सम्प्रेषित करने के लिए आकुल हो जाता है। इसी छटपटाहट की स्थिति में वह बिम्ब-सृष्टि करता है।

बिम्ब के भी अनेक भेद हैं। मूलतः उन्हें दो कोटियों में विभक्त कर सकते हैं—ऐन्द्रिय विम्ब और मानस बिम्ब। इसके पश्चात् इसके कई भेद गिनाये गये हैं। दृश्य, वस्तु, व्यापार, सहज, अलंकृत, स्पर्श, श्रवण, आस्वाद, संस्कृति-व्यवहार सम्बन्धी तथा मनोरंजक आवश्यकता सम्बन्धी आदि। कहीं-कहीं एक बिम्ब कई गुणों को संयोजित करता है, जैसे गिरिजाकुमार माथुर की 'चन्दरिमा' शीर्षक कविता में रूप के साथ स्पर्श गुण का भी संघटन है—

चाँद पूरा साफ
आर्ट पेपर ज्यों कटा हो गोल
चिकनी चमक का दलदार
यह नहीं चेहरा तुम्हारा
गोल-पूनम सा। (धूप के धान)

अभिव्यक्ति गठन के आधार पर सान्द्र, विवृत—दो बिम्ब हैं। सान्द्र में चित्रण की सघनता एवं संक्षिप्तता द्रष्टव्य है। कम शब्दों में मानस प्रत्यक्षीकरण का संश्लिष्ट प्रयत्न अज्ञेय की "सोनमछली" कविता में देखा जा सकता है—

हम निहारते रूप
काँच के पीछे
हाँफ रही है मछली

रूप - तृषा भी
और काँच के पीछे
है जिजीविषा।" (अरी ओ करुणा, प्रभामम)

यह बिम्ब कवि की सर्जनात्मक कल्पना का परिचायक है—काँच के पीछे हाँफ रही मछली अस्तित्व की छटपटाहट को मूर्त रूप देती है। शब्दों के माध्यम से कवि एक चित्र उपस्थित करता है। सूक्ष्मदर्शन और दृष्टि का पैनापन शब्दप्रधान बिम्ब की योजना करता है। यह अधिकांशतः छोटी कविताओं में देखा जा सकता है, जैसे रवीन्द्रनाथ त्यागी की कविता—

जेबकतरों जैसा चौकन्ना मौसम
घुंघरू बाँध नाचती हवाएँ। (आदिम राग)

कविता का कोई विशेष अर्थ नहीं है परन्तु जेबकतरों की चौकन्नी स्थिति का मौसम से एक रूपसाम्य मिलाने का प्रयास है। संवेदना ज्यों-ज्यों परिवर्तित होती है, मनुष्य का वैज्ञानिक बोध जैसे-जैसे व्यापक होता चलता है, तदनुरूप नवीनता से सम्बन्धित बिम्ब-विधान भी बदलते चलते हैं। चित्र-प्रक्रिया में बिम्ब-निर्माण अर्थ की अन्विति की माँग करता है—"सिली हुई जिल्द-सी जिन्दगी", "खम्बों के माथे पर सिलवट से लटके तार","कैमरे के लैन्स सी बुझी आँखें","टाइप करती लहरें" ऐसे अधुनातम प्रयोग नयी कविता में परिलक्षित होते हैं। कवि की भाषा प्रधानतः मूर्त या अमूर्त उपमानों एवं बिम्बों की भाषा है। भाषा का आधार लेकर जब इनकी अर्थव्यंजना की ओर उन्मुख हुआ जाता है तो एक वृहत् क्षेत्र झाँकता हुआ दिखाई देता है। जैसा कि डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने स्वीकार किया है कि "काव्यकृति स्वयं अपने में पूर्ण विम्ब है जिसे हम काव्यबिम्ब कह सकते हैं।" इस काव्यबिम्ब के दो पक्ष हैं—काव्यवस्तु के रूप में उसका कथ्य पक्ष और काव्यभाषा के रूप में अभिव्यक्ति पक्ष। पर सृजनात्मक प्रक्रिया के सन्दर्भ में काव्यवस्तु स्वयं बिम्ब रूपसिद्ध रहता है। इस काव्यवस्तु सम्बन्धी बिम्ब का कथ्य पक्ष सामान्य अमूर्त प्रकथन को समाहित किये रहता है और अभिव्यक्ति पक्ष विशिष्ट मूर्त प्रकथन को अन्तर्भुक्त किये रहता है।

बिम्बवाद पूर्णतः प्रस्तुत योजना पर आधारित है अतः इसका सम्बन्ध अलंकार योजना में भी रहता है। कविता का समस्त आकर्षण अप्रस्तुत योजना से होता है। बिम्बवाद में अप्रस्तुत योजना साधन नहीं अपितु साध्य है। अलग-अलग मानस क्रियाओं से तथा संस्कारों से उसका सम्बन्ध रहता है। इसी अर्थ में बिम्ब-विश्लेषण काव्यालोचन का एक मानदण्ड बन जाता है। नयी समीक्षा भाषिक समीक्षा है और इस सन्दर्भ में बिम्बों का महत्व स्वयं सिद्ध है। जैसा कृपाशंकर सिंह मानते हैं कि यह बिम्बात्मक

संसार कविता का सृजन करता है। उसके ढाँचे को रचता है, उसमें सतरंग इन्द्रधनुष उभरता है। बिम्ब कविता को अवगुणित भी करते हैं और उसके घूँघट को खोलकर उसमें छिपे कविता के आंतरिक सौष्ठव को उसकी मोहकता, उसके सम्मोहक और अर्धमुकुलित रूप को उघाड़ते भी हैं। इस बिम्बात्मक संसार की धुरी भाषा है।

उपन्यास

उपन्यास अंग्रेजी 'नॉवल' का पर्याय है, हालाँकि यह शब्द बंगला का है फिर भी हिन्दी ने उसे यथावत् ग्रहण कर लिया। फ्रान्स में मध्ययुग १३वीं-१४वीं शती में ऐसी कथाओं को नोवल कहा जाता था जिसमें जीवन का यथार्थ चित्रण हो। इटली में संक्षिप्त यथार्थोन्मुख द्वन्द्वबद्ध कथाओं के लिए 'नोविले' शब्द का प्रयोग हुआ। अंग्रेजी में इसका अभिप्राय नवल, नूतन, काल्पनिक घटनाओं से लिया गया। १८वीं शताब्दी में नॉवल का अर्थ ऐसी रचना के लिए रूढ़ हो गया जो रम्य हो, अद्भुत हो और यथार्थ जीवन का चित्रण करती हो।

न्यू इंग्लिश डिक्शनरी में उपन्यास की परिभाषा इन शब्दों में दी गयी—"बृहत् आकार गद्य आख्यान या वृत्तान्त जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करनेवाले पात्रों और कार्यों को कथानक में चित्रित किया जाता है।

सच तो यही है कि उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक विधा है। इसमें मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष का चित्रण होता है।

हिन्दी साहित्य में अन्य विधाओं की भाँति ही उपन्यास की शुरुआत भी भारतेन्दु युग में हुई। इस युग में अनूदित और मौलिक दोनों ही प्रकार के उपन्यास आये। संवत् १९५१ तक बाबू रामकृष्ण वर्मा ने उर्दू और अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवाद किये—'ठग वृत्तान्त माला', 'पुलिस वृत्तान्त माला' आदि। बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला' तथा 'प्रमीला' का अनुवाद क्रमशः संवत् १९५२-१९५३ में किया। बाबू गोपालराम 'गहमर' ने बंगला भाषा के गार्हस्थ उपन्यासों का अनुवाद किया। जैसे—'चतुर चंचला' (सं० १९५०), 'भानमती' (संवत् १९५१), 'बड़ा भाई' (संवत् १९५७), 'देवरानी जेठानी' (संवत् १९५८), 'तीन पतोहू' (संवत् १९६१) तथा 'सास पतोहू'। इनकी भाषा चटपटी भाषा है। इसी समय मुंशी उदितनारायण लाल के कुछ अनुवाद प्रकाशित हुए जिनमें 'दीप निर्वाण' ऐतिहासिक उपन्यास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। 'बंकिमचन्द्र' चट्टोपाध्याय, शरत्चन्द्र, के उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद इसी काल में आया। रवीन्द्रनाथ टैगोर की कृति 'आँख की किरकिरी' सहित अनेक उपन्यास अनूदित हुए जिन्होंने हिन्दी साहित्य के मौलिक उपन्यास रचना की आदर्शमयी पृष्ठभूमि तैयार की।

हिन्दी के उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी, श्रीनिवास दास के उपन्यासों पर भी अंग्रेजी-बंगला साहित्य का स्पष्ट प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है। श्रीनिवास दास का 'परीक्षागुरु' बहुत दिनों तक मौलिक कहा जाता रहा लेकिन वह सीधे अंग्रेजी से प्रभावित है।

मौलिक उपन्यास की तलाश में जिस रचनाकार ने सर्वसाधारण में धूम मचायी वह थे बाबू देवकीनन्दन खत्री। 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' ने हिन्दी न पढ़ने वालों को भी हिन्दी सीखने पर विवश कर दिया। ये उपन्यास 'ऐयारी' और 'तिलस्मी' होते थे। इन उपन्यासों का लक्ष्य मात्र घटनावैचित्र्य होता था, चरित्रांकन, भावमयता, रससंचार जैसा गुण इनमें नहीं था। साहित्यिक मूल्य की दृष्टि से ये नगण्य है लेकिन उपन्यास विधा को हिन्दी में लोकप्रिय बनाने का श्रेय देवकीनन्दन खत्री को ही जाता है। अभी तक भाषा के दो ही रूप मिलते थे, संस्कृतनिष्ठ रूप और उर्दू निष्ठ रूप। बाबू देवकीनन्दन खत्री ने एक बड़ा काम यह किया कि अपने उपन्यास 'आमफहम' भाषा में लिखे, जिसे हम 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं।

साहित्यिक दृष्टि से पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास उल्लेखनीय हैं। संवत् १९५५ में गोस्वामीजी ने 'उपन्यास' मासिक पत्र निकाला जिसमें कुछ ही समय में पैसठ छोटे-बड़े उपन्यास प्रकाशित किये। इनके उपन्यासों को 'सामाजिक, ऐतिहासिक तथा 'घटनात्मक' वर्गों में रखा जा सकता है। 'तारा', 'चपला', 'तरुणतपस्विनी', 'लवंगलता', 'हृदयहारिणी' आदि उपन्यास किशोरीलाल गोस्वामी के उल्लेखनीय उपन्यास हैं। पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी 'ठेठ हिन्दी का ठाट' (संवत् १९५६) तथा 'अधखिला फूल' (संवत् १९६४) दो उपन्यास लिखे। 'हरिऔध' का कवि इन उपन्यासों पर हावी है पर भाषा सरल हिन्दी है।

श्री ब्रजनन्दन सहाय ने बंगला भाषा की काव्यमयता, अभिव्यञ्जना शक्ति से प्रेरित होकर 'सौन्दर्योपासक' (सन् १९१२ ई०) और 'राधाकान्त' (१९१८ ई०) नामक दो सामाजिक उपन्यास लिखे। इसी काल में पं० बालकृष्ण भट्ट के दो उपन्यास प्रकाशित हुए—सन् १८८६ ई० में 'नूतन ब्रह्मचारी' और १८९०ई० में 'सौ अजान एक सुजान'। ठाकुर जगमोहन सिंह का १८८८ ई० में प्रकाशित 'श्यामा स्वप्न' उपन्यास प्रणय गाथा और पूर्णतया काल्पनिक कथा है। श्री राधाकृष्ण दास ने १८९० ई० में 'निस्सहाय हिन्दू' जैसा उपन्यास गोवधनिवारण की भावना से प्रेरित होकर लिखा। श्री ईश्वरीप्रसाद शर्मा की 'हिरण्यमयी' (१९०८ ई०) तथा 'स्वर्णमयी' (१९१० ई०) भी प्रकाश में आयी।

प्रेमचन्द्र पूर्व इस युग में कल्पना का प्राधान्य रहा। ऐतिहासिक उपन्यास का अभाव नहीं था। गंगाप्रसाद गुप्त ने कई ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जिनमें 'नूरजहाँ'

(१९०२ ई०), 'वीर पत्नी' (१९०३ ई०), 'हम्मीर' (१९०३ ई०) उल्लेखनीय हैं। जयरामदास गुप्त का 'काश्मीर पतन' (१९०७ ई०), 'मल्का चाँदवीबी' (१९०९ ई०) दो उपन्यास प्रकाशित हुए। श्री मथुराप्रसाद शर्मा का 'नूरजहाँ वेगम व जहाँगीर' (१९०५ ई०) उपन्यास में इतिहास तत्त्व की प्रधानता है। इसका कारण है कि नूरजहाँ के जीवन की सचाई के सामने कोई भी कल्पना शक्ति बौनी नजर आती है। श्री बलदेवप्रसाद मिश्र ने भी तीन ऐतिहासिक उपन्यास लिखे—'अनारकली', 'पृथ्वीराज चौहान' और 'पानीपत' जो क्रमशः १९०० ई० तथा १९०२ ई० में प्रकाशित हुए। लेकिन ये उपन्यास ऐतिहासिक तो हैं पर 'इतिहास दृष्टि' जैसे तत्त्व से शून्य हैं। प्रणय कथा, विलास लीला, रहस्यमय रोचक प्रसंग और कौतूहल जगानेवाला घटनाक्रम अगर इतिहास है तो इन्हें बेशक ऐतिहासिक विशेषण दिया जा सकता है। प्लॉट ये इतिहास से लेते हैं किन्तु कल्पना के पंख लगाकर जब उड़ते हैं तो चित्त का रंजन ही इनका लक्ष्य बन जाता है।

इसी युग में लिखे जानेवाले सामाजिक उपन्यास भी किसी सामाजिक समस्या, समाज का आदर्शमय रूप या फिर सामाजिक यथार्थबोध के परिचायक नहीं हैं बल्कि घिसी-पिटी पारिवारिक कथा बनकर रह गये हैं जिसका कारण परिवेशगत अनुभवों की गहराई का अभाव ही है।

घटनाप्रधान उपन्यास अवश्य सफल हुए और इनमें भी ऐयारी और तिलस्मी उपन्यास। इनका नायक ऐयार अर्थात् हर फन (कला) जाननेवाला होता था; मसलन शकल या वेष-भूषा बदलने में निपुण तथा भाँति-भाँति की जानकारी रखनेवाला था। तिलस्म बाँधने के लिए ज्योतिषी, तान्त्रिक, कारीगरों की भी सहायता अपेक्षित होती थी। देवकीनन्दन खत्री के पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने पिता की परम्परा को आगे बढ़ाया। 'भूतनाथ' पूर्ण किया और 'रोहतासमठ' नामक उपन्यास भी लिखा। किशोरीलाल गोस्वामी का भी एक उपन्यास 'तिलस्मी शीशमहल' (१९०५ ई०) है। गोपालराम गहमरी का जासूसी उपन्यास भी घटनाप्रधान उपन्यास है। गुप्तचर, बेकसूर की फाँसी, अद्भुत खून, 'लाइन पर लाश' ऐसा ही उपन्यास है।

कुल मिलाकर इस काल में सामाजिक मूल्यों की अभिव्यक्ति, रोमांस, कौतूहल, रहस्य से भरपूर साहित्य आया।

प्रेमचन्द्र का आगमन हिन्दी उपन्यास साहित्य में नये युग का आगमन बन गया जिसके लिए 'इतिहास' में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा कि "नूतन विकास लेकर आनेवाले प्रेमचंदजी जो कर गये वह तो हमारे साहित्य की एक निधि ही

है।'' प्रेमचंद युग १९१८ से १९३६ तक मान्य है जिसे हिन्दी साहित्य के अध्येता 'छायावाद युग' कहते हैं। नवजागरण के इस युग में भावमयता, आदर्शप्रियता', राष्ट्रीय भावना, स्वच्छन्दता जैसी प्रवृत्तियाँ उभरीं और पाश्चात्य प्रभाव से भी यह रचनाकार सर्वथा मुक्त नहीं थे। गाँधीवादी आदर्श ने सत्य और अहिंसा के हथियार सौंपे थे। महात्मा गाँधी ने साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यतानिवारण, मद्यनिषेध, ग्रामसुधार, स्त्री दशा में सुधार, प्रौढ़ और बेसिक शिक्षा, राष्ट्रीय भावना का प्रचार, मजदूर वर्ग के प्रति सहानुभूति जैसे रचनात्मक और समाजसुधार के कार्यों पर बल दिया। इस रचनात्मक दृष्टि का प्रभाव हमारे देश के रचनाकारों पर भी पड़ा। गाँधीजी मानववाद के समर्थक थे और सच्चा साहित्य हमेशा मानववाद जनपक्षधर होता है। प्रेमचन्द ने भी जीवन और साहित्य दोनों को व्यापक अनुभूति से जोड़कर देखा। उनके प्रसिद्ध उपन्यासों में 'सेवासदन' (१९१८ ई०), 'प्रेमाश्रम' (१९२२ ई०), 'निर्मला' (१९२७ ई०), 'रंगभूमि' (१९२४-२५ई०), 'कायाकल्प' (१९२८ ई०), 'गबन' (१९३० ई०), 'कर्मभूमि' (१९३२ ई०), 'गोदान' (१९३६ ई०) और 'मंगलसूत्र' (१९३६ ई०) है। मंगलसूत्र अपूर्ण है जिसके नायक प्रेमचन्द्र स्वयं हैं। इन उपन्यासों में सामाजिक तथा राजनैतिक तत्कालीन गतिविधि स्पष्ट दिखाई देती है।

'निर्मला' बेमेल विवाह की त्रासदी झेलती युवती की कहानी है जिसकी रीढ़ आर्थिक समस्या है। गोदान प्रौढ़ कृति है जिसके लिए डा० रामचन्द तिवारी ने लिखा है कि—"गोदान उनकी परिपक्व जीवन दृष्टि का परिणाम है। यहाँ आते-आते प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, यथार्थोन्मुख आदर्शवाद बन गया है। प्रेमचन्द का 'गोदान' एक ऐसी मनोभूमि पर प्रतिष्ठित है, जहाँ जैनेन्द्र की आत्मकेन्द्रित अन्तर्मुखी पीड़ा, इलाचन्द्र जोशी की कामकुण्ठाजनित जटिल व्यक्तिचेतना, यशपाल का समाजवादी यथार्थवाद, भगवतीचरण वर्मा और उपेन्द्रनाथ अश्क का रूमानी समाजोन्मुख व्यक्तिवाद तथा अमृतलाल नागर का सर्वमांगलिक मानववाद सभी के प्रेरणासूत्र लक्षित किये जा सकते हैं।'' व्यक्तिचेतना, समाजसुधार, आदर्श की परिकल्पना, द्वन्द्व, यथार्थ की अनुभूति ये सारे बिन्दु हैं जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में कथातन्तु का काम करते हैं।

प्रेमचन्द युग के ही गौरव-नक्षत्र, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, भगवती प्रसाद वाजपेयी, राधिकारमण प्रसाद सिंह, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सियारामशरण गुप्त, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, ऋषभचरण जैन जैसे उपन्यासकार हैं। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक के दो उपन्यास प्रकाशित हुए—'माँ' और 'भिखारिणी' (१९२९ ई०)। ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में वृन्दावनलाल वर्मा ने 'गढ़कुंडार (१९२९ ई०) और 'विराटा की पद्मिनी' लिख कर ख्याति अर्जित की। छायावादी कवियों में जयशंकर प्रसाद ने 'तितली' (१९३३ ई०) तथा 'कंकाल' की

रचना थी। आचार्य शुक्ल के अनुरोध पर एक ऐतिहासिक उपन्यास में भी हाथ लगाया पर साहित्य का दुर्भाग्य ही था कि 'इरावती' अधूरी कृति रह गयी। 'तितली' आदर्शवादी रचना है और मुंशी प्रेमचन्द के आरोप (गड़े मुर्दे उखाड़ना) से बरी होने के लिए वर्तमान की शव परीक्षा करके जर्जर कटु यथार्थ को सामने लानेवाला उपन्यास है 'कंकाल'। निराला के १९३३ ई० में दो उपन्यास प्रकाशित हुए 'अप्सरा' और 'अलका' तथा १९३४ में दो उपन्यास और आये—'प्रभावती' और 'निरुपमा'। भगवतीचरण वर्मा के दो उपन्यास 'तीन वर्ष' और 'चित्रलेखा' क्रमशः १९३६ और १९२४ में में प्रकाशित हुए। सियारामशरण गुप्त का प्रथम उपन्यास 'गोद' १९३२ ई० में प्रकाशित हुआ जिसमें गाँधीवादी जीवनदर्शन की आध्यात्मिक चेतना व्यक्त हुई है।

प्रेमचन्द्र के बाद भारतवर्ष में परिवर्तनों की बाढ़ सी आ गयी। १९३९ ई० से १९४५ तक सम्पूर्ण विश्व में चलनेवाले महायुद्ध और भारतवर्ष के भीतर चलनेवाले असहयोग आन्दोलन, सत्याग्रह, भारत छोड़ो जैसे आन्दोलन, बंगाल का भीषण अकाल, भारत-पाक विभाजन, भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति जैसे परिवर्तन घटित हुए। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में होनेवाला मोह भंग, पंचवर्षीय योजनाएँ, चीन, पाकिस्तान आक्रमण, भारत बंगला देश युद्ध, शरणार्थियों की समस्या ने उपन्यास साहित्य को प्रभावित किया। मनुष्य की आँखों ने 'सुराज' का सपना छोड़ दिया और निराशा, कुण्ठा, दृष्टिहीनता, लक्ष्यहीनता, अजनबीपन तथा एक अनाम शून्यता ने उसे प्रेरणा दी।

इस समूचे कालखण्ड को दो भागों में बाँटा जा सकता है—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व लिखा जानेवाला उपन्यास और स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् लिखा जानेवाला उपन्यास साहित्य। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के जो उपन्यास लेखक थे उनके सामने एक बड़ा मूल्य था स्वतन्त्रता को हासिल करना अर्थात् ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध कलम का इस्तेमाल शोषण का विरोध, अपने अधिकारों के लिए लड़ाई, निम्न वर्ग के प्रति सहानुभूति, नारी जागरण, अछूतोद्धार, एकता का सन्देश उपन्यासों के मुख्य विषय हुआ करते थे। इन रचनाकारों के मन में स्वतन्त्रता प्राप्ति का स्वप्न था एक आदर्शमय लोक सृजन। यथार्थ का स्पर्श तो करते थे लेकिन आदर्श का दामन छोड़कर नहीं। इस समय स्वच्छन्दतावादी, मानवतावादी, मनोविश्लेषणात्मक, प्रगतिवादी उपन्यास लिखे गये। अमृतलाल नागर का 'महाकाल' १९४६ ई० में प्रकाशित हुआ। १९५६ ई० में प्रकाशित 'बूंद और समुद्र' उपन्यास में पुरातन रूढ़ियाँ कितनी खोखली हैं इसे स्पष्ट करते हुए उपन्यासकार ने जातिभेद, पूंजीवाद, राजनैतिक दृष्टि की यान्त्रिकता आदि के विरोध में अपनी बातें स्पष्ट की हैं किन्तु उपन्यास का सूत्रधार गाँधीवादी है। 'शतरंज की मुहरें' (१९५९ ई०) ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। 'सुहाग के नूपुर', 'नगरवधू' आदि भी इसी दृष्टिकोण से रचे गये हैं।

भगवती प्रसाद वाजपेयी के उपन्यास 'भूदान' में सर्वोदय दर्शन की स्पष्ट स्वीकृति मिलती है। स्वच्छन्दतावादी विचारधारा से प्रेरित हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचन्द्र लेख' (१९६३ ई०) जैसा उपन्यास है। 'पुनर्नवा' उपन्यास की पृष्ठभूमि लोककथा 'चन्दा लोरिक' की प्रणयगाथा है। द्विवेदीजी के उपन्यासों में काल्पनिकता, भावुकता, प्रेम की उच्च मनोभूमि, सौन्दर्यप्रियता, विचित्रता, अलौकिकता जैसे गुण हैं।

प्राकृतवादी विचारधारा को लेकर चलनेवाले उपन्यासकारों में आचार्य चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा 'उग्र' और ऋषभचरण जैन आते हैं। आ० चतुरसेन शास्त्री के अनेक उपन्यास, 'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'व्यभिचार', 'नरमेध', 'दो किनारे', 'अपराजिता', आदि हैं। 'वैशाली की नगरवधू' तथा 'वयं रक्षामः' शास्त्री जी की इतिहास दृष्टि से प्रेरित उपन्यास हैं। 'वयं रक्षामः' से रावण को एक नयी दृष्टि से स्थापित किया गया है। उग्रजी के उपन्यासों में 'दिल्ली का दलाल', 'चाकलेट', 'जी जी जी', 'सरकार तुम्हारी आँखों में' प्रमुख हैं। ऋषभचरण जैन के प्रमुख उपन्यास 'वेश्यापुत्र', 'मास्टर साहब', 'चाँदनी रात' 'मधुकरी' 'मन्दिर के दीप' 'भाग्य' आदि हैं। हिन्दी साहित्य में प्राकृतवादी उपन्यास को महत्व नहीं मिला। प्राकृतवादी जोला के निर्देशानुसार भी यह उपन्यास नहीं लिखे गये।

व्यक्तिवादी उपन्यासकारों में भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, रामेश्वर शुक्ल अंचल आदि हैं। यह व्यक्तिवादी रचनाकार मानते हैं कि व्यक्ति ही अपने योग-क्षेम का वास्तविक निर्णायक है। वह अपने प्रति उत्तरदायी है। भगवतीचरण वर्मा का 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' (१९४६ ई०), 'आखिरी दाँव' (१९५० ई०), 'अपने खिलौने' (१९५७ ई०), 'भूले बिसरे चित्र' (१९५९ ई०), 'सामर्थ्य और सीमा' (१९६२ ई०), 'रेखा' (१९६४ ई०), 'वह फिर नहीं आई' (१९६३ ई०), आदि प्रसिद्ध उपन्यास हैं। भगवतीचरण वर्मा को स्थापित करनेवाला उपन्यास 'चित्रलेखा' ही है जो व्यक्तिवादी चिंतन का ही परिणाम है।

उपेन्द्रनाथ अश्क के तमाम उपन्यासों में कुछ बहुचर्चित हैं जैसे—'एक रात का नरक', 'गर्भधारण' (१९५२ ई०), 'गिरती दीवारें' (१९४७ ई०), 'बड़ी बड़ी आँखें' (१९५५ ई०) तथा 'शहर में घूमता आईना' (१९६३ ई०)। अश्क के उपन्यासों में निम्न मध्यवर्ग का यथार्थवादी चित्रण मिलता है। मध्यवर्गीय कुण्ठाओं की सही अभिव्यक्ति उनके उपन्यासों में हुई है। 'एक नन्हीं सी लौ' इस दृष्टि से अन्यतम है। उनके जीवन के अनुभव ही कथासूत्र का काम करते हैं।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी के कुछ उपन्यास प्रेमचन्द्र युग में लिखे गये, कुछ बाद में प्रकाशित हुए जिनमें 'गुप्तधन' (१९४९ ई०), 'चलते चलते' (१९५१ ई०), 'मनुष्य

और देवता' (१९५४ ई०), 'यथार्थ से आगे' (१९५५ ई०), 'सूनी राह' (१९५६ ई०), 'एक प्रश्न' (१९५६ ई०), 'उनसे न कहना' (१९५७ ई०), 'सपना बिक गया' (१९६१ ई०), 'टूटा टी सेट' (१९६२ ई०), 'टूटते बन्धन' (१९७३ ई०), 'सावन बीता जाये' तथा 'निरन्तर गोमती के तट पर' आदि उल्लेखनीय हैं। अपने उपन्यासों में बाजपेयीजी शरत्चन्द्र के आदर्शवाद से प्रभावित लगते हैं।

रामेश्वर शुक्ल अंचल प्रगतिशील मार्क्सवादी उपन्यासकार के रूप में जाने जाते हैं किन्तु व्यक्तिवादिता इनके उपन्यासों का मूल केन्द्रबिन्दु है। 'चढ़ती धूप' (१९४५ ई०), 'नई इमारत' (१९४७ ई०), 'मरुप्रदीप' (१९५१ ई०) तथा 'उल्का' (१९४७ ई०), आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'चढ़ती धूप' में समाजवादी चेतना के साथ ही क्रान्ति भावना का बीज भी निहित है। 'नई इमारत' की आधारभूमि सन् '४२ की क्रान्ति है।

उषादेवी मित्रा ने स्त्री जीवन की समस्याओं को केन्द्र में रखकर अपने उपन्यासों को रूप दिया। लेखिका की विशेष सहानुभूति विधवा, वेश्या, परित्यक्ता नारी रूपों से रही है क्योंकि ये सारी नारियाँ उपेक्षिताएँ हैं। आवाज (१९४६ ई०), 'नष्टनीड' (१९५५ ई०) जैसे उपन्यासों में नारी को स्वतन्त्र अस्तित्व बनाने के लिए प्रेरणा दी गयी है।

मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों में इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र कुमार और अज्ञेय जैसे रचनाकार हैं। इलाचन्द्र जोशी ने जहाँ फ्रायड के सिद्धान्त को लेकर रचनाएँ कीं वहीं जैनेन्द्र कुमार ने किसी सिद्धांत का अनुशीलन न करके मानव की दो मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है—'स्पर्धा' और 'समर्पण'। गाँधीवाद के अध्यात्म पक्ष पर बल देते हुए एक सुधारवादी दृष्टिकोण की तलाश की है। इलाचन्द्र जोशी के 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' (१९४१ ई०), 'प्रेत और छाया' (१९४६ ई०), 'मुक्तिपथ' (१९५०), 'जिप्सी' (१९५२ ई०) तथा 'जहाज का पंछी' (१९५५ ई०) उपन्यास मनोविश्लेषण को कथा का तत्त्व बनाते हैं। जोशीजी मानव मन के पर्दे में छिपे रहस्य को खोलना आवश्यक मानते हैं। जैनेन्द्र कुमार अन्तर्मुखी रचनाकार हैं, मानवमन की गहराई में उतरते हुए स्वयं रहस्यमय हो गये हैं। 'परख' (१९२९ ई०), 'सुनीता' (१९३४ ई०), 'त्यागपत्र' (१९३७ ई०), 'कल्याणी' (१९३९ ई०), 'सुखदा' (१९५२ ई०), 'विवर्त्त' तथा 'व्यतीत' (१९५३ ई०) समस्त उपन्यासों में काम पीड़ा का दर्शन है। अज्ञेय के तीन उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' (१९४१-४४ ई०), 'नदी के द्वीप' (१९५१ ई०), तथा 'अपने-अपने अजनबी' (१९६१ ई०) हैं। अज्ञेय का व्यक्तिवादी जीवन दर्शन इन उपन्यासों का मूल है।

सामाजिक यथार्थवाद को अपनाकर उपन्यास रचनेवालों में यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव आदि हैं। यशपाल का प्रथम उपन्यास 'दादा कामरेड' १९४१ ई० में

प्रकाशित हुआ। बाद में 'दिव्या' (१९४५ ई०), 'पार्टी कामरेड' (१९४६ ई०), 'अमिता' (१९५६ ई०), 'झूठा सच' (१९५९-६० ई०), प्रकाशित हुआ। यशपाल ने क्रान्तिकारी जीवन व्यतीत किया था। वह मूलतः मार्क्सवाद से प्रभावित थे। उनकी उपन्यास कला का उत्कर्ष 'झूठा सच' में लक्षित होता है। इसमें १९४२ ई० से लेकर १९५२ तक भारत के राजनैतिक, सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण मिलता है। कालान्तर में उनका एक और उपन्यास प्रकाशित हुआ—'मेरी तेरी उसकी बात'।

नागार्जुन का पहला उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' १९४८ ई० में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद 'बाबा बटेसरनाथ' (१९५४ ई०), 'दुःखमोचन' (१९५७ ई०), 'कुम्भी पाक' (१९६० ई०) तथा 'उग्रतारा' (१९६३ ई०), आदि कई उपन्यास प्रकाशित हुए। नागार्जुन का विषय निम्नमध्यवर्गीय समाज रहा है। पुराने सड़े-गले समाज के कुम्भी पाक को पाक करके नये समाज की रचना उनका उद्देश्य है।

रांगेय राघव ने अनेक उपन्यास लिखे जिनमें 'घरौंदे' (१९४६ ई०), 'कब तक पुकारूँ' (१९५७ ई०) तथा 'प्रोफेसर' (१९६२ ई०) चर्चित उपन्यास हैं। ये प्रगतिशील विचारधारा से प्रभावित हैं और मानव के प्रति आस्थावान हैं।

आञ्चलिक उपन्यासों की भी रचना इस काल में हुई अर्थात् किसी अञ्चल विशेष को पूरी सहृदयता से चित्रित किया गया। फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल' (१९५४ ई०), 'परती परिकथा' (१९५७ ई०), रामदरश मिश्र का 'पानी के प्राचीर', शैलेष मटियानी का 'हौलदार', केशवप्रसाद मिश्र का 'कोहबर की शर्त' (१९६४ ई०), आञ्चलिक उपन्यास हैं। इन उपन्यासों की विशेषता है कि अञ्चल नायकत्व ग्रहण कर लेते हैं। मिट्टी स्वयं बोलती है और हर शब्द अपनी जमीन से जुड़कर सार्थक होता है।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में कई नये रचनाकार आये। आधुनिकताबोध और व्यक्तिस्वातन्त्र्य के साथ ही यथार्थ की व्यापक स्वीकृति भी प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में उभरी। शिल्प की दृष्टि से भी परिवर्तन हुए। डा० लक्ष्मीनारायण लाल, डा० देवराज, डा० धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव, नरेश मेहता, कमलेश्वर, मोहन राकेश, दुष्यन्त कुमार, निर्मल वर्मा, मन्नू भण्डारी, डा० सूर्यबाला, मृदुला गर्ग, मंजुल भगत, राजी सेठ तथा उषा प्रियंवदा आदि नाम उपन्यास क्षेत्र में सशक्त हस्ताक्षर बनकर आये। डा० लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में, 'बया का घोंसला और साँप', 'बड़ी चम्पा छोटी चम्पा', 'काले फूल का पौदा'; उपन्यासों में डा० देवराज का 'पथ की खोज' (१९५१ ई०), 'बाहर भीतर' (१९५४ ई०), 'अजय की डायरी' (१९६० ई०), धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा'।

नरेश मेहता का 'यह पथ बन्धु था', 'डूबते मस्तूल' उपन्यास काफी चर्चित हुए। नयी पीढ़ी के सशक्त हस्ताक्षर राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में 'उखड़े हुए लोग' (१९५६ ई०), 'कुलटा' (१९५८ ई०), 'शह और मात' (१९५९ ई०) तथा 'एक इंच मुस्कान' (१९६४ ई०) प्रमुख हैं। इनमें मनोवैज्ञानिक यथार्थ और सामाजिक यथार्थ दोनों के सामंजस्य द्वारा जीवन का समग्र यथार्थ प्रस्तुत है। द्वन्द्व इनकी आत्मा है। कमलेश्वर के उपन्यासों में 'तीसरा आदमी', 'काली आँधी', 'आगामी अतीत' प्रमुख हैं। मोहन राकेश का 'अन्धेरे बन्द कमरे', 'न आनेवाला कल', 'अन्तराल' प्रमुख उपन्यास हैं। दुष्यन्त कुमार का एक ही उपन्यास प्रकाशित हुआ—'छोटे-छोटे सवाल'। निर्मल वर्मा के उपन्यासों में 'लाल टीन की छत', 'वे दिन' और 'एक चिथड़ा सुख' उल्लेखनीय हैं।

आज आदमी बदल गया है, परिवेश बदल गया है, उसी के साथ जीवन मूल्य बदल गये हैं। व्यक्ति जूझ रहा है अपने आप से। हर जगह वह दिशाहीन या तो शून्य है या फिर बड़ा सा सवालिया निशान। यही है आधुनिकता बोध। इसी आधुनिकता बोध से उत्पन्न बाह्य परिवेश के दबाव और आन्तरिक शून्यता के द्वन्द्व से उबरने की व्याकुलता में व्यक्ति स्वातन्त्र्य की प्रवृत्ति उभर रही है। पुराने मूल्य टूट रहे हैं, बिखर रहे हैं या फिर घिस गये हैं और नयी परिस्थिति उसके विश्वास को जमने ही नहीं देती। बस इसी कशमकश के बीच झूलते मनुष्य की कहानी है आज का उपन्यास साहित्य।

महिला उपन्यासकारों में अधिकांश नारी जीवन की समस्याओं को लेकर उपन्यास लिख रही हैं। किन्तु मन्नू भण्डारी का 'आपका बण्टी' जहाँ बाल मनोविज्ञान की पर्तें खोलकर समाज के सम्बन्धों की भयावह सचाई को उजागर करता है वहीं 'महाभोज' गाँव में घुसपैठ करनेवाली राजनीति का खुलासा करता है। डा० सूर्यबाला का उपन्यास 'मेरे सन्धि-पत्र' विमाता के बने-बनाये बिम्ब को तोड़कर संवेदनशीलता का मूल्यांकन करता है और विमाता की त्रासदी को मनोविज्ञान के धरातल पर उकेरता है। उषा प्रियंवदा के उपन्यास ऐसी नारी के चित्रण में सहायक हैं जो अस्मिता की तलाश करती है लेकिन अपने संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाती। 'रुकोगी नहीं राधिका', 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' तथा 'शेष यात्रा' ऐसे ही उपन्यास हैं। राजी सेठ का उपन्यास 'तत्सम' वैधव्य झेलती नारी के विवाह सम्बन्धों के निर्णय लेने के कशमकश से सम्बन्धित है। मंजुल भगत का 'अनारों' निम्नमध्यवर्गीय नारी की गाथा को उसी परिस्थिति में महसूस करने और व्यक्त करने की शक्ति को उजागर करता है। मृदुला गर्ग का 'चितकोबरा' जहाँ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को खुले रूप में प्रस्तुत करता है वहीं 'अनित्य', 'मैं और मैं', 'ऊर्फ सैम' नारी चरित्र की समस्याओं और उसकी विसंगतियों को उभारने में सक्षम हैं।

निष्कर्षत: हिन्दी उपन्यास का भविष्य उज्ज्वल है। परिवेश ही टेकनीक और भाषा को जन्म देता है अत: उसकी भविश्यवाणी नहीं की जा सकती है।

कहानी

कहानी का विकास मानव के विकास के साथ ही जुड़ा है। आदिम मानव भी संकेतों के माध्यम से, फिर टूटे-फूटे शब्दों में नित्य जीवन सम्बन्धी अनुभव सुनाने में तथा दूसरों से सुनने में सहज प्रसन्नता का अनुभव करता था। प्रकृति के रहस्यमय जाल ने, लीलामयी सृष्टि के कार्यव्यापार ने, भोले-भाले मनुष्य को इतना जिज्ञासु बना दिया कि कालान्तर में आत्मानुभव को व्यक्त करने की यह छटपटाहट कहानी के रूप में अभिव्यक्ति का मार्ग तलाशने में सफल हो गयी। उपनिषद्, आरण्यक ग्रन्थों में कथा का रूप प्रचलित हुआ। उर्वशी पुरूरवा, यम-यमी के संवाद, कहानियों के आदि रूप कहे जा सकते हैं। वैदिक साहित्य, लोक साहित्य, जातक कथाएँ, रामायण, महाभारत और परवर्त्ती संस्कृत युग के पंचतन्त्र, हितोपदेश, कथासरित्सागर, वैतालपंचविंशतिका, सिंहासन द्वात्रिंशका, कादम्बरी, वासवदत्ता तथा दशकुमार चरित के रूप में कथासाहित्य अनेक रूपों में बिखरा है। प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य में अनेक लघु पद्यबद्ध कथाएँ उपलब्ध होती हैं। चारण साहित्य में भी 'इतिहास', 'प्रसंग' के रूप में कथासाहित्य की सृष्टि हुई। मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में प्रेमाख्यान परम्परा में पद्यबद्ध कहानियाँ, आयीं—जायसी की 'पद्मावत', कुतुबन की 'मृगावती', मंझन की 'मधुमालती', उसमान की 'चित्रावली', नूर मुहम्मद की 'इंद्रावती' कथाप्रधान रचनाएँ हैं। आरम्भिक हिन्दी कहानीकारों को यह कथासम्पदा उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है।

साहित्य के समानान्तर ही लोक जीवन में प्रचलित लोक कथाओं ने भी हिन्दी कहानी की पृष्ठभूमि तैयार की। ये कहानियाँ प्रेम, उपदेश, हास्य एवं व्यंग्य अनेक रूपों में देखी जा सकती हैं। डा० लक्ष्मीनारायण लाल लोक कथाओं को ही हिन्दी कहानी का स्रोत मानते हुए कहते हैं कि—"इसी उद्गम सूत्र से हिन्दी कहानियों की उत्पत्ति को सबसे अधिक प्रेरणा मिली और उस समय प्राय: समस्त हिन्दी कहानीकारों की पहली मौलिक रचनाएँ इन्हीं लोक कहानियों की प्रतिमाएँ थीं।" लाला पार्वतीनन्दन की कहानियाँ 'प्रेम का फुआरा', 'भूतों वाली हवेली', 'नरक', 'गुलजार' आदि लोक कथाओं से प्रेरित होकर लिखी गयी हैं।

भारतीय साहित्य पर मर्यादा की मुहर लगी थी जिससे कथा साहित्य भी मुक्त नहीं था। वह नियमों में आबद्ध तथा शास्त्रीय रूढ़ियों से ग्रस्त था, फलत: उसका विकास कुछ रुक सा गया। पाश्चात्य साहित्य में नवता की ललक थी और मर्यादा की बेड़ियों से चिढ़, इसीलिए वह निरन्तर विकसित होता रहा। कहानी का विकास

अमरीका में एडगर एलन पो के द्वारा १८०९-१८४९ ई० के आसपास हुआ। रूस में सर्वप्रथम पुश्किन ने १८३० ई० में कहानी साहित्य का सूत्रपात किया। बीसवीं शती में जब हिन्दी कहानीकार इस दिशा में बढ़े तो अंग्रेजी साहित्य ने उन्हें आकर्षित किया। परिणामतः सन् १९०० ई० के आसपास शेक्सपीयर के अनेक अनुवाद 'सरस्वती' पत्रिका में कहानीरूप में प्रकाशित होने लगे। १८८३ ई० में 'प्रभु यीशु की कथा', १८८९ ई० में 'केशवराम की कथा' लघु कथाओं के रूप में प्रकाशित हुई थीं। प्रेमचन्द ने स्पष्ट रूप से लिखा कि, "मोपासाँ', 'अनातोले फ्रांस', 'चेखोव' और 'टालस्टाय' की कहानियाँ पढ़कर हमने फ्रांस और रूस से आत्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है।"

कहानी के विषय में एक आश्चर्यजनक तथ्य यह उभरता है कि इसने बहुत कम समय में श्रेष्ठ साहित्यिक विधा का रूप प्राप्त कर लिया। आरम्भिक दौर की लड़खड़ाहट और अनगढ़पन को ऐसे कंधे मिल गये जिससे कहानी जल्दी ही हृष्ट-पुष्ट होकर विकास के चरम बिन्दु की तरफ दौड़ने लगी। हिन्दी कहानी का जन्म भी अनेक विधाओं की भाँति आधुनिक काल में ही हुआ। संवत् १९५७ से संवत् १९६४ के बीच छः कहानियाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं जिनके बीच मौलिकता का प्रश्नचिह्न लगा और इसका समाधान पाने की कोशिश की जाने लगी। ये कहानियाँ थीं किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' (संवत् १९५७) तथा 'गुलबहार' (संवत् १९५९), मास्टर भगवान दास की 'प्लेग की चुड़ैल' (संवत् १९५९), पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्षों का समय' (संवत् १९६०), गिरिजादत्त बाजपेयी की 'पंडित और पंडितानी' (संवत् १९६०) और 'बंग महिला' श्रीमती राजबाला घोष की 'दुलाई वाली' (संवत् १९६४)।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'इन्दुमती' कहानी की मौलिकता को सन्दिग्ध मानते हुए ही उसे 'यदि' के साथ पहली कहानी स्वीकार किया था जिसे अध्येताओं ने बाद में प्रकाशित किया कि 'इन्दुमती' मौलिक न होकर शेक्सपीयर के 'टेम्पेस्ट' की छाया है। इसी प्रक्रिया में इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' मौलिकता की कसौटी पर खरी न उतर सकने के कारण मान्य नहीं हुई, और एक लम्बे समय तक आ० शुक्ल की—'ग्यारह वर्षों का समय' पहली कहानी के पद पर प्रतिष्ठित रहीं। सन् १९६८ के फरवरी अंक की 'सारिका' पत्रिका में देवीप्रसाद वर्मा ने स्व०माधवप्रसाद सप्रे की कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी के रूप में स्थापित किया क्योंकि यह सन् १९०१ में 'छत्तीसगढ़ मित्र' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। सन् १९७६ में दिसम्बर में प्रकाशित 'सारिका' पत्रिका में डा० बच्चन सिंह ने इस धारणा का खण्डन किया और किशोरीलाल गोस्वामी की ही एक अन्य कहानी 'प्रणयिनी परिणय' को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी बताया जो सन् १८८७ में ही लिखी गयी थी।

आरम्भकाल की सारी त्रुटियों और विशेषताओं से मण्डित यह कहानी, उपन्यास और कहानी की दहलीज पर ही खड़ी है। डा० सिंह के मत में इस समय तक उपन्यास और कहानी का अन्तर स्पष्ट नहीं था।

सन् १९०६ ई० से हिन्दी कहानियों का विकास मूलतः परिलक्षित होता है। पंडित वेंकटेशनारायण कृत 'एक अशरफी की आत्मकहानी', पडित सूर्यनारायण दीक्षित कृत 'चन्द्रहास का अद्भुत आख्यान' मौलिक कहानियाँ इसी समय 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। सन् १९०९ में 'इन्दु' का प्रकाशन जयशंकर 'प्रसाद' ने आरम्भ किया। प्रेमचन्द ने सन् १९०७ से कथालेखन आरम्भ किया था। लेकिन वे उर्दू में लिख रहे थे। सन् १९१६ में प्रेमचन्द की कहानी 'पंचपरमेश्वर' सरस्वती में प्रकाशित हुई। सन् १९१५ में चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' इसी पत्रिका में प्रकाशित हुई। हिन्दी कहानी के विकास की गति १९१६ के बाद तेजी से हुई। 'इन्दु' पत्रिका ने जी० पी० श्रीवास्तव, राजा राधिकारमण सिंह जैसे कहानीकारों को प्रतिष्ठा दी। 'प्रसाद' की 'ग्राम' कहानी भी इसमें छपी जो काफी प्रसिद्ध हुई। सन् १९१८ ई० में 'हिन्दी गल्पमाला' पत्रिका का प्रकाशन भी 'सरस्वती' और 'इन्दु' की भाँति काशी से ही आरम्भ हुआ था। इस पत्र ने कहानियों के कलात्मक विकास में बहुत योगदान किया। जी० पी० श्रीवास्तव की 'मैं न बोलूँगी' कहानी प्रकाशित हुई। उत्तम पुरुष शैली में लिखी यह कहानी पूर्णतया मनोवैज्ञानिक कहानी है। इसी पत्रिका में इलाचन्द्र जोशी की 'सजनवाँ' कहानी भी प्रकाशित हुई।

हिन्दी कहानी के विकास की गति में प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद ने स्तम्भ का काम किया। ये दोनों कहानीकार दो विचारधाराओं के थे। जयशंकर 'प्रसाद' मूलतः कवि थे और उनकी कहानियों पर उनका कवि हमेशा हावी रहा है। फलस्वरूप उनकी कहानियाँ रोमानी, भावुक, कल्पनाप्रबल और कवित्वशक्ति से भरपूर हैं। भारतीय संस्कृति में और इतिहास में जयशंकर 'प्रसाद' की अभिरुचि का परिचय उनकी कहानियाँ स्वयं देती हैं। अतीत के स्वर्णिम अध्यायों को वर्तमान में प्रकाशित करना 'प्रसाद' का मूल ध्येय रहा है। 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आँधी', 'आकाशदीप' और 'इन्द्रजाल' संग्रहों की कहानियाँ प्रेम, देशप्रेम, कर्त्तव्य और आदर्श के सूत्रों से बुनी गयी हैं। परिवेशगत राष्ट्रीय चेतना स्वाधीनता की चेतना को जाग्रत करने के लिए उन्होंने अतीत का गौरवगान किया है। इस सम्बन्ध में 'देवरथ', 'सालवती' और 'पुरस्कार' जैसी कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। 'मधुआ' और 'गुण्डा' जैसी कहानियाँ गड़े मुर्दे उखाड़ने के आरोप से मुक्ति पाने के फलस्वरूप लिखी गयीं। लेकिन 'प्रसाद' मूलतः आदर्शवादी, सौन्दर्य और प्रेम के कहानीकार थे। उनकी कहानियों में अन्तर्द्वन्द्व, प्रेम की मर्मस्पर्शी वेदना और उत्सर्ग की भावना है। 'प्रसाद' की कहानी-परम्परा को चण्डीप्रसाद हृदयेश,

रायकृष्ण दास, चतुरसेन शास्त्री जैसे कहानीकारों ने लिया अवश्य किन्तु वे 'प्रसाद' की काव्यात्मक ऊँचाई, दार्शनिक गम्भीरता और भाषा की प्राञ्जलता को ग्रहण नहीं कर पाये।

कहानी एक निश्चित लक्ष्य या संवेदनात्मक अन्विति को लेकर लिखी गयी एक कलात्मक योजना है। वह मनोरंजन ही नहीं है अपितु जीवन की शाश्वत समस्याओं के प्रकाशन का माध्यम भी है। इन्हीं मुद्दों को केन्द्र में रखकर प्रेमचन्द की कहानियों का मूल्यांकन किया जा सकता है। प्रेमचन्द युगानुरूप अपनी दृष्टि को मान्यताओं में परिवर्तन करते रहे हैं। आदर्शवादी, यथार्थोन्मुखी आदर्शवादी और यथार्थवादी खेमों में इनकी कहानियों को रख सकते हैं। सन् १९०७ से १९३६ ई० तक कुल मिलाकर ३०० से अधिक कहानियाँ प्रेमचन्द ने लिखीं। उन्होंने कहानी को कल्पना की वस्तु न कह कर जीवन का अंग कहा और यह माना कि "उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।" बगैर किसी पूर्वग्रह के यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में मनोवैज्ञानिक कहानियों का सूत्रपात प्रेमचन्द ने ही किया। उदाहरणार्थ 'सुजान भगत', 'मुक्तिमार्ग', 'पंचपरमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानियाँ किसी-न-किसी मनोवैज्ञानिक रहस्य को ही खोलती हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से देखें तो भी प्रेमचन्द की कहानियाँ बहुत आगे हैं—'बूढ़ी काकी', 'आत्माराम', 'बड़े घर की बेटी' आदि कहानियाँ ऐसी ही हैं। प्रेमचन्द ने कथा संसार से देवता और राजा जैसे पात्रों को अपदस्थ करके दलित शोषित किसान को नायक की प्रतिष्ठा दी। सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक यथार्थ को केन्द्र में रखकर प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों की रचना की। बुधिया के 'कफन' से क्षुधा तृप्त करनेवाले घीसू और माधव जैसे पात्र, हाड़ कँपानेवाली 'पूस की रात' में खेत की रखवाली करता हल्कू जानवर द्वारा खेत चरे जाने पर भी प्रसन्न है क्योंकि रात की ठण्ढ में सोने से छुटकारा पा गया है। कहानी का यह यथार्थबोध समूचे जीवन के सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित करने में ही अपनी सार्थकता प्रमाणित करता है। देश के सुधारवादी आन्दोलनों से प्रभावित होकर आदर्शवाद और सुधारवाद को ध्यान में रखकर जिस प्रेमचन्द ने सरल कहानियाँ लिखीं उसी कलम के सिपाही ने अन्त तक आते-आते जटिल और क्रूर यथार्थ की कहानियाँ लिखकर अपने ही पूर्वरूप की धज्जियाँ उड़ा दीं। इसी परम्परा में सुदर्शन, विश्वम्भर नाथ 'कौशिक', भगवतीप्रसाद बाजपेयी जैसे कहानीकार आये। 'ताई', 'रक्षाबन्धन' जैसी कहानियाँ कौशिक की आदर्शवादी कहानियाँ हैं जो सामाजिक यथार्थ की जमीन से ली गयी है। भगवतीप्रसाद बाजपेयी की 'निंदिया लागी', 'मिठाई वाला', सुदर्शन की 'हार की जीत' ऐसी ही कहानियाँ हैं, किन्तु प्रेमचन्द की तरह सामाजिक यथार्थ को ये कहानीकार चित्रित नहीं कर सके।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने अपनी अलग पहचान बनायी है। 'उग्र' की कहानियों ने नग्न यथार्थवादी चित्रण, सामाजिक विकृतियों के दर्शन तथा सशक्त प्रवाह-पूर्ण भाषा-शैली से पाठकों को आश्चर्यचकित कर दिया। 'दोज़ख की आग', 'बुढ़ापा', 'चिनगारी' तथा 'बलात्कार' जैसी कहानियाँ दोबारा नहीं नजर आयीं। आज हम जिसे प्रकृतवाद और अतियथार्थवाद जैसे नामों से अभिहित करते हैं, 'उग्र' ने आरम्भिक काल में ही इसकी विशेषताओं को ग्रहण किया था, किन्तु उनके साहित्य को 'अश्लील' और 'घासलेटी' कहा गया।

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने तीन कहानियों की रचना की—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का काँटा' और 'उसने कहा था'। 'उसने कहा था' कहानी ही 'गुलेरी' जी को प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त है। सन् १९१५ में प्रकाशित यह कहानी अपने कथ्य और शिल्प में इतनी मार्मिक और सुगठित है कि आज भी वह चुनौती बनी हुई है। प्रेम, बलिदान और कर्त्तव्य को लेकर कितनी कहानियाँ लिखी गयी हैं किन्तु यह कहानी आज भी अद्वितीय है।

यथार्थ की जिस पृष्ठभूमि में प्रेमचन्द ने कहानियों का बीज बपन किया, आगे चलकर वह बीज दो दिशाओं में पल्लवित हुआ। एक मार्क्सवादी विचारधारा थी जिसे लेकर यशपाल ने सामाजिक शोषण, दरिद्रता को अपनी कहानियों का विषय बनाया। 'परदा', 'आदमी का बच्चा', 'फूल की चोरी' जैसी कहानियों में आर्थिक और सामाजिक वैषम्य और उससे उत्पन्न दोषों को अभिव्यक्ति दी गयी है। यथार्थ की स्वीकृति, उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, नये सन्दर्भों की प्रतिष्ठा, शोषण वृत्ति के प्रति आक्रोश, यशपाल की कहानियों के संरचना-तन्तु हैं। यशपाल ने मर्यादा, धर्म, नैतिकता के थोथेपन पर भी तीव्र आघात किया है। रांगेय राघव, नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त आदि ने भी शोषण, अन्याय और पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष-भाव जाग्रत करनेवाली कहानियाँ लिखीं।

यथार्थ की पृष्ठभूमि पर दूसरी मनोविश्लेशणवादी विचारधारा थी जिसके प्रवर्त्तक इलाचन्द्र जोशी हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा और यहाँ तक कहा जाने लगा कि इलाचन्द्र जोशी की कहानियाँ फ्रायड के सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत करती हैं। उनकी कहानियों में दमित वासना, रुग्ण मनो-वृत्तियाँ, आत्मरति, अहंकार का अनुभूतिपूर्ण चित्रण हुआ है। मध्यवर्गीय शिक्षित पात्रों के सामाजिक एवं वैयक्तिक परिवेश को लेकर ये कहानियाँ लिखी गयी हैं। जोशीजी की कहानियों में 'रोमांटिक छाया', 'खण्डहर की आत्माएँ', 'दुष्कर्मी', 'बदला' और 'परित्यक्ता' उल्लेखनीय हैं। मनोविश्लेषणवाद के सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर चलने के कारण लेखक की दृष्टि मनुष्य को व्यापकता की दृष्टि से देख सकने में समर्थ न हो

सकी, परिणामतः उनके पात्र कुंठित और आत्मसीमित है। कथानक में जटिलता को चित्रित करने की कुशलता का प्रदर्शन इन कहानियों में अवश्य मिलता है।

जैनेन्द्र कुमार ने किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से ग्रस्त होकर कहानियाँ नहीं लिखीं। मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्‌घाटन ही यशपाल की कहानियों का लक्ष्य है। कह सकते हैं कि मनोविज्ञान के व्यावहारिक पक्ष को कहानी का रूप दिया गया है। 'पत्नी', 'जाह्नवी', 'पाजेब','ग्रामोफोन का रिकार्ड' जैसी कहानियाँ मनोवैज्ञानिक युक्तियाँ नहीं हैं, गहन मानवीय संवेदना की परिचायक हैं। जैनेन्द्र ने मनोवैज्ञानिक यथार्थ के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों से विद्रोह भी किया।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' इस परम्परा के तीसरे कहानीकार हैं। मनोवैज्ञानिक यथार्थ को कलात्मक अभिव्यक्ति देनेवाले 'अज्ञेय' में चिन्तन की गहराई और दार्शनिकता भी है। ज्याँ पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद का 'अज्ञेय' पर पूर्ण प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने लेखन को मनुष्य की मुक्ति और अस्मिता की खोज में अर्पित किया। "कहानी जीवन की प्रतिच्छाया है और जीवन स्वयं एक अधूरी कहानियों का संग्रह है", कहकर कहानी को परिभाषित करनेवाले 'अज्ञेय' की कहानियों में बौद्धिकता और मनोवैज्ञानिक जटिलता के साथ ही संवेदनशीलता भी है। 'गैंग्रीन', 'जयदोल', 'शरणदाता', 'लौटती पगडण्डियाँ', 'कोठरी की बात' कहानियाँ उनके गूढ़ चिन्तन, मनोवैज्ञानिक चित्रण और विद्रोही स्वभाव का परिचय देती हैं। ये कहानियाँ चेतना को उद्‌बुद्ध करती हैं, अपनी पहचान कराती हैं, और गहरे जाकर झकझोरती भी हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीचरण वर्मा किसी परम्परा के कहानीकार नहीं हैं। इन्होंने अपनी राह खुद तलाशी और व्यंग्यधर्मी कहानियाँ लिखकर अपनी खास पहचान बनाने में समर्थ हुए। यथार्थवादी रचनाकार 'अश्क' ने आरम्भ में उर्दू कहानियाँ लिखीं थीं। इनकी कहानियों का विषय निम्न-मध्यम वर्ग है। 'वह मेरी मँगेतर थी', 'डाची' 'पिंजरा', 'काँकड़ा का तेली', 'बैगन का पौधा', 'अंकुर' और 'गोखरू' आदि कहानियाँ सामाजिक यथार्थ की व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति करती हैं।

भगवतीचरण वर्मा ने 'दो बाँके', 'मुगलों ने सल्तनत बख्श दी', 'वसीयत', 'प्रायश्चित्त', 'इंस्टालमेन्ट' जैसी कहानियों के माध्यम से व्यंग्य कौशल को प्रदर्शित किया। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक जिन्दगी की भूलों पर जमकर उपहास किया।

अमृतलाल नागर मानवीय संवेदना से ओत-प्रोत, सोद्देश्य कहानियों के कारण जाने जाते हैं। महादेवी वर्मा के संस्मरणों, रेखाचित्रों में कहानी का तत्त्व मौजूद है। 'निराला' ने कहानियाँ लिखीं जो छायाबादी भावना, कल्पना से अनुप्राणित होते हुए भी सशक्त हैं। इस युग में ऊषादेवी मित्रा, कमला चौधरी, सत्यवती मलिक जैसी कहानीकार भी थीं, जिनकी कहानियाँ घरेलू जीवन की बहुरंगी झाँकियाँ प्रस्तुत करती हैं।

स्वतन्त्रता के बाद 'नयी कहानी आन्दोलन' की शुरुआत हुई। भारतीय जनमानस एक नयी चेतना, नये विश्वास से भर उठा। उसे एक बदला हुआ यथार्थ मिला जिसने सामाजिक मान्यताओं और जीवनमूल्यों को एक नया सन्दर्भ दिया। परिवेश की विश्वसनीयता, अनुभूति की प्रामाणिकता, अभिव्यक्ति की सचाई जैसा सवाल उठाया गया। युगसत्य से सीधे जुड़नेवाली इस कहानी ने समकालीन यथार्थ का दिग्दर्शन कराया। स्वतन्त्रता के बाद के मोहभंग ने परम्परागत ढाँचा बिखेर दिया, समाज के विभिन्न वर्गों में नयी चेतना का विकास हुआ। "नयी कहानी ने इन सारे परिवर्त्तित विघटित होते हुए सम्बन्धों एवं मूल्यों की बड़ी ईमानदारी से अभिव्यक्त करने का जोखिम उठाया।"

नयी कहानी के आन्दोलनकारियों में राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश और कमलेश्वर जैसे रचनाकार हैं। इसके साथ ही फणीश्वरनाथ रेणु, धर्मवीर भारती, मार्कण्डेय, अमरकान्त, भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा ने युगीन यथार्थ को मार्मिक अभिव्यक्ति देकर 'नयी कहानी' आन्दोलन को तीव्र करने में सहयोग किया। अमरकान्त की 'जिन्दगी और जोंक', 'दोपहर का भोजन', उषा प्रियंवदा की 'वापसी', 'मछलियाँ', 'जिन्दगी और गुलाब के फूल', कमलेश्वर की 'खोयी हुई दिशाएँ', निर्मल वर्मा की 'परिन्दे', धर्मवीर भारती की 'गुलकी बन्नो', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', फणीश्वरनाथ रेणु की 'तीसरी कसम', मन्नू खण्डारी की 'यही सच है', मोहन राकेश की 'एक और जिन्दगी', राजेन्द्र यादव की 'टूटना', शिवप्रसाद सिंह की 'नन्हों' आदि कहानियाँ नयी कहानी आन्दोलन का घोषणा पत्र हैं। इन कहानियों में यथार्थ बोध विविध रूपों में हैं—निजी अवसाद के रूप में, पारिवारिक विघटन के रूप में, सामाजिक मूल्यों की संक्रान्ति के रूप में। कमलेश्वर के शब्दों में—"नयी कहानी आग्रहों की कहानो नहीं है, प्रवृत्तियों की हो सकती है, और उसका मूल स्रोत है जीवन का यथार्थ बोध, और इस यथार्थ को लेकर चलनेवाला वह विराट्, मध्य और निम्न-मध्य वर्ग जो अपनी जीवनशक्ति से आज के दुर्दान्त संकट को जाने-अनजाने झेल रहा है। उसका केन्द्रीय पात्र है (अपने विविध रूपों और परिवेशों में) जीवन को वहन करने वाला व्यक्ति।"

व्यक्ति की प्रतिष्ठा, भावुकता का ह्रास, मध्यवर्गीय जीवन चेतना, शिल्प प्रयोग के साथ ही सांकेतिकता जैसी विशेषताएँ नयी कहानी में मिलती हैं। अज्ञेय की कहानी 'साँप' में मनोविज्ञान के कामप्रतीक का प्रयोग है। कमलेश्वर की 'साँप' और 'नीली झील', राजेन्द्र यादव की 'खेल खिलौने', शिवप्रसाद सिंह की 'अंधा कूप' कहानियाँ प्रतीकात्मक संकेत हैं।

नये कहानीकारों ने अपने रास्ते तलाश किये। मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव जैसे रचनाकारों ने जहाँ महानगरीय बोध को विषय बनाया वहीं अमरकान्त ने मध्यमवर्गीय चरित्र को लिया। फणीश्वरनाथ रेणु ने आञ्चलिकता से जुड़कर अपने अनुभवों को कहानी का रूप दिया—'रासपिरिया', 'लाल पान की बेगम' ऐसी ही कहानियाँ हैं।

नयी कहानी ने शिल्प के क्षेत्र में जो परिवर्तन स्वीकारा उसने पुराने समस्त प्रतिमानों को नाकाफी करार कर दिया। स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म कथातन्तु सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता और बिम्बात्मकता, जटिल एवं सूक्ष्म अनुभवों की अभिव्यक्ति नयी कहानी की पहचान बन गयी।

सन् '६० तक आते-आते कहानी फिर परिवर्तन की माँग करने लगी। 'सुराज' के सपने सजानेवाली आँखों ने स्वार्थ की राजनीति देखी और गरीबों की सेवा के नाम पर कुर्सियाँ हासिल करने की साजिश देखी तो एक बार फिर विक्षुब्ध हो उठीं। देश अपनी ही असफलताओं में बुरी तरह फँस गया। जितनी तेजी से सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक जीवनमूल्य बदले उसी तरह कहानी के आन्दोलन भी। कहा जा सकता है कि 'साठोत्तरी कहानी' आन्दोलनों के वात्याचक्र में फँस गयी। ४-५ वर्षों के अन्तराल पर अकहानी, सचेतन कहानी, समानान्तर कहानी और जनवादी कहानी के आन्दोलन हुए। अकहानी के लेखकों ने अपने समय के सन्त्रास, अकेलेपन, बिखराव, अजनबीपन की अभिव्यक्ति करते हुए समाज की मूल्यहीनता और विसंगतियों को उद्घाटित किया। श्रवण कुमार, ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया, गिरिराज किशोर इस आन्दोलन से जुड़े रचनाकार हैं। महीप सिंह ने 'सचेतन' कहानी आन्दोलन चलाया जिसमें नरेन्द्र कोहली, मनहर चौहान शामिल थे, कमलेश्वर ने 'सरिका' पत्रिका के माध्यम से 'समानान्तर कहानी' के आन्दोलन को आरम्भ किया। ये कहानियाँ आम आदमी की पीड़ाओं और संघर्ष के चित्रण पर बल देती थीं। जनवादी कहानी में जन को प्रतिष्ठा मिली। इन कहानियों ने समाज में शोषित, उपेक्षित और तिरस्कृत जन को जुबान दी। उसे अपनी व्यापक सहानुभूति दी। गोविन्द मिश्र, कामतानाथ, मधुकर सिंह, सतीश जमाली, उदय प्रकाश, विजयमोहन सिंह, मिथिलेश्वर ऐसे लेखक हैं जो ईमानदार लेखन कर रहे हैं बिना किसी वाद में शामिल हुए।

महिला लेखिकाओं का एक बड़ा वर्ग कहानी लेखन में उभरा है जिनमें मृदुला गर्ग, मंजुल भगत, राजी सेठ, सूर्यबाला, मालती जोशी, दीप्ति खण्डेलवाल, नमिता सिंह, ममता कालिया, कृष्णा सोबती के नाम उल्लेखनीय हैं।

आज का संवेदनशील रचनाकार जिन अभावों में घुटता आगे बढ़ रहा है, जिन्दगी, समाज हर जगह 'मिसफिट' की मोहर लगाये घूम रहा है समाज के प्रति विक्षोभ

से भर उठता है तब 'अलग' (श्रीकान्त वर्मा), 'एक नौजवान की मौत' (अमरकान्त), 'अलग होने के पहले' (परमानन्द श्रीवास्तव), 'दूसरी दूरी' (प्रयाग शुक्ल), 'तिरिछ' (उदयप्रकाश), 'शिलान्यास' (मनीषराम), 'सत्ताइस साल की उम्र' (रवीन्द्र कालिया) जैसी कहानियाँ स्वतः फूट पड़ती हैं जिनमें रिक्तता, खोखलापन, उदासी, अलगाव, निरुद्देश्यता, ऊब के सिवाय कुछ नहीं मिलता है। नैतिक वर्जनाओं और अभावों के द्वन्द्व के बीच जी रहा रचनाकार इसी अनुभव की प्रामाणिकता से कहानी बुनता है।

आगामी समय किन कथासूत्रों को कहानी का आधार बनायेगा इसी की भविष्य-वाणी से अनभिज्ञ रहकर भी कहानी के समुन्नत भविष्य के प्रति आश्वस्त तो हुआ ही जा सकता है।

निबन्ध

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'—गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध को आचार्य शुक्ल गद्य की कसौटी कहते हैं। निबन्ध में काव्यमयता, सरसता भी है, कहानी जैसी सहज सम्प्रेषणीयता भी है, नाटक जैसी संवादात्मकता, प्रभावान्विति है तो जीवनी सदृश आत्मविश्लेषण का तत्त्व भी मौजूद है। संस्मरण की तरह निष्पक्षता और मार्मिकता है तो रेखाचित्र-सी चित्रात्मकता, मनोवैज्ञानिकता और कल्पनाप्रवणता भी। कहने का अभि-प्राय है कि समस्त विधाओं की विशेषताएँ एकमात्र निबन्ध में व्याप्त हैं और इसीलिए निबन्ध को गद्य का शृङ्गार जैसा विशेषण भी मिला है। निबन्ध में गद्य की अभि-व्यंजनाशक्ति का पूर्ण चमत्कार परिलक्षित होता है, उक्ति वैदग्ध्य एवं अर्थदीप्ति जैसे गुण निबन्ध की आत्मा हैं।

निबन्ध का व्यौत्पत्तिक अर्थ

१. नि उपसर्ग, बन्ध धातु और ल्युट् प्रत्यय करने पर अर्थ होता है—"निबध्यते अस्मिन् इति, अधिकरणे निबन्धनम्" अर्थात् जिसमें विचार बाँधा जाये या गूँथा जाये ऐसी रचना निबन्ध कहलाती है।

२. नि उपसर्ग बन्ध धातु और घञ् प्रत्यय करने पर अर्थ है—"निश्चितार्थेन विषयम् अधिकृत्य बन्धनम् निबन्धनम्" अर्थात् निश्चित रूप से किसी विषय पर विचारों की शृङ्खला बाँधने, रोकने या संग्रह करने को निबन्ध कहते हैं।

वस्तुतः निबन्ध विचारों या भावों को पूर्णतया बाँधनेवाला, एकत्र करनेवाला, संगठित करनेवाला, जोड़नेवाला या रोकनेवाला होता है। निबन्ध अंग्रेजी 'एसे' का पर्याय है जिसका शाब्दिक अर्थ है प्रयास करना। निबन्ध के प्रवर्त्तक मोन्टेन का कथन है कि—"विचारों, उद्धरणों और आख्यानात्मक वृत्तों के सम्मिश्रण को निबम्ध कहते

हैं।" जबकि बेकन के मत में—"निबन्ध कुछ इने-गिने पृष्ठों के लघु विस्तार को कहते हैं, जिसमें सारगर्भित ठोस विचारों का निर्देश हो और ये विचार अधिक विस्तार से प्रकट न किये गये हों।" डा० जानसन ने निबन्ध को "मस्तिष्क की ढीली-ढाली उद्भावना और अव्यवस्थित तथा अपरिपक्व रचना के रूप में ग्रहण किया है।" एडीसन का मत है कि "निबन्ध में विचारधारा तरल और मिश्रित होती है। उसका प्रवाह कभी सुगम उपदेशात्मकता की ओर उन्मुख रहता है, तो कभी वैयक्तिक आत्माभिव्यंजना की ओर।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्ध की व्याख्या करते हुए लिखा कि—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है।" डा० गुलाब राय का कथन है कि—"निबन्ध उस गद्यरचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"

निबन्ध सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं को अंगीकार करते हुए कहा जा सकता है कि निबन्ध वह गद्य रचना है जिसमें लेखक किसी भी विषय पर स्वच्छन्दतापूर्वक परन्तु एक विशेष सौष्ठव, संहिति, सजीवता और वैयक्तिकताके साथ अपने भावों, विचारों और अनुभवों को व्यक्त करता है।

साहित्यिक विधा के रूप में निबन्ध का विकास आधुनिक युग में हुआ। जीवन में जो नया उन्मेष पुनर्जागरण काल में आया, भाव के स्तर पर निबन्ध विधा से जुड़ गया। पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान से उसे नया प्रकाश मिला। हिन्दी का साहित्यकार नये मानव मूल्यों, नये परिवेश के प्रति क्रियाशील हुआ और कल्पना जगत् में विचरण करने लगा। अभिव्यक्ति की छटपटाहट ने निबन्ध को विषय रूप में चुन लिया।

भारतेन्दु युग की परिस्थिति इसके अनुकूल थी। लेखक अपने परिवेश से जुड़ा हुआ था, वह सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थिति की प्रतिक्रियास्वरूप नवजागरण की चेतना से भर गया और उसने अपने अनुभव और चिन्तन को इसी दिशा में लगाया। निबन्ध का प्रचार-प्रसार पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अधिक हुआ। 'हिन्दी प्रदीप', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'भारतमित्र', 'ब्राह्मण' आदि पत्रों के अभाव में निबन्ध जैसे गद्यरूप के विकास की परिकल्पना नहीं की जा सकती थी। भारतेन्दु युग की केन्द्रीय विधा निबन्ध ही है। भारतेन्दु युग के निबन्धकारों में स्वयं भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी तथा श्रीनिवास दास के नाम उल्लेखनीय हैं। इन निबन्धों में विनोदप्रियता, स्फूर्त्ति, विदग्धता और

भाषा का अनगढ़पन मौजूद है। भारतेन्दु ने पुरातत्त्व, इतिहास, धर्म, कला, साहित्य और भाषा, सभी विषयों पर लिखा है। जैसे 'काशी', 'मणिकर्णिका', 'काश्मीर कुसुम', 'वैष्णवता और भारतवर्ष', 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो', 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', 'हिन्दी भाषा' तथा 'नाटक' आदि। भारतेन्दुजी के निबन्धों में विचारात्मक, भावात्मक, आत्मव्यंजक, वर्णात्मक तथा कथात्मक शैली मिलती है।

बालकृष्ण भट्ट विचारप्रधान निबन्धकार हैं। निबन्ध की आत्मा को पहचाननेवाले निबन्धकार बालकृष्ण भट्ट ही हैं। 'एडीसन' से प्रभावित होकर और संस्कृत,मराठी जैसी भारतीय भाषाओं में प्रचलित निबन्ध रूपों को ग्रहण करके आपने हिन्दी निबन्ध में विचार, भाव, मनोविज्ञान और व्यावहारिकता का अद्भुत समन्वय किया है। 'आँख' 'कान', 'बातचीत', 'आँसू' जैसे भावात्मक निबन्धों में भी भावमयता और व्यावहारिक समझ के दर्शन होते हैं। कुछ गम्भीर साहित्यिक आलोचनात्मक निबन्ध भी भट्टजी ने लिखे हैं, जैसे 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है', और 'शब्द की आकर्षण शक्ति'।

प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों के शीर्षक ही आर्कषित करने के साथ चौंकाते भी है जैसे—'दाँत', 'भौं', 'ट', 'बेगार', 'धोखा' आदि। ये निबन्ध व्यंग्य विनोदमयी शैली के उदाहरण हैं। प्रतापनारायण मिश्र आत्मव्यंजक निबन्धकार हैं। सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर चलनेवाले प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों में समाज के प्रति चुभता हुआ व्यंग्य मिलता है।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' सामाजिक निबन्धकार के रूप में जाने जाते हैं। 'कादम्बरी' को गद्य का आदर्श स्वरूप माननेवाले प्रेमघन की शैली पूर्णतः अलंकृत शैली है। धर्म, सभ्यता, समाज आदि पर विचार भी है और समकालीन राजनैतिक आन्दोलनों पर निर्भीकता से टिप्पणी भी की गयी है। 'नेशनल कांग्रेस की दुर्दशा' 'भारतीय प्रजा के दुःख की दुहाई और ढिठाई पर गवर्नमेण्ट की कड़ाई' जैसे निबन्ध इसी प्रकार के हैं।

लाला श्रीनिवासदास का 'भरत खण्ड की समृद्धि' निबन्ध काफी प्रसिद्ध हुआ। इसमें भारत के प्राचीन गौरव एवं वर्तमान दीनावस्था का अत्यन्त विस्तृत एवं प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है। आचार सम्बन्धी 'सदाचरण' निबन्ध भी मिलता है।

राधाचरण गोस्वामी ने समसामयिक विषयों को अपने निबन्ध का आधार बनाया है। मनोरंजन से भरपूर ये निबन्ध भाषिक दृष्टि से प्रौढ़ एवं परिमार्जित हैं। 'यमलोक की यात्रा' अनोखे ढंग से लिखा गया स्वप्न वृत्तान्त ही है, इसकी शैली व्यंग्यात्मक है।

इस युग के प्रायः सभी निबन्धकार पत्रकार भी थे, अतः पाठकों का ध्यान रखते हुए इन्होंने अपनी निबन्ध शैली सरल, सुबोध बनायी। आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता के

कारण रोचकता इन निबन्धों का प्रधान गुण बनी। साहित्य को जनजीवन के निकट लाना, राजनैतिक, समाज सुधार की प्रवृत्ति का प्रकाशन, विषयों की अनेकरूपता इस युग के निबन्धों में पायी जाती है। निबन्धकारों की दृष्टि व्यापक तथा उदारता की भावना से पूर्ण थी। सम्भवतः इसीलिए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा कि—"जितनी सफलता भारतेन्दु युग के लेखकों को निबन्ध रचना में मिली उतनी कविता और नाटक में नहीं मिली।"

द्विवेदी युग में निबन्ध के ऐतिहासिक विकास का दूसरा चरण आरम्भ हुआ। भारतेन्दु युग में जिन भावनाओं, विचारों, शैलियों का सूत्रपात हुआ था, द्विवेदी युग में उन्हीं का विकास एवं प्रसार हुआ। द्विवेदी युग में महावीरप्रसाद द्विवेदी नवजागरण के उन्नायक वनकर आये। 'सरस्वती' और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन के साथ ही निबन्ध साहित्य का विकास और तीव्र गति से आरम्भ हो गया। 'सरस्वती' में द्विवेदीजी ने अनेक विषयक्षेत्रों से सम्बद्ध निबन्ध प्रकाशित किये और बेकन के निबन्धों के अनुवाद भी प्रकाशित किये जिसका प्रभाव तद्युगीन निबन्धकारों के शिल्प पर देखा जा सकता है। निबन्धों के विषय इस युग में बढ़ गये जैसे—साहित्य एवं भाषा, वैज्ञानिक आविष्कार, पुरातत्व एवं इतिहास, भूगोल, जीवन चरित, अध्यात्म तथा अन्य उपयोगी विषयों पर निबन्ध प्रकाशित हुए। प्रमुख निबन्ध लेखकों में महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम व्यक्ति का नहीं युग का बोध कराता है। इनके अतिरिक्त बालमुकुन्द गुप्त, मिश्रबन्धु (श्यामबिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र), सरदार पूर्णसिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबू श्यामसुन्दरदास, आ० रामचन्द्र शुक्ल, पद्म सिंह शर्मा तथा बाबू गुलाबराय आदि उल्लेखनीय हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य से सम्बन्धित निबन्ध सर्वाधिक लिखे। 'नाटचशास्त्र', 'कवि और कविता', 'कवि बनने के लिए सापेक्ष साधन' जैसे निबन्ध साहित्यशास्त्र से सम्बद्ध हैं। द्विवेदीजी का 'भाषा और व्याकरण' तथा 'वैदिक देवता' निबन्ध भी ख्यातिप्राप्त है। जीवन से सम्बद्ध अनेक ज्ञानधाराओं को हिन्दी वाङ्मय में समाहित किया गया है।

बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग की सन्धि के निबन्धकार हैं। अतः भारतेन्दु युग की निबन्ध शैली की रोचकता और सजीवता जैसे गुण को अपनी व्यंग्यात्मक शैली में गुप्तजी ने संजोया है। 'शिवशम्भु का चिट्ठा' इस दृष्टि से सार्थक उदाहरण है। सामान्य बोलचाल की भाषा में, मुहावरेदार प्रयोगों से सुसज्जित निबन्ध शैली गुप्तजी की पहचान है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'कछुआ धर्म' और 'संगीत' दोनों विषयों पर समान रूप से लिखा है। भावात्मक निबन्धों में अपनी खास पहचान बनानेवाले निबन्धकार हैं—सरदार पूर्ण सिंह। 'सच्ची वीरता', 'आचरण की सभ्यता', 'पवित्रता',

'मजदूरी और प्रेम' तथा 'कन्यादान' निबन्धों में भावना का प्राधान्य है लेकिन विचार तत्त्व का अभाव भी नहीं है।

विज्ञान तथा आविष्कार सम्बन्धी निबन्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ करते थे। रूपनारायण पाण्डेय का 'विद्युत की चालक गति', जगन्नाथ खन्ना का 'विज्ञान की उपयोगिता', गोपालस्वरूप भार्गव का 'रेडियम' जैसे निबन्ध 'सरस्वती', 'माधुरी' तथा 'विज्ञान' पत्रिका में प्रकाशित होते रहते थे।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र के निबन्ध 'प्रचण्ड पुल्टावा पराजय' तथा 'अमेरिका का अभ्युदय' ऐतिहासिक तथा अनुसन्धानात्मक निबन्धों में आते हैं।

जीवन चरित सम्बन्धी निबन्ध भी इस युग में लिखे गये जिनमें भीष्मपितामह, भगवान कृष्ण, सिकन्दर, महारानी दुर्गावती, औरंगजेब, ग्रियर्सन, होमर तथा इंशाअल्ला खाँ जैसे नाम लिये जा सकते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम भी हिन्दी निबन्ध साहित्य के क्षेत्र में इसी युग में उभरा। गम्भीर मनोभावों के विवेचन में सर्वाधिक सफलता आचार्य शुक्ल को ही मिली है। शुक्लजी के निबन्धों को दो भागों में बाँट सकते हैं—एक हैं मनोवैज्ञानिक निबन्ध और दूसरे साहित्यिक आलोचनात्मक। 'क्रोध', 'भय', 'घृणा', 'करुणा', 'ईर्ष्या', 'लोभ और प्रेम', 'श्रद्धा और भक्ति' आदि मनोवृत्तियों का काव्यशास्त्र तथा जीवनानुभव के संश्लेष से बड़ा ही गम्भीर विवेचन शुक्लजी ने प्रस्तुत किया है। 'कविता क्या है', 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' जैसे सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी निबन्धों में उनका बौद्धिक रूप अधिक स्पष्ट हुआ है। अपने निबन्धों के विषय में आ० शुक्ल ने स्वीकार किया है कि 'यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि पर हृदय को साथ लेकर।' वस्तुतः यह कथन उनके निबन्धों पर पूर्णतः चरितार्थ होता है। बौद्धिकता और सहृदयता का अद्भुत समन्वय है इन निबन्धों में। 'शैली ही मनुष्य है' की सार्थकता इन निबन्धों से ही प्रमाणित होती है।

छायावाद जीवन को भावात्मक दृष्टि से लक्षित करता था। अतः इस युग में लिखे गये निबन्धों का प्रमुख गुण भावात्मकता ही है। रागात्मक संवेदना और अनुभूतिमयी भाषा छायावाद की देन है। इस युग के निबन्धकारों में जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, शान्तिप्रिय द्विवेदी, रायकृष्ण दास तथा पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के नाम प्रमुख हैं। जयशंकर प्रसाद के निबन्धसंग्रह 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में साहित्यिक विश्लेषण की गम्भीरता के साथ दार्शनिक बोध भी

मौजूद है। 'काव्यकला', 'रहस्यवाद', 'यथार्थवाद और छायावाद' तथा 'रस' शीर्षक निबन्ध भावुकता का नहीं गम्भीर चिन्तन का बोध कराते हैं। इन निबन्धों के माध्यम से जयशंकर 'प्रसाद' ने छायावाद की विशेषताओं का समर्थन किया है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने साहित्य और भाषा की समस्याओं के अतिरिक्त सामाजिक तथा राजनैतिक विषयों पर भी निबन्ध लिखे हैं। 'नाटक', 'समस्या', 'कला के विरह में जोशी बन्धु', 'साहित्यिक सन्निपात या वर्तमान धर्म' जैसे निबन्धों में तार्किकता, वैचारिक दृढ़ता और व्यक्तित्व चेतना स्पष्ट दिखायी देती है। महादेवी वर्मा के निबन्ध भावुकता, वैचारिकता तथा दार्शनिकता की मिलीजुली अनुभूति कराते हैं—'साहित्यकार की आस्था', 'छायावाद', 'यथार्थ और आदर्श' जैसे निबन्धों में उपर्युक्त गुण देखे जा सकते हैं। महादेवी वर्मा लिखती हैं—"कहती तो वही हूँ जो अनुभव करती हूँ परन्तु दूसरों तक किस रूप में पहुँचना है वही सत्य है।"

शान्तिप्रिय द्विवेदी के निबन्ध उनके व्यक्तित्व के प्रतिरूप कहे जा सकते हैं। 'जीवन-यात्रा', 'साहित्यिकी', 'संचारिणी', 'सामयिकी', 'साकल्य', 'आधान', 'समवेत' जैसे निबन्ध संग्रहों में उनकी रचनात्मक दृष्टि लक्षित होती है। साहित्य को द्विवेदी जी सांस्कृतिक चेतना का सहज परिणाम मानते हैं।

नन्ददुलारे बाजपेयी छायावाद के श्रेष्ठ समीक्षक कहे जाते हैं। जाहिर है कि बाजपेयी जी की दृष्टि समीक्षात्मक है और इसीलिए उनके निबन्ध विचारप्रधान होते हैं। 'नया साहित्य : नये प्रश्न' में वर्तमान हिन्दी समीक्षा के विषय में लिखे निबन्ध संगृहीत हैं।

निबन्ध साहित्य के शुक्लोत्तर युग में एक नाम पुनः उभरता है हजारीप्रसाद द्विवेदी का। आपके निबन्धों की आधारभूमि भारतीय संस्कृति है। आत्मव्यंजक निबन्ध अथवा ललित निबन्ध की परम्परा चलानेवाले द्विवेदी जी ही हैं। 'अशोक के फूल', 'कुटज', 'देवदारु' जहाँ सांस्कृतिक प्रतीक हैं वहीं 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' के माध्यम से अहिंसावादी सिद्धान्त को ही प्रस्तुत कर दिया गया है। द्विवेदी जी के निबन्धों में एक खास तरह की लयात्मकता पायी जाती है। राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक चिन्तन, जातीय स्मृति, अनेक स्तर ऐसे हैं जहाँ द्विवेदी जी पाठकों से संवाद करते हैं। वह अपने पाठकों से दूर नहीं होते। लालित्य इन निबन्धों का प्रधान गुण है। डा० विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय को भी इसी परम्परा में लिया जाता है किन्तु इन दोनों लेखकों की विशेषताएँ अलग-अलग हैं। डा० मिश्र के निबन्धों में जहाँ—'छितवन की छाँह', 'साँझ भई', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है', 'आँगन का पंछी' और 'बनजारा मन' जैसे आत्मव्यंजक निबन्ध हैं वहीं 'आस्था की सही पहचान', 'नये मूल्यों की तलाश', जैसे

निबन्ध भी हैं जिनमें लेखक का आक्रोश, क्षोभ, पीड़ा एक तनाव भरे सन्तुलन में संग्रथित हो गयी है। वैचारिकता के साथ ही भावात्मक तादात्म्य डा० मिश्र के निबन्धों की विशेषता है। कुबेरनाथ राय परम्परा और आधुनिता के बीच एक रिश्ते की तलाश करते हैं। 'विषाद योग', 'कामधेनु', 'महाकवि की तर्जनी' निबन्ध संग्रहों में व्यक्ति-व्यंजकता पायी जाती है। लेकिन कुबेरनाथ राय ने पूर्वी-पश्चिमी संस्कृति के मिथकों का पुनरन्वेषण करके अपना चिन्तन और शिल्प विकसित किया है।

डा० रघुवंश के निबन्धों में सांस्कृतिक सर्जनात्मकता और आधुनिकता बोध दिखायी देता है। अपने गहन चिन्तन के लिए प्रसिद्ध डा० रघुवंश का निबन्ध संग्रह—'साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य' अपनी आलोचनात्मकता के कारण पहचाना जाता है।

डा० नगेन्द्र मनोवैज्ञानिक निबन्धकार हैं लेकिन उनकी दृष्टि रसवादी है। 'काव्यचिन्ता', 'विचार विश्लेषण', 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन' जैसे निबन्ध संग्रहों में विचार विश्लेषण के साथ अनुभूति का भी संश्लेषण है।

निर्मल वर्मा गहन संवेदना के रचनाकार हैं यह बात उनके निबन्धों पर भी लागू हुई है। 'हर बारिश में', 'कला का जोखिम', 'शब्द और स्मृति', जैसे महत्त्वपूर्ण संग्रहों ने उनके गद्य के कलात्मक परिष्कार का परिचय दिया है। उनके निबन्ध सचमुच उनके 'आत्ममंथन' से प्राप्त रत्न हैं। निर्मल वर्मा अपने 'स्वीकार' में निबन्ध को मानों परिभाषित करके कहते हैं—"इनका उद्देश्य दूसरों के सामने कुछ प्रभावित करना उतना नहीं है जितना खुद अपने कुछ पुराने विचारों के आस-पास चक्कर काटना है। आप देखेंगे कि 'चक्कर काटते हुए' मैं कभी-कभी अपने मूल विषय से बहुत दूर भटक गया हूँ, किन्तु निबन्ध की विधा हमें भटकने की सुविधा देती है, बशर्ते हम रास्ता न भूल जायें और शाम होने तक घर लौट आएँ।"

डा० नामवर सिंह के निबन्धों में उनका विचार, चिन्तन, अध्ययन, मनन एवं मूल्यांकन की प्रवृत्ति ही प्रधान रूप से उभर कर आती है। 'इतिहास और आलोचना' इनकी आलोचनात्मक दृष्टि का परिचायक है। सद्यः प्रकाशित 'वाद विवाद संवाद' में भी उनकी निजी शैली बखूबी उभरी है।

अज्ञेय ने 'त्रिशंकु' और 'आत्मनेपद' दो निबन्ध संग्रह हिन्दी जगत् को दिये हैं। साहित्यिक मान्यताओं को स्पष्ट करने वाले इन संग्रहों में विचारों का प्राधान्य मिलता है। 'आत्मनेपद' शीर्षक को सार्थक करती रचना है जिसमें अज्ञेय ने अपने व्यक्तित्व, जीवनानुभव, विश्वास तथा रचनात्मकता को व्यक्त किया है।

निबन्धकार साहित्य को जीवन से, उसके अनुभवों से जोड़कर देखता है। निबन्ध के रूप, प्रकार, शैली उसकी मूल प्रवृत्ति के अनुसार बदलते रहते हैं। निबन्धकार के

'मूड' के अनुसार उसकी शैली बदलती रहती है क्योंकि यही विधा ऐसी है जिसमें समस्त विधाएँ समाहित हैं। यहाँ तक कि यात्रा, संस्मरण, डायरी, आत्मकथन आदि शैलियों का इस्तेमाल भी निबन्धों में हो रहा है। निबन्धकार एक स्थल पर गम्भीर विवेचन कर रहा है तो दूसरे स्थल पर सहज हो सकता है और अन्यत्र व्यंग्य के छींटे भी डाल सकता है।

निबन्ध की ओर आकर्षण वर्तमान समय में अन्य विधाओं की अपेक्षा कम है। इसका कारण गहन विवेचन की कमी भी हो सकता है, क्योंकि निबन्ध सूचनात्मक स्तर पर, भावमयता के स्तर पर या बौद्धिक स्तर पर ही जाँचे परखे नहीं जा सकते हैं। यदि साहित्यिक सृजनशील कल्पना, दार्शनिकता, भावरूपता, वैचारिकता जैसा गुण नहीं है तो निबन्ध गद्य की कसौटी पर खरा उतरेगा कैसे ?

•

हिन्दी-आलोचना

हिन्दी-आलोचना का विकास

हिन्दी-आलोचना के विशाल भवन की आधारशिला संस्कृत साहित्यशास्त्र है। संस्कृत काव्यशास्त्र के रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य जैसे काव्यमूल्य प्रकारान्तर से हिन्दी-आलोचना के उपजीव्य बनते गये। हिन्दी के आदिकाल का मूल्यांकन संस्कृत समीक्षा-सिद्धान्तों के आधार पर ही किया जाता रहा। अधिकांश वैष्णव भक्त भी संस्कृत समीक्षाशास्त्र को उपजीव्य बनाकर चले थे, लेकिन वैष्णव आचार्यों ने भक्तिशास्त्र के निरूपण में काव्यशास्त्रीय आधार को तिरस्कृत नहीं किया। जायसी का काव्य संस्कृत समीक्षा-सिद्धान्त, सूफी साहित्य की मान्यताओं तथा लोक संस्कृति, साहित्यरूढ़ियों का अद्भुत संश्लेष है। सूरदास का मूल्यांकन 'वात्सल्य रस के सम्राट्' और 'शृंगाररस के अपूर्व चितेरे' के रूप में ही होता रहा है। तुलसीदास का 'रामचरित मानस' महाकाव्य के समस्त लक्षणों से युक्त है। दरअसल ये काव्य-प्रतिमान साहित्य के लिए फ्रेम का काम करते थे जिसके आधार पर साहित्य को 'फिट या अनफिट' कर दिया जाता था। हमारे आचार्य यह भूल गये कि फ्रेम चित्र के अनुसार होना चाहिए न कि फ्रेम के अनुसार चित्र। फ्रेम अगर छोटा होगा तो चित्र में से कुछ 'माइनस' करना होगा और चित्र यदि छोटा होगा तो कुछ असंगत जुड़ेगा। काव्यसिद्धान्त को कसौटी मानकर कसी गयी कविता का मूल्यांकन सही नहीं हो सकता।

यह सच है कि संस्कृत साहित्य के अनेक काव्यसिद्धान्त सार्वकालिक और सार्वदेशिक महत्त्व के हैं, हम उन्हें नकारकर आगे नहीं बढ़ सकते लेकिन उनका उपयोग हमें परिवेश के अनुसार नवीन और विकसित रूप में करना होगा। रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति और रीति आज भी काव्य के एक मानक मूल्य हैं लेकिन काव्य विकास के साथ ही इन मूल्यों में भी परिवर्तन हुआ है। यही कारण है कि आज की समीक्षा में कोई भी मूल्य 'स्थायी' तथा आत्मतत्त्वपरक नहीं है।

रीतिकालीन आलोचना पूर्णतया संस्कृत काव्यशास्त्र पर आधारित है। संवत् १७०७ विक्रमी में चिन्तामणि त्रिपाठी ने 'कविकुलकल्पतरु' की रचना की। इसमें संस्कृत के दशरूपक, काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण का आधार लिया गया। हिन्दी आचार्यों में चिन्तामणि, देव, मतिराम, बेनी, प्रवीन और रसलीन का झुकाव 'रस-सिद्धान्त' की ओर था, जबकि केशवदास की ख्याति अलंकारवादी के रूप में हुई।

कुलपति मिश्र, सोमनाथ, भिखारीदास तथा श्रीपति ने रसध्वनि को उत्तम काव्य की संज्ञा दी। एक अन्तर जरूर आया कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त का अन्तर्भाव वक्रोक्ति अलंकार में किया गया। यह भी विडम्बना ही रही कि लगभग २०० वर्षों तक चलनेवाली इस परम्परा ने न ही संस्कृत काव्यमूल्यों का विकास किया और न ही किसी मौलिक सिद्धान्त की स्थापना ही की।

भारतेन्दु युगीन आलोचना

भारतेन्दु के समय से हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ने लगा था। भारतेन्दु ने हिन्दी साहित्य-चेतना को एक नया क्षितिज दिया। वैज्ञानिकता, राष्ट्रीय एकता, विचारों की स्वतन्त्रता, जीवन के प्रति उपयोगितावादी दृष्टिकोण, जनतांत्रिक जीवन-व्यवस्था जैसे मूल्यों से हिन्दी का रचनाकार परिचित हो गया था। इस चेतना ने हमारी समीक्षा-पद्धति को भी प्रभावित किया। रस के सन्दर्भ में, नाटक के सन्दर्भ में यह परिवर्तन लक्षित होता है; जैसे भारतेन्दु ने कहा—"रस ऐसी वस्तु है जो अनुभवसिद्ध है। इसके मानने में प्राचीनों की कोई आवश्यकता नहीं, कवि-अनुभव में आवे मानिये, न आवे न मानिये।"

भारतेन्दु युग में जिस नवीन व्यावहारिक समीक्षा का प्रादुर्भाव हुआ वह थी पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षा। 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में समीक्षा का स्तम्भ हुआ करता था, जिसका सम्पादन भारतेन्दु ने किया था। 'हिन्दी प्रदीप', 'आनंद कादम्बिनो', 'भारत मित्र' में भी पुस्तक-समीक्षा प्रकाशित होती थी। पहले ये समीक्षाएँ गुणदोष-विवेचन तक सीमित थीं जिनका स्तर बहुत साधारण था, किन्तु क्रमशः इनका स्तर गम्भीर होता गया। पंडित बदरीनारायण चौधरी की 'आनंदकादम्बिनी' में लाला श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर' की विशद और व्यापक आलोचना प्रकाशित हुई। 'हिन्दी प्रदीप' को समालोचना की दृष्टि से विशेष गौरवपूर्ण माना गया जिसका सम्पादन पंडित बालकृष्ण भट्ट ने किया था।

इस प्रकार व्यावहारिक आलोचना का यह बीज ही आगे चलकर आलोचना का विशाल वृक्ष बना। भारतेन्दु का काव्य इस दृष्टि से विशेष महत्त्व का है कि जहाँ संस्कृत के समीक्षा-सिद्धान्त के प्रति गम्भीर विवेचन हुआ वहीं व्यावहारिक दृष्टि से भी आलोचना के मानदण्ड निर्धारित हुए।

द्विवेदी युगीन आलोचना

द्विवेदी युग तक आते-आते आलोचना का क्षेत्र विस्तृत हुआ। साहित्यकार अंग्रेजी साहित्य से ही नहीं अपितु प्रान्तीय भाषा के साहित्य से भी परिचित होने लगे।

संस्कृत कवियों को वर्ण्य बनाकर भी समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं जिनमें विक्रमांकदेव चरित-चर्चा तथा नैषधचरित-चर्चा मुख्य है। चर्चा में कहीं साधुवाद का आधार है तो कहीं विभिन्न विद्वानों के मतों का प्रस्तुतीकरण। 'कालिदास की निरंकुशता' पुस्तक में द्विवेदी जी ने भाषा तथा व्याकरण के तमाम व्यतिक्रम एकत्र किये हैं। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में—"इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्लेवालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिए, स्वतन्त्र समालोचना के रूप में नहीं।" इस समालोचना की उपयोगिता इसी सन्दर्भ में आँकी जानी चाहिए कि भाषा को पहली बार एक सुव्यवस्थित, व्याकरण-विहित आधार मिला।

द्विवेदी युगीन समीक्षा-पद्धति के प्रमुख रूप इस प्रकार उभर कर आते हैं—शास्त्रीय आलोचना,तुलनात्मक मूल्यांकन, व्यावहारिक आलोचना तथा पाठानुसंधान आदि। इस काल में अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की गयी। राजा मुरारीदान का 'जसवन्त भूषण', महाराज प्रतापनारायण सिंह का 'रसकुसुमाकर', जगन्नाथप्रसाद भानु का 'काव्यप्रभाकर', लाला भगवानदीन का 'अलंकार मंजूषा', सीताराम शास्त्री का 'साहित्य-सिद्धान्त' इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में कुछ नये अलंकारों की उद्भावना, नायिकाविषयक नूतन परिकल्पना की गयी है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास तथा बाबू गुलाबराय ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों पर नवीन दृष्टि से विचार किया। द्विवेदी जी के 'रसज्ञ रंजन' में अनुकूल छंदयोजना, नवीन छन्दों का ग्रहण, शुद्ध सरल भाषा लेखन आदि की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य में संयम, मर्यादा तथा शुद्ध आचरण जैसे तत्त्वों को प्रमुखता दी। मानवचरित्र के उन्नयन की शक्ति को आचार्य द्विवेदी ने सर्वोपरि स्थान दिया और काव्य की श्रेष्ठता तथा हीनता इसी आधार पर प्रमाणित की। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह भी थी कि आलोच्य कवि की परिस्थितियों का अध्ययन भी आचार्य द्विवेदी ने अनिवार्य बताया। परम्परा को अन्धस्वीकृति न देकर प्राचीन में उचित का ग्रहण तथा अनुचित का त्याग, उपयोगिता, सोद्देश्यता, स्वाभाविकता, प्रभविष्णुता, नवीनता की स्वीकृति किन्तु विवेकशीलता के साथ—ये सारे ऐसे तत्त्व हैं जिन पर द्विवेदी जी की आलोचना आधारित है। सिद्धान्त रूप में रसवादी होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से आचार्य द्विवेदी रसवाद का आधार नहीं लेते इसका कारण बहुत कुछ उपयोगितावादी और नैतिक दृष्टि का आग्रह है। अपनी भाषा को वह भावानुसार परिवर्त्तित कर लेते हैं। संभवतः यही कारण है कि आचार्य महवीर-प्रसाद द्विवेदी सिर्फ व्यक्ति नहीं, युग बन गये हैं। कविता के विषय की व्यापकता पर भी यहाँ विचार किया गया। 'साहित्यालोचन' के माध्यम से श्यामसुन्दरदास ने नवीन समीक्षा-सिद्धान्तों की आवश्यकता पर बल दिया। भारतीय रससिद्धान्त के

साथ ही कला, साहित्य, कविता आदि के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारकों के मत को भी समाहित किया गया। सिद्धान्तों के समन्वय पर सर्वाधिक ध्यान बाबू गुलाबराय ने दिया।

मिश्र बन्धुओं (श्यामबिहारी मिश्र, शुकदेवबिहारी मिश्र तथा गणेशबिहारी मिश्र) ने 'हिन्दी नवरत्न' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ में देव को हिन्दी का सबसे बड़ा कवि बताया और यहीं से तुलनात्मक मूल्यांकन की समीक्षा-पद्धति को बल मिला। देव को बिहारी से श्रेष्ठ दिखाने के लिए बिहारी के दोषमुक्त दोहों में भी दोष ढूँढ़े गये। यह पुस्तक सन् १९१० में प्रकाशित हुई, जिसमें कवियों की श्रेणियाँ बनायी गयीं। इसमें समीक्ष्य नौ कवियों—सूर, तुलसी, देव, बिहारी, केशव, भूषण, सेनापति, चन्द्र और हरिश्चन्द्र की विस्तृत आलोचना की गयी। पद्मसिंह शर्मा ने आर्या सप्तशती,अमरुकशतक, गाथा सप्तशती तथा फारसी उर्दू हिन्दी के अन्य कवियों की रचनाओं से बिहारी सतसई की तुलना करते हुए बिहारी को शृंगार रस का श्रेष्ठ कवि घोषित किया। कृष्णविहारी मिश्र की रचना 'देव' और बिहारी की प्रतिक्रिया स्वरूप लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' लिखकर तुलनात्मक मूल्यांकन की पद्धति को एक स्पष्ट आधार दे दिया। मूल्यांकन के प्रतिमान छन्द, अलंकार, शब्द-शक्तियाँ; भाव, नायिका तथा वृत्तियाँ बनीं। एक प्रकार से प्राचीन शास्त्रीय आलोचना का व्यावहारिक पक्ष इस समीक्षा से उद्घाटित हुआ। इसका प्रभाव इतना व्यापक हुआ कि तुलनात्मक मूल्यांकन को ही समीक्षा का चरम लक्ष्य समझा जाने लगा अर्थात् तुलनात्मक दृष्टि का विकास हुआ। सम्बन्ध न रहते हुए भी बादरायण सम्बन्ध की स्थापना होने लगी। पंडित कृष्णविहारी मिश्र ने मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका में तुलनात्मक आलोचना के प्रति अपने आग्रह की विस्तृत विवेचना की है।

व्यापक सन्दर्भ में यदि इस मूल्यांकन की पद्धति अपनायी जाती तो सम्भवतः समीक्षा-सिद्धान्त अधिक श्रेयस्कर होता।

द्विवेदी युग में पुस्तक-समीक्षा के साथ ही कवि और कृति पर भी गम्भीर विवेचन किया गया। साहित्यालोचन के मूल्यों पर सूक्ष्म विवेचन किया गया। 'सरस्वती' पत्रिका का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है। 'समालोचक', 'इन्दु' और 'माधुरी' ने भी हिन्दी आलोचना को विकसित किया। 'जायसी ग्रन्थावली', 'तुलसी ग्रन्थावली' तथा 'भ्रमरगीतसार' की विस्तृत भूमिकाओं के रूप में शुक्ल जी ने जायसी,तुलसी और सूर की व्यावहारिक आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया। कवि के व्यक्तित्व, उसकी विचार-परम्परा, तथा युगीन बोध को उसकी कृति के आधार पर निरूपित किया गया। भावानुभूति, लोकचेतना, मनोवैज्ञानिकता तथा सहजता पर विविध दृष्टिकोण से प्रकाश

डाला गया। व्याख्या, विवेचन, शोध तथा निर्णय की एक समन्वित दृष्टि यहाँ मिलती है। इन पर आइ०ए० रिचर्ड्स के 'प्रेक्टिकल क्रिटिसिज्म' का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। श्यामसुन्दरदास, गुलाबराय आदि ने भी व्यावहारिक आलोचना की व्याख्यात्मक पद्धति को महत्त्व दिया। यह परम्परा आज भी लक्ष्य की जा सकती है।

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से शोध एवं अनुसंधानपरक समीक्षा का सूत्रपात हुआ। रायकृष्ण दास कृत 'नागरीदास का जीवन चरित्र', 'मुसलमानी दफ्तरों में हिन्दी', बाबू श्यामसुन्दरदास कृत 'बीसलदेव रासो', किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'पद्मपुराण' जैसे गवेषणापूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुए। विश्वविद्यालयों में हिन्दी के अध्ययन के साथ ही शोध और अनुसन्धानपरक समीक्षा का विकास हुआ। अनुपलब्ध तथ्यान्वेषण तथा उपलब्ध तथ्यों का नवीन आख्यान इस शोधपरक समीक्षा का आधार है।

इसी सन्दर्भ में प्राचीन शास्त्रीय कृतियों के सही पाठ का अनुसन्धान भी महत्त्वपूर्ण दिशा देने में सक्षम है। पाठानुसन्धान की दिशा में हिन्दुस्तानी अकादमी, साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद; हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय का महत्त्वपूर्ण योगदान है। माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित जायसी ग्रन्थावली, पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित घनानन्द ग्रन्थावली ने विद्वानों को आकृष्ट किया है।

उत्तर द्विवेदी काल एक तरह से आलोचना साहित्य का स्वर्णकाल कहा जा सकता है। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आधारस्तंभ के रूप में आते हैं। इसे हम १९२० के आसपास का काल कह सकते हैं। आइ० ए० रिचर्ड्स से प्रभावित शुक्ल जी ने हिन्दी में व्यावहारिक आलोचना व व्याख्यात्मक आलोचना का सूत्रपात किया। शुक्ल जी की दृष्टि में यह ऐतिहासिक समीक्षा है जिसका उद्देश्य यह निर्दिष्ट करना होता है कि किसी रचना का उसी प्रकार की और रचनाओं से क्या सम्बन्ध है और उसका साहित्य की चली आती हुई परम्परा में क्या स्थान है ? शुक्ल जी ने प्रयोगात्मक एवं सैद्धान्तिक आलोचना का समन्वय किया और अपने निश्चित मानदण्डों को सूर, तुलसी, जायसी के मूल्यांकन में सम्पादित किया। जायसी ग्रन्थावली, तुलसी ग्रन्थावली तथा भ्रमरगीतसार के प्रबंध आलोचना को एक व्यापक पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। इनमें उनका स्पष्ट आग्रह तुलसीदास के प्रति है जिसका एक कारण है कि शुक्ल जी की आलोचना के मूल में लोकमंगल की भावना है। लोकमंगल की वृत्ति एक ऐसी कसौटी है जिस पर शुक्ल जी हर कवि का मूल्यांकन करते हैं और इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास के अतिरिक्त कोई कवि पूर्ण रूप से खरा नहीं उतरता। इसी आधार पर सूर के प्रति उदासीनता है, और छायावादी काव्य की उपेक्षा है। भारतीय

सिद्धान्तों का उपयोग शुक्ल जी ने जहाँ अपने मत की व्याख्या के लिए किया वहीं पाश्चात्य मत का उपयोग अपने मत की पुष्टि हेतु किया।

शुक्ल जी की दृष्टि मनोवैज्ञानिक भी है। वह जहाँ कृति का विवेचन करते हैं वहीं कृतिकार के व्यक्तित्व का भी विश्लेषण करते हैं। सूर के सन्दर्भ में शुक्ल जी कहते हैं कि—"शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी (सूर की) दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं।"

तुलसी की भावुकता की शुक्ल जी प्रशंसा करते नहीं अघाते—"हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामी जी में ही है।" यही भाव-शून्यता केशव को खरी-खोटी कहने में भी नहीं चूकती—"केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए।"

जायसी के प्रसंग में शुक्ल जी ऐतिहासिक आधार और रहस्यात्मकता पर अधिक बल देते हैं। कहा जा सकता है कि यहाँ जायसी-काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का विस्तृत वर्णन है।

शुक्ल जी का दृष्टिकोण पूर्णरूपेण आधुनिक अथवा पाश्चात्य विचारग्रस्त नहीं था, वस्तुतः वह रस, अलंकार सम्प्रदायों के पोषक थे। लेकिन उसके मनोवैज्ञानिक इस्तेमाल को आवश्यक समझते थे। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने ठीक ही कहा है कि—"यद्यपि आपकी शैली को पूर्णतः आधुनिक नहीं कहा जा सकता, आप मध्यकालीन केंचुल छोड़ने का प्रयत्न अवश्य कर रहे थे। आपकी आलोचना युग-सन्धि की आलोचना है।"

मर्यादावादी दृष्टिकोण ने शुक्ल जी को काफी हद तक पूर्वग्रही बना दिया है। आचार्य शुक्ल की समीक्षा-पद्धति को 'सामाजिक समीक्षा' कहा जा सकता है। यही नीतिवादी दृष्टिकोण सूर के काव्य का पूरी तरह आकलन नहीं कर पाता और क्योंकि सूर के कृष्ण का व्यक्तित्व लोकरक्षक का नहीं लोकरंजक का है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि द्विवेदी युगीन आलोचना में एक ओर संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का पुनराख्यान किया गया तो दूसरी ओर पाश्चात्य सिद्धान्त को भारतीय दृष्टिकोण से परखने की प्रवृत्ति विकसित हुई। आचार्य शुक्ल ने व्यावहारिक आलोचना का सूत्रपात किया और यह अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उनकी आलोचना ऐसा वटवृक्ष है जिसकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ नये-नये पौधों को जन्म देती जाती हैं।

छायावादी आलोचना

छायावादी युग के बदलते हुए मूल्यों जैसे स्थूलता की जगह सूक्ष्मता, उपदेशात्मकता की जगह रमणीयता, इतिवृत्तात्मकता की जगह काल्पनिकता, वायवीयता की

जगह ऐन्द्रिकता, अभिधा की जगह लक्षणा से आलोचना के क्षेत्र में भी परिवर्तन जरूरी हो गया। व्यक्ति स्वातन्त्र्य की स्थापना छायावादी कविता से हुई। समाज की उपेक्षा नहीं की गयी लेकिन वह साध्य न होकर साधन मात्र रह गया जबकि साध्य हुईं व्यक्ति की निजी अभिव्यक्तियाँ। इसे स्वच्छन्दतावादी अथवा सौष्ठववादी आलोचना भी कहा गया। काव्यात्मा को यहाँ विशुद्ध काव्यानुभूति के आधार पर स्वीकार किया गया है। सौष्ठव अथवा सौन्दर्य को यहाँ काव्य की कसौटी मानकर यह आलोचना अपने स्वतन्त्र सैद्धान्तिक अस्तित्व को स्थापित करने हेतु प्रयत्नशील होती है।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा पाश्चात्य 'रोमैन्टिक क्रिटिसिज्म' का हिन्दीकरण मानी गयी। इसी आधार पर छायावादी कवियों पर शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ के प्रभाव को लक्ष्य किया गया। यह कहना गलत न होगा कि सौष्ठववादी पद्धति के मूल में व्यक्तिवादी जीवनदर्शन तथा सौन्दर्यवादी जीवनदृष्टि है। सम्भवतः यही कारण है कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी इसे सांस्कृतिक समीक्षाधारा तथा साहित्यिक समीक्षा जैसा नाम देते हैं।

छायावादी कवियों ने अपनी कृति की भूमिकाओं में इस समीक्षा-दृष्टि का परिचय दिया है। पल्लव की भूमिका, दीपशिखा के चिन्तन के क्षण या फिर अन्य निबन्ध, जयशंकर 'प्रसाद' की 'काव्य और कला' के तमाम निबन्ध अपना समीक्षाशास्त्र स्वयं तैयार करते दिखाई देते हैं। इन कवियों को भाव और भाषा, अनुभूति और अभिव्यक्ति तथा वस्तु और शिल्प का अभिन्न सम्बन्ध मान्य है। सुष्ठु अनुभूति, तदनुसार अभिव्यक्ति, इनका मूल लक्ष्य है। कृतिविशेष की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के सौष्ठव का आधार लेकर कृति का मूल्यांकन करना ही इन्हें अधिक उपयोगी लगा। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, दिनकर, डा० नगेन्द्र तथा डॉ० देवराज जैसे आलोचकों ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। बाजपेयी जी कमनीय रससिद्धान्त को पाश्चात्य संवेदनीयता से जोड़कर अपने काव्यादर्श की घोषणा करते हैं—"काव्य का महत्त्व तो काव्य के अन्तर्गत ही है, किसी बाहरी वस्तु में नहीं। काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं। काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक तथा सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है।" 'इन्दु' पत्रिका के माध्यम से 'प्रसाद' की भावाभिव्यक्ति भी वस्तुतः ऐसी ही है। "साहित्य स्वतन्त्र प्रकृति, सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम है।" पन्त ने भी 'पल्लव' की भूमिका में आलोचना की स्वच्छन्दतावादी पद्धति को पुष्ट एवं विकसित किया। महादेवी वर्मा का सौष्ठववादी दृष्टिकोण सौन्दर्यदर्शन की रूपरेखा को भावात्मक शैली में प्रस्तुत करने में सफल हुआ है। निराला की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति तो काव्य का लक्ष्य ही सौन्दर्य की सृष्टि स्वीकारती है। अपनी इसी दृष्टि के

कारण द्विवेदी युगीन नैतिकता और स्थूल उपयोगिता जैसे बन्धन को ये कवि कभी भी स्वीकृति नहीं दे पाये। हमेशा काव्य के एक नये, अनदेखे, अनजाने क्षितिज के आकर्षण में ये कवि स्वप्नलोक सजाते रहे। पन्त के शब्दों में—"नवीन इच्छाओं, आशाओं के अनुसार कवि की वीणा से नये गीत, नये छन्द, नये राग, नयी रागिनियाँ, नयी कल्पनाएँ फूट पड़ीं।" यह नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा 'प्रसाद' में आनन्दभाव, निराला में अद्वैतभाव, पन्त में आत्मरति और महादेवी में परोक्षरति के रूप में उभर कर आयी। इसी कारण इनकी अभिव्यक्ति-शैली भी भावात्मक, काल्पनिक, कोमल, लाक्षणिक एवं बिम्बात्मक हो गयी है। तभी तो वाजपेयी जी इसकी प्रबल पक्षधरता लेते हुए कहते हैं कि—"इसमें नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी।"

वाजपेयी जी की यह आलोचना-पद्धति इतिहास और मनोविज्ञान पर आधारित है। कामायनी के विषय में लिखते हुए वे कहते हैं कि—"अपनी मर्मग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा मानव प्रकृति का विश्लेषण कर 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' काव्य की रचना की।... मनोविज्ञान में काव्य और काव्य में मनोविज्ञान यहाँ एक साथ मिलते हैं। मानस (मन) का ऐसा विश्लेषण और काव्यगत निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों के बाद हुआ।"

साहित्य के सांस्कृतिक पक्ष को उभारने वाले आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी हैं। उनका यह सांस्कृतिक दृष्टिकोण 'विचार और वितर्क' तथा 'अशोक के फूल' जैसे निबन्ध-संग्रहों में स्पष्ट मिलता है।

छायावादी आलोचना की विकासयात्रा में एक लहर जो अपने आप आकर जुड़ गयी है वह है, प्रभाववादी समीक्षा। छायावादी कवियों की भावना का प्रभाव लेकर चलनेवाली इस समीक्षा में काव्यविषय के प्रति सहृदय की मार्मिक प्रतिक्रिया लक्षित होती है। इस समीक्षा में आलोचना स्वतः रचना बन जाती है और कभी-कभी आलोचक आलोच्य विषय से ही दूर हो जाता है। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि रचना बनाम आलोचना जैसे आन्दोलन की जन्मदात्री प्रभाववादी समीक्षा ही है। शान्तिप्रिय द्विवेदी की आलोचना प्रायः प्रभाववादी ढंग की ही है। पं॰ भगवतशरण उपाध्याय ने गुरुभक्त सिंह की कृति 'नूरजहाँ' की आलोचना इसी पद्धति पर की है। उन्होंने स्वीकार किया है कि "नूरजहाँ के अध्ययन का मेरे ऊपर बड़ा मार्मिक प्रभाव पड़ा। फलतः कुछ अनुकूल अन्तर्ग्रन्थियाँ खुल पड़ीं। मैं एक बात को स्पष्टतया कह देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत प्रयास आलोचक का नहीं प्रत्युत सहानुभवी और समानधर्मा का है। मैं प्रभाववादी हूँ, जब अनुकूल प्रभाव का स्पर्श होता है प्रभाववादी चुप नहीं बैठ सकता।" ज़ाहिर है कि अनुकूल प्रभाव की समीक्षा जोड़ेगी और प्रतिकूल प्रभाव की समीक्षा कृति का गला ही घोंट देगी, और ऐसे तो व्यक्ति के मनोनुकूल होना ही कवि का लक्ष्य होगा। सम्भवतः

इसी संकट को लक्ष्य करके आचार्य शुक्ल ने 'इतिहास' में लिखा है कि—"इस प्रकार की समीक्षा में कवि ने क्या कहा है, उसका ठीक भाव या आशय क्या है, यह समझने या समझाने की आवश्यकता नहीं, आवश्यक इतना ही है कि उसकी किसी रचना का जिसके हृदय पर जो भी प्रभाव पड़े उसका वह सुन्दरता और अनूठेपन के साथ वर्णन कर दे। कोई यह नहीं पूछ सकता कि कवि का भाव तो कुछ और है, उसका यह प्रभाव कैसे पड़ सकता है। इस प्रकार की समीक्षा के चलन ने अध्ययन, चिन्तन और प्रकृत समीक्षा का रास्ता ही छेंक लिया। दरअसल, प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक ठिकाने की वस्तु नहीं।"

छायावाद युगीन कुछ अन्य आलोचकों में भी इस शैली की झलक कहीं-कहीं मिल ही जाती है। परिणामतः छायावादी कवि कल्पनालोक में विचरण करते-करते जिन्दगी की सचाई से बहुत दूर होता गया। स्वप्नलोक का मोहक क्षण बहुत देर तक टिक नहीं सकता था और इलाचन्द्र जोशी जैसा आलोचक महसूस करने लगा कि—"छायावादी कवियों ने हमें क्या दिया ? केवल अपने रुग्ण हृदयों की अलस रसावेशमयी भावनाओं के वासनोद्गारों से सारे साहित्यिक वातावरण को विषमय करने के अतिरिक्त उन्होंने और क्या दिया ?"

सवाल उठते हैं तो उनका जवाब आवश्यक हो जाता है। साहित्य में वादों का एक लम्बा सिलसिला सवालों का जवाब होता है। फिर भी हर सवाल कुछ न कुछ दे ही जाता है। आचार्य शुक्ल द्वारा अभिव्यक्ति की शैली मात्र कहकर नकारने की समस्त सम्भावनाओं से डगमगाते हुए छायावाद को उसके आलोचकों ने ही पुनःस्थापित किया। अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता ने आलोचकों की आँखों पर लगे स्थूलता के चश्मे को उतार फेंकने पर विवश कर दिया।

प्रगतिवादी आलोचना

छायावादियों की अन्तर्मुखता ने प्रगतिवाद को जन्म दिया। छायावादोत्तर काव्य में ही यह अनुभव किया जाने लगा कि छायावादियों का सारा जीवनचक्र उनकी एकान्त स्वार्थमयी भावना के पेट्रोल से चलता आया है। एक बड़ा सवाल मुँह फैलाये खड़ा था—इन आलोचकों के सम्मुख कि आखिर छायावादियों ने हमें दिया क्या ? प्रगतिवादी आन्दोलन के मूल में यही विचारधारा काम कर रही थी। प्रगतिवादी आन्दोलन का आधार मार्क्सवादी जीवनदर्शन है। छायावादियों की कल्पनाशीलता का स्थान वस्तु अथवा पदार्थ ने ले लिया। मार्क्स की दृष्टि में विचार-जगत् भौतिक-जगत् की ही मानसिक प्रतिकृति है। यह जगत् मनुष्य के जन्म से पहले ही अस्तित्त्व ग्रहण कर चुका था। साहित्य कल्पनालोक की उड़ान नहीं बल्कि सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति है। परिणामतः प्रगतिवादी आलोचकों ने व्यक्ति के स्थान पर समाज को अधिक महत्त्व दिया। प्रगतिवादी आलोचकों में शिवदानसिंह चौहान, डा० रामविलास शर्मा, डा०

नामवर सिंह, प्रकाशचन्द्र गुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। लेकिन यदि हम आचर्य रामचन्द्र शुक्ल की उस कसौटी को परखें जिस पर गोस्वामी तुलसीदास ही खरे उतरते हैं तो हम पायेंगे कि वह कसौटी लोकहृदय की पहचान है, यानि कि जन की पक्षधरता जिस काव्य में हो उसे ही महत्त्व दिया जाना अपेक्षित है। शिवदानसिंह चौहान की दृष्टि में प्रगतिवाद साहित्य की धारा न होकर साहित्य का भौतिकवादी दृष्टिकोण है, जो जीवन तथा सामाजिक विकास के वैज्ञानिक साधनों पर आधारित है। इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति में शुक्ल जी का सामाजिक उद्देश्य आदर्शवादी न होकर यथार्थवादी रूप धारण कर लेता है।

मार्क्सवादी की दृष्टि में साहित्य का परम लक्ष्य जीवन का भौतिक विकास है जो समाजमंगल के विशिष्ट स्वरूप से अनुशासित है। उसका साध्य साहित्य की रसानुभूति नहीं है, अपितु मैक्सिम गोर्की के शब्दों में—"समाजवादी यथार्थ की अभिव्यक्ति है।" साहित्य का मूल्यांकन भी सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से करना ही यहाँ अभीष्ट है। साहित्य का जन्म द्वन्द्व से होता है और यह द्वन्द्व पूँजीवादी और सर्वहारा अर्थात् शोषक और शोषित के बीच का है। मार्क्स के अनुसार चूँकि मानव चेतना का नियमन सामाजिक परिस्थितियों द्वारा होता है और कला-चेतना, मानव-चेतना का उदात्त रूप मानी गयी है इसलिए प्रत्येक युग का कलाकार जाने-अनजाने उस वर्ण्य-विशेष का ही प्रतिनिधित्व करता है। कवियों का मूल्यांकन करते समय प्रगतिवादी समीक्षक यही देखता-परखता है कि कविविशेष अपने काव्य में किस वर्गविशेष की हितचिन्ता कर रहा है। अमृतराय ने प्रगतिवादी आलोचना को परिभाषित करते हुए कहा कि—"मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह सामाजशास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील सम्बन्ध का उद्घाटन करती है और सचेत रूप में समाज को बदलनेवाले साहित्य की सृष्टि की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करती है।" यह कहना गलत न होगा कि आलोचना का एक सापेक्ष मूल्य है जिसका आधार जनवाद है। वस्तुपरक कसौटी को आधार बनाकर चलनेवाली आलोचना द्वारा ही सही मूल्यांकन सम्भव होता है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त की आलोचना के मूल में है 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' जो पूर्णतया मार्क्सवादी जीवनदर्शन से प्रभावित है। नामवर सिंह के शब्दों में सामाजिक यथार्थ-दृष्टि प्रगतिवाद की विशेषता है। प्रकाशचन्द्र गुप्त तुलसीदास को मार्क्सवादी दृष्टि से आँकते हुए कहते हैं कि—"तुलसी साहित्य हमारी जनवादी परम्परा का एक छोर है, उसका हृदय है, हम आदर और सम्मान से उस अमूल्य उत्तराधिकार को अपनाते हैं, किन्तु उसके अन्तर्विरोधों का अध्ययन और विश्लेषण भी आवश्यक है नहीं तो हमारी आलोचना एकांगी होगी।"

इसी दृष्टिकोण को लेकर गुप्त ने तुलसी, सूर, कबीर के काव्य में प्रगतिशील और जनवादी तत्त्वों का संग्रह किया है। कबीर के विषय में उन्होंने लिखा कि—"आज का प्रगतिशील लेखक कबीर की निर्भीकता, सामाजिक अन्याय के प्रति उनकी तीव्र विरोध की भावना और उनके स्वर की सहज सचाई और निर्मलता को अपना अमूल्य उत्तराधिकार समझता है। सामाजिक शोषण, अनाचार और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष में आज भी कबीर का काव्य एक तीखा अस्त्र है।" डॉ० रांगेय राघव के विचारों में भी मार्क्सवाद का प्रभाव है, किन्तु आग्रह नहीं है—"आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली" पुस्तक उनके समीक्षक व्यक्तित्व की परिचायक है। डॉ० नामवर सिंह ने साहित्य-चेतना को व्यापक जन-चेतना से सम्बद्ध करके देखा है।

इस आलोचना में रूपतत्त्व को अधिक महत्त्व दिया गया। रूपवैलक्षण्य ही वस्तुतः वस्तु या सामाजिक अर्थवत्ता की पकड़ है। बिम्ब, प्रतीक, शैली ये सारे उपादान वस्तु को ही उद्घाटित करते हैं। "रूपात्मक संघटना में अनेक रिक्तियाँ होती हैं, दरारें होती हैं, मौन होते हैं और अवकाश होते हैं। आलोचक इन रिक्तताओं को उभारता है, दरारों को पाटता है, मौन को शब्द देता है और अवकाश को पूर्ण करता है।"

प्रगतिवादी आलोचना के सन्दर्भ में प्रतिबद्धता जैसा सवाल भी प्रायः उठाया जाता रहा है। प्रगतिवादी शोषित और पीड़ित का पक्षधर है। गोर्की ने जिस 'समाजवादी यथार्थवाद' की घोषणा की थी उसके अनुसार साहित्य को क्रान्तिकारी, पक्षधर, आशावादी तथा भविष्योन्मुखी होना चाहिए।

यह सच है कि साहित्य में पक्षधर रचनाएँ उच्चकोटि की नहीं मानी जाती हैं लेकिन कला के प्रति प्रतिबद्धता उन्हें पुनः 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त की ओर उन्मुख कर देती है।

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र साहित्य के सामाजिक पक्ष या शोषित की पक्षधरता को लेकर चलता है। सर्जना के बाद साहित्य एक ठोस वस्तु हो जाता है। इसीलिए कला वस्तुनिष्ठ मानी जाती है। मार्क्सवादी साहित्य और कला की वस्तुनिष्ठ सत्ता मानता है। सौन्दर्य शब्द ही सुन्दर वस्तु की बाह्य विशेषताओं का संकेत करता प्रतीत होता है। साहित्य की सौन्दर्यानुभूति रमणीयता के आगे भावों को भी समेटती चलती है। सौन्दर्य का स्पर्श जीवनानुभव को और भी रमणीय बना देता है।

इतना तो सर्वमान्य सत्य है कि प्रगतिवादी या मार्क्सवादी समीक्षासिद्धान्तों को भले ही राजनैतिक कहकर उपेक्षित किया जाये, किन्तु छायावाद के कुहासे को छोड़ कर हिन्दी काव्य-चेतना को समाजोन्मुखी बनाने में प्रगतिवादी आलोचना का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

मार्क्सवादी समीक्षा ने हिन्दी समीक्षक को व्यक्तिनिष्ठता, भाववादिता, जड़ता से मुक्त किया है और उसके स्थान पर स्वस्थ वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठ तथा जनकल्याणकारी ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति को प्रतिष्ठित किया है।

मनोवैज्ञानिक आलोचना

मनोवैज्ञानिक आलोचना के मूल में वैयक्तिक चिन्तन है। जैसे मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति का आधार सामाजिक यथार्थ है, वैसे ही मनोवैज्ञानिक आलोचना का आधार वैयक्तिक यथार्थ है।

इस आलोचना-पद्धति पर तीन पाश्चात्य मानसशास्त्रियों का स्पष्ट प्रभाव है। फ्रायड की पद्धति को मनोविश्लेषण, एडलर की पद्धति को वैयक्तिक मनोविज्ञान तथा युंग की पद्धति को विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान की संज्ञा दी जाती है। फ्रायड के मत में साहित्य दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति का उत्कृष्ट साधन है। कला और साहित्य के माध्यम से इन वासनाओं की अभिव्यक्ति सुन्दरतम रूप में होती है, क्योंकि यहाँ इनका उदात्तीकरण हो जाता है। कलाकार अन्तर्मुखी होता है और यथार्थ जगत् में जब उसकी प्रेम, यश, धन, शक्ति सम्बन्धी एषणाएँ पूर्ण नहीं हो पातीं तो वह अपनी वासनाओं की तुष्टि कल्पनालोक में करने लगता है। जबकि एडलर के मत में जीवन की प्रेरक शक्ति मानव की प्रभुत्व-भावना अथवा अधिकार-भावना में उपलब्ध होती है। जीवन में इसका अभाव मानव को हीन ग्रन्थि से ग्रस्त कर देता है और यही हीनताजन्य अभाव की पूर्ति की कामना उसके जीवन की प्रेरक शक्ति बन जाती है। यह पूर्ति और अभाव की पूर्ति स्वप्न, कला, साहित्य आदि में होती है। युंग जीवनेच्छा को, जीवित तथा अमर रहने की आकांक्षा को, जीवन को प्रेरित करनेवाली मूल शक्ति मानते हैं। साहित्य-सृजन के क्षेत्र में अन्तर्मुखी साहित्यकार व्यक्तिप्रधान रचना करता है।

मनोवैज्ञानिक आलोचक कवि के जीवनक्रम और स्वभाव आदि के अध्ययन द्वारा उसकी अन्तर्वृत्तियों का सूक्ष्म अनुसंधान करता है। दरअसल, इस पद्धति के अनुसार कृति का अध्ययन सुचारु रूप से तभी हो सकता है जब लेखक के व्यक्तित्व के विषय में जानकारी हो। निराला के अपराजेय व्यक्तित्व को समझे बिना हम उनके राम की शक्ति नहीं पहचान पायेंगे क्योंकि मनोवैज्ञानिक विचारकों की मान्यता रही है कि लेखक के जीवन और रचना का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध होता है। कुछ आलोचकों ने तो यहाँ तक कह दिया कि समस्त कला एक प्रकार की आत्मकथा ही होती है।

योरप के विद्वान् सेंट बफ़ ने स्पष्ट कहा है कि आलोचक का पहला कर्त्तव्य है कि वह लेखक के जीवनचरित का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करे, वह उसके व्यक्तित्व

के विषय में विविध स्रोतों से जानकारी प्राप्त करे। वफ़ की मान्यता है कि प्रत्येक लेखक की दो-एक रचनाएँ ऐसी होती हैं जिनमें उसकी प्रेरणा का केन्द्र रहता है। यह प्रेरणाकेन्द्र वह गर्भाशय है जिसमें लेखक के अपने रूप का निर्माण होता है। आलोचक में वैज्ञानिक गुण का होना वफ़ की दृष्टि में आवश्यक है लेकिन यहाँ एक बात वह भूल जाते हैं कि व्यक्ति की ज़िन्दगी लेबोरेटरी का उपकरण नहीं है जहाँ सूत्रों को विश्लेषित कर दिया जाये। ज़िन्दगी में तमाम तत्त्व ऐसे भी हैं जो विश्लेषण से परे हैं, दूसरे शब्दों में विज्ञान से परे हैं; फिर विश्लेषण से व्यक्तित्व का अध्ययन तो हो जाता है लेकिन कृतियों की सफल व्याख्या यहाँ असंभव है।

अन्तर्वृत्तियों के सूक्ष्म अनुसंधान की प्रवृत्ति हिन्दी आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना से ही दिखायी देती है। सूर, तुलसी,जायसी की कविता को समझने में मनोवैज्ञानिक पद्धति का भी आधार शुक्ल जी ने लिया है। इलाचन्द्र जोशी,अज्ञेय, डॉ० नगेन्द्र आदि ने इसका खूब प्रयोग किया है। इलाचन्द्र जोशी इसमें अग्रगण्य हैं। साहित्य-सर्जना में उन्होंने इस पद्धति को प्रतिष्ठित किया जिसका विकास विवेचना, विश्लेषण आदि कृतियों में देखा जा सकता है। इलाचन्द्र जोशी की मान्यता है कि—"भक्ति साहित्य दमित कामकुण्ठा का परिणाम है। छायावादी भी अपनी यौनभावना को ही शालीन शब्दों में व्यक्त करते हैं।" डा० नगेन्द्र रसवादी होते हुए भी मनोविज्ञान को मान्यता देते हैं क्योंकि रस का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। अज्ञेय, उद्बुद्ध व्यक्ति तथा उसके सामाजिक परिवेश में निरन्तर संघर्ष के तत्त्व को मान्यता देते हैं। उनके मत में अतृप्ति ही साहित्य की प्रेरणा का स्रोत है। व्यक्ति एक सीमा तक स्वयं को समाज के अनुकूल गढ़ता है तथा समाज से कुछ अपेक्षा करता है लेकिन अपने अनुपयोगी हो जाने से उसका आहत व्यक्तित्व विद्रोह कर उठता है। कलाकार की ओर से जब यह विद्रोह होता है तब वह कलात्मक सृष्टि के रूप में होता है और यही कारण है कि प्रयोग-वादी कविता का मुख विषय मनोविश्लेषण के प्रभाववश अवचेतन का अध्ययन है। डा० नगेन्द्र के विचार इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं कि—"छायावाद का कवि जहाँ अनजाने ही अपनी कुण्ठाओं को काम प्रतीकों द्वारा (प्रधानतः प्रकृति प्रतीकों द्वारा) सहज रूप में व्यक्त करता था, वहाँ प्रयोगवादी कवि के प्रतीक-विधान में अवचेतन विज्ञान का सचेष्ट उपयोग रहता है।"

डा० देवराज की आलोचना में मनोवैज्ञानिक आधार की झलक मिल जाती है। डा० देवराज उपाध्याय ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी कथा-साहित्य की आलोचना की है। 'साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' आपकी महत्त्वपूर्ण कृति है।

मनोवैज्ञानिक आलोचना की कुछ सीमाएँ भी आँकी गयी हैं। जैसे मनोविश्लेषण वादी कला को वैयक्तिक कर्म मानते हैं जबकि आत्माभिव्यक्ति और कलात्मक अभिव्यक्ति

कभी एक नहीं होती। कलाकार हमेशा अपने को ही अभिव्यक्त नहीं करता, जैसा कि बोदुएँ ने कहा है कि—"कलाकार जितने चित्रों का निर्माण करता है उन सबमें वह अपनी ही छवि अंकित करता है।" 'प्रसाद' ने आँसू के कुछ छन्दों में भले ही अपनी वैयक्तिक कामनाओं और भ्रममुक्ति को वस्तुनिष्ठ रूप भले दिया हो, किन्तु उनकी हर रचना इसी भाव को व्यक्त नहीं करती। इसलिए जरूरी नहीं कि रचना के पात्र की मनोग्रंथि वस्तुतः लेखक की मनोग्रंथि हो।

"मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सभी प्रकार की कलाएँ मानव की मनःसृष्टि के परिणाम-स्वरूप उद्भूत अवश्य होती हैं, परन्तु सभी प्रकार की मनःसृष्टियाँ कला का विषय नहीं हुआ करतीं। इसी प्रकार कला को रम्य कल्पना या दिवास्वप्न कहना उचित नहीं। ऐसा मानने पर तो कला यथार्थ से दूर कल्पनालोक की वस्तु बनकर रह जायेगी और उसका प्रधान लक्ष्य मनोरंजन हो जायेगा, जबकि साहित्य-कला का लक्ष्य मात्र मनोरंजन नहीं है। कला अव्यवस्था भी नहीं है क्योंकि कवि का मानसिक संघटन अधिक सजीव और संश्लिष्ट होता है।

मनोवैज्ञानिक आलोचकों की दृष्टि में बिम्बों से ही कविता का अस्तित्व है। वही कविता मूल्यवान है जिसमें अधिक से अधिक समर्थ बिम्ब हों, किन्तु यह दृष्टि भी सर्वमान्य नहीं है। बिंबों की संख्या किसी रचना के मूल्यवान होने की कसौटी नहीं है। बिम्ब-योजना कवि के अन्तःप्रदेश में झाँकने की सुविधा प्रदान करती है लेकिन मनोविज्ञान की सहायता के बिना भी बिम्ब की सार्थकता समझी जा सकती है और कवि के आन्तरिक जीवन से उसका सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। मानवीय मूल्यों की उपेक्षा भी इस आलोचना-पद्धति का एक प्रमुख दोष है। साहित्य-सम्प्रेषण का माध्यम शब्द है और शब्दार्थ-विचार ही आलोचक का प्रमुख कार्य है। भावसौन्दर्य, शब्द-सौन्दर्य, अर्थसौन्दर्य की परीक्षा करनेवाला आलोचक ही रचना का सही मूल्यांकन कर सकता है। मूर्तिकार जैसे निर्जीव पत्थर को सजीव कर देता है, साहित्यकार शब्दों के माध्यम से कथ्य को नयी अर्थवत्ता देता है। सौन्दर्य कला का प्राण है यह आलोचना पद्धति उसे मान्यता नहीं देती।

प्रत्येक आलोचना-पद्धति की कुछ विशेषताएँ हैं तो कुछ दोष भी हैं। मनोवैज्ञानिक आलोचना भी दोषों से मुक्त नहीं है। लेकिन इस पद्धति ने साहित्यिक समालोचना को सहायता अवश्य दी है। इससे कवि के अन्तर्मन को समझने में भी सहायता मिलती है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—"विचार के क्षेत्र में भौतिक बौद्धिक मूल्यों की अधिक विश्वसनीय तथा रोचक ढंग से स्थापना की गयी और जीवन तथा साहित्य के पुनर्मूल्यांकन में सहायता मिली। साहित्यकार के व्यक्तित्व तथा साहित्य

की प्रवृत्तियों के विश्लेषण व्याख्या के लिए नवीन मार्ग खुल गया, जिससे कर्त्ता तथा कृति का मूल सम्बन्ध स्पष्ट करने में बड़ी सुविधा हुई ।"

मनोवैज्ञानिक जीवनदृष्टि में मानसिक विषमताओं में संतुलन, मानसिक उलझनों के रहस्य का उद्घाटन एवं विश्लेषण मानव जीवनको स्वस्थ बनाने की क्षमता रखता है। व्यक्ति के स्वस्थ जीवन के आधार पर ही संस्कृति और समाज का विकास आश्रित है ।

ऐतिहासिक आलोचना

सामाजिक विकास जिस प्रकार ऐतिहासिक ढाँचे का निषेध नहीं कर सकता उसी प्रकार साहित्य और उसकी व्याख्याएँ ऐतिहासिक बोध का निषेध नहीं कर पाती हैं । किसी कृति का मूल्यांकन जब ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिवेश में किया जाता है तब उसे ऐतिहासिक आलोचना कहा जाने लगता है ।

पाश्चात्य आलोचकों में सेंट बफ़ और तेन ने आलोचना को ऐतिहासिक आधार देने पर बल दिया है । बफ़ के अनुसार किसी भी लेखक की कृतियों का अध्ययन करने से पूर्व लेखक के विषय में जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है । जाति, परिस्थिति और युग—ये तीन तत्त्व लेखक का जीवन-निर्माण करते हैं । लेखक का समस्त जीवन, जो उसकी कला में अभिव्यक्त होता है, सामाजिक शक्तियों की उपज है । जाति का तात्पर्य यहाँ जन्मजात प्रवृत्तियों से है इसके साथ कुछ बाह्य परिस्थितियाँ भी होती हैं जो लेखक को प्रभावित करती हैं । किसी लेखक के व्यक्तित्व तथा कलाकृतियों पर उसके युग की अमिट छाप होती है । गोस्वामी तुलसीदास अगर उस युग में उत्पन्न न होकर आज होते तो रामचरित मानस का रूप कुछ दूसरा ही होता । इतिहास-दृष्टि में परम्परागत और सामाजिक, व्यक्तिगत और सामाजिक, शारीरिक और मानसिक तथा निजी और सार्वकालिक पहलुओं के आड़े-तिरछे सम्बन्ध अड़े होते हैं, अर्थात् इतिहास-दृष्टि साहित्यिक अनुभूति को जटिल संस्थान मानती है जिसमें समाज अपनी समस्त सक्रिय शक्तियों के साथ सजीव हो उठता है, और जो साहित्य इसकी गवाही नहीं देता, ऐतिहासिक दृष्टि से उसमें सजीव सौन्दर्य भी नहीं होता है ।

वर्तमान की किसी भी गम्भीर, जटिल और उलझन पूर्ण समस्या का कारण कभी-कभी अतीत की किसी ऐतिहासिक घटना में ढूँढ़ा जा सकता है । अतः युग विशेष के साहित्य को समझने के लिए हमें समूची ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का अनुशीलन करना होगा । पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी, पंडित परशुराम चतुर्वेदी तथा पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र की समीक्षाएँ इसी कोटि की हैं । जयशंकर 'प्रसाद' की 'कामायनी' का मनु वेदकालीन होते हुए भी प्रसादकालीन है । चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, समस्त कृतियाँ अतीत के गौरवपूर्ण इतिहास को आज के परिवेश में जीवन्त

कर देती हैं। जायसी की आलोचना करते हुए आचार्य शुक्ल ने इस पद्धति का उपयोग किया था। आगे चल कर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में इस आलोचना-पद्धति का आदर्श रूप प्रस्तुत किया। पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र की 'भूषण ग्रन्थावली' की भूमिका इस पद्धति का अच्छा उदाहरण है। हिन्दी के अनेक शोध-प्रबन्धों में भी ऐतिहासिक अध्ययन को महत्त्व दिया जा रहा है। मिश्र बन्धुओं ने भी साहित्य की व्याख्या में तत्कालीन परिस्थितियों का ध्यान रखा है।

यह आलोचना वस्तुतः जीवनचरित्र, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र अधिक है, साहित्यालोचन कम। हाँ, काव्यगत भाव और जीवनगत भाव पृथक् नहीं हैं। इसमें एक अंतरंग सम्बन्ध है और इस नाते यह आलोचना साहित्य को समझने का एक आयाम अवश्य बनती है इससे इनकार नहीं किया जा सकता है।

शास्त्रीय आलोचना

हिन्दी आलोचना के इतिहास में छायावादोत्तर काल से लेकर आज तक यह परम्परा विकसित होती रही है। लक्षण-ग्रन्थों की रचना न करके मूल सिद्धान्त-ग्रन्थों का हिन्दी में भाष्य सहित प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत करना इस आलोचना का मुख्य ध्येय रहा है। इस सन्दर्भ में संस्कृत ग्रन्थों—'ध्वन्यालोक', 'काव्यादर्श', 'काव्यालङ्कारसूत्र', 'वक्रोक्तिजीवित', 'काव्यमीमांसा', 'औचित्यविचार चर्चा', 'काव्य-प्रकाश', 'अभिनवभारती' आदि का हिन्दी भाष्य संस्करण, हिन्दी अनुसंधान परिषद् ने प्रकाशित किया। इसी परिषद् ने अरस्तू के 'पोयटिक्स', लांजाइनस के 'दि सब्लाइम' तथा होरेस के 'आर्सपोएटिका' का हिन्दी अनुवाद करके हिन्दी काव्यशास्त्र को समृद्ध किया।

भारतीय एवं पाश्चात्य, दोनों सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए भी सिद्धान्त-ग्रंथों की रचना हुई, जिसमें 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त'—लक्ष्मीनारायण सुधांशु 'समीक्षाशास्त्र'— सीताराम चतुर्वेदी, 'साहित्यशास्त्र'—रामकुमार वर्मा प्रमुख हैं। इसी क्रम में पाश्चात्य काव्यशास्त्र का विवेचन भी हुआ। डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा की पुस्तक 'पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव', डॉ० केसरीनारायण शुक्ल की 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र', डॉ० भगीरथ मिश्र की 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र', डॉ० शिवकुमार मिश्र की 'यथार्थवाद', डॉ० बच्चन सिंह की 'आलोचक और आलोचना' महत्त्वपूर्ण हैं।

आलोचना के विकास में शास्त्रीय आलोचना की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसी का परिणाम है कि साहित्यशास्त्रीय, काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों से व्यक्ति परिचित है। प्राचीन मूल्यों को नवीन मूल्यों से जोड़ने की यह कड़ी बहुत कारगर है।

अनुसंधानपरक आलोचना

इस आलोचना का विकास परोक्ष रूप से साहित्य की हर धारा के साथ होता जाता है। इस आलोचना का स्रोत विश्वविद्यालयों में पी-एच० डी० व डी० लिट्० की उपाधियों हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध हैं। इन आलोचकों में अथवा कहें शोधकर्ताओं में डॉ० श्रीकृष्णलाल, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा तथा डॉ० दीनदयाल गुप्त के नाम प्रमुख हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त की पुस्तक 'तुलसीदास', डॉ० केसरीनारायण शुक्ल की 'आधुनिक काव्यधारा', डॉ० दीनदयाल गुप्त की 'अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय', डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा की 'सूरदास', डॉ० नगेन्द्र की 'रीतिकाल की भूमिका में देव का अध्ययन', डॉ० भगीरथ मिश्र की 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', डॉ० धर्मवीर भारती की 'सिद्ध साहित्य', डॉ० देवराज उपाध्याय की 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान', डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित की "काव्य में रस" आदि महत्त्वपूर्ण शोध कृतियाँ हैं।

जब तक एक आलोचक की दृष्टि नहीं होगी, शोध-प्रबंध नहीं लिखा जा सकेगा। शोधार्थी शोध सामग्री का अनुशीलन करके तत्त्वों, मूल्यों का अन्वेषण करता है। शोधकर्ताओं की बढ़ती हुई भीड़ ने इस प्रवृत्ति को कम अवश्य किया है लेकिन अभी भी 'हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया' (डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव), 'शैली विज्ञान और प्रेमचन्द्र की भाषा' (डॉ० सुरेशकुमार), 'प्रसाद का काव्य' (डॉ० प्रेमशंकर) आदि महत्त्वपूर्ण शोध प्रबंध हैं। निःसंदेह अनुसंधान आलोचना का भविष्य उज्ज्वल है। शोध के नये क्षितिज ही इसका निर्णय करेंगे।

नयी समीक्षा

इतिहास अपने आपको दोहराता है यह कथन आलोचना के क्षेत्र पर भी लागू होता है। छायावाद के अन्तर्मुखी स्वरूप की प्रतिक्रिया के रूप में प्रगतिवाद की बहिर्मुखी काव्य-चेतना का प्रचार हुआ था, ठीक वैसे ही प्रगतिवाद की अतिशय बहिर्मुखता की प्रतिक्रिया के रूप में अतिव्यक्तिवादी काव्यचेतना विकसित हुई। फलतः नयी समीक्षा का उदय हुआ। समस्त प्राचीन सत्यान्वेषणों को अपूर्ण समझकर यह आलोचना नये सत्यान्वेषण के लिए प्रयोग करने में विश्वास रखती है। नयी कविता में जैसे कोई मूल्य शाश्वत बनकर नहीं उभरता, नयी समीक्षा में भी कोई मूल्य शाश्वत नहीं है। जब तक काव्य की अपनी आन्तरिकता उसके अपने नियम गुणवत्ता, बन्ध के प्रति नये प्रयोग होते रहेंगे, नयी समीक्षा प्रामाणिक बनी रहेगी। वस्तुतः प्रयोगवादी अथवा नयी कविता ने ही आलोचना के क्षेत्र में नयी समीक्षा को जन्म दिया है।

सन् १९१० में स्पिगार्न ने 'नयी समीक्षा' शीर्षक अपने भाषण में अकादमीय समीक्षा का विरोध किया तथा रचना के रूपात्मक वैशिष्ट्य को रेखांकित किया। जॉन

क्रवेरेन्सम की पुस्तक नयी समीक्षा 'दि न्यू क्रिटिसिज़्म' १९४१ में प्रकाशित हुई और इसी के साथ नयी समीक्षा नाम रूढ़ हो गया। एज़रा पाउण्ड, टी०एस० ईलियट, एम्पसन, हूल्मे, आइ० ए० रिचर्ड्स आदि की समीक्षात्मक कृतियों में यह समीक्षा पूर्णरूपेण विकसित हुई। एज़रा पाउण्ड का केन्द्रबिन्दु काव्यशास्त्र है। उनके मत में—साहित्य सिर्फ भाषा है जिसमें अर्थवत्ता अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई होती है। इसके अतिरिक्त वह शब्दगत मित कथन, बिम्ब तथा विडम्बना आदि का भी संकेत करता है। ईलियट भी अपने निबन्धों में कविता के भाषिक विश्लेषण पर बल देता है। आलोचक का कार्य भाषिक विवेचन तथा पाठकों की अभिरुचियों का परिष्कार करना है। अज्ञेय ने भी कलाकार का पहला और अन्तिम कार्य कला की समस्याओं से जूझना माना है। आइ० ए० रिचर्ड्स काव्यानुभूति या सौन्दर्यानुभूति के विश्लेषण के लिए सामान्य जीवन के अनुभवों को काम में लाने के पक्षधर हैं।

नयी समीक्षा कृति को स्वनिष्ठ इकाई मानकर चलती है और उसका एकमात्र विवेच्य काव्यगत शब्द हैं। क्लीन्थ ब्रुक्स, आइवर विण्टर, ब्लैकमूर आदि समस्त विद्वान् साहित्य की पड़ताल साहित्य की अपनी शर्तों पर करते हैं। साहित्येतर आयाम इन्हें मान्य नहीं हैं। साहित्य की भाषिक संरचना ही उनके विवेचन का केन्द्रीय बिन्दु है। रैन्सम कविता में टेक्श्चर और स्ट्रक्चर का तनाव देखते हैं, एक तरह का द्वंद्व है इन दोनों के बीच। अलंकार, प्रतीक आदि टेक्श्चर के अन्तर्गत आते हैं। क्लीन्थ ब्रुक्स के मत में काव्यसंरचना का आधार विसंगति और विडम्बना है। कविता मूलतः भाव या अनुभूति है जिसे व्यक्त करने के लिए विशिष्ट भाषा की जरूरत होती है। हमारे संस्कृताचार्यों ने इसे ही 'विशिष्टौ शब्दार्थो काव्यम्' कहा है। सम्पूर्ण अलंकार इसी विशिष्ट की व्याख्या है। हमारे यहाँ का वक्रोक्ति सम्प्रदाय विसंगति, विडम्बना जैसे तत्त्व पर ही आधारित है।

एलन टेट ने कविता में तनाव का सिद्धान्त अपनाया है। विस्तार और घनत्व ये शब्दार्थ के दो तत्त्व हैं, इन दोनों के तनाव से कविता का जन्म होता है। विस्तार अभिधा है जबकि घनत्व लक्षणा-व्यंजना है।

अज्ञेय ने पश्चिम की इस स्वस्थ समीक्षा तकनीक को ग्रहण किया और अपने मौलिक चिन्तन के आधार पर प्रयोगवाद का विकास किया। तार सप्तक, दूसरा सप्तक, तीसरा सप्तक के माध्यम से प्रयोगवादी कविता का काव्यशास्त्र तैयार किया। त्रिशंकु के बहुत से लेख भी इसमें योगदान करते हैं। अज्ञेय ने हिन्दी समीक्षा में व्यक्ति और समवाय के बीच के अन्तः सम्बन्ध को अत्यन्त स्वस्थ धरातल पर प्रस्तुत किया तथा काव्य-भाषा के आत्यन्तिक महत्त्व को पहचाना। उनकी व्यक्ति की परिकल्पना समष्टि

के एक सक्रिय तथा निष्ठावान अंश के रूप में है। उनका व्यक्ति समाज विरोधी नहीं है। इस काव्य-चेतना ने आलोचना के नये प्रतिमान की आवश्यकता का अनुभव कराया है। गिरिजाकुमार माथुर, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० रघुवंश तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इस नयी समीक्षा को पुष्ट किया है। नयी कविता का प्रेरक तत्त्व अस्तित्ववादी दर्शन है। सन् ५० से ७० का दौर हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है। यहाँ एक ओर विजयदेवनारायण साही जैसे समीक्षक हैं जिन्होंने वैयक्तिक मूल्यवत्ता को सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में रखकर साहित्य को एक समग्र सांस्कृतिक चेतना के आधार के रूप में देखा है, वहीं दूसरी ओर डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने काव्य की संवेदना तथा उसकी सर्जनात्मकता को भाषिक संरचना का पर्याय माना है। शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट पर जो गहन विचार साही ने प्रस्तुत किये हैं वह बड़े से बड़े मार्क्सवादी आलोचक भी नहीं प्रस्तुत कर सके थे। इसी प्रकार मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' कविता पर लिखी गयी डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी की समीक्षा भी अत्यन्त गहरी, सहानुभूति पूर्ण और तलस्पर्शिनी है। डॉ० रघुवंश की दृष्टि में भी काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी उसकी काव्यात्मक उपलब्धियाँ थीं, कवि की पक्षधरता जैसा कोई सवाल उनके समक्ष नहीं उपस्थित होता है।

नयी समीक्षा में कविता के कथ्य को केन्द्र में रखकर सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को पूरा महत्त्व देते हुए रचनाकार की मौलिक प्रतिभा और उसकी सर्जनात्मकता का यथोचित मूल्यांकन किया गया। 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' शीर्षक लेख में साही ने अत्यन्त गहराई के साथ उन समूची आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया है जिनके बीच से हिन्दी कविता की धारा जयशंकर 'प्रसाद' से अज्ञेय तक पहुँचती है। कविता और मनुष्य के बीच के सम्बन्ध को अपनी सारी परिवेशगत सच्चाइयों के साथ यहाँ उभारा गया है। इसी प्रकार रामस्वरूप चतुर्वेदी की पुस्तक 'भाषा और संवेदना' में संवेदनात्मक स्तर पर व्यापक मानवीय सृजनशीलता और भाषा का आन्तरिक सम्बन्ध जोड़ा गया है। 'सर्जन और भाषिक संरचना' नामक कृति में चतुर्वेदी ने अनेक महत्त्वपूर्ण और मौलिक स्थापनाएँ की हैं, जैसे—"भाषा की एक विशेषता यह है कि वह सदैव गतिशील रही है। यदि समय कभी नहीं रुकता तो भाषा भी नहीं रुकती, तब क्या हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य भाषा में जीता है; जीने का अनुभव करता है और जब तक और जिस सीमा तक भाषा नहीं बनी थी तब तक और उस सीमा तक मनुष्य पशु ही था।"

कहना न होगा कि कथ्य को काव्य का रूप भाषा से ही मिलता है। यह सभी नये समीक्षक स्वीकार करते हैं कि कविता का पहला सरोकार कविता है। इसी

कारण नयी समीक्षा पर आरोप लगाये गये कि वह रूपवादी है। कला के लिए कला का समर्थन करती है। भाषिक विश्लेषण करके कर्तव्य की इतिश्री समझ लेती है। न तो इसका सरोकार ऐतिहासिकता से है और न ही मूल्यांकन से। यह कविता-कहानी की समीक्षा तक तो ठीक है लेकिन प्रबन्धकाव्य, नाटक तथा उपन्यास के विश्लेषण में असमर्थं है।

यहाँ ध्यातव्य है कि नयी समीक्षा का रूपवाद रूसी रूपवाद कतई नहीं है बल्कि वह काव्य की स्वतन्त्र सत्ता की पक्षधर है और भाषिक संरचना उसका विवेच्य है। कवि जानबूझकर अभिव्यक्ति को पाठक तक नहीं पहुँचाता। यदि रचना सम्प्रेष्य है तो वह सम्प्रेषित होगी ही। धूमिल जैसा कवि जब कहता है कि "कविता एक सार्थक वक्तव्य है" तो वह प्रकारान्तर से सम्प्रेषण की ही चर्चा करता है। लिफाफे में चिट्ठी की तरह काव्यरूप में वस्तु नहीं भरी जाती।

आलोचक का कर्तव्य है कि वह काव्य की रचनात्मक जटिलताओं को काव्यबद्ध जीवनदृष्टि से जोड़े और अपने जीवनानुभव के सन्दर्भ में उसे विश्लेषित करे। कविता का विश्लेषण उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार लेबोरेटरी में रखे रसायन का। जीवनानुभव एक समग्र जीवनदृष्टि है जिसके विविध आयाम हैं, विविध पर्तें हैं। इन संश्लिष्ट अनुभवों के कारण काव्यगत संश्लिष्टता उत्पन्न होती है। हाँ, इस पद्धति पर प्रबन्धकाव्य, उपन्यास या लम्बे नाटक की समीक्षा मुश्किल जरूर है पर असंभव नहीं।

इतना अवश्य है कि नयी समीक्षा ने साहित्य की स्वतन्त्रता और स्वायत्तता पर प्रश्न लगाकर आगे की समीक्षाओं के लिए पृष्ठभूमि तैयार की है। इसके पूर्व कभी कवि की प्रगतिशीलता पर बात हुई, कभी काव्य को शास्त्र की कसौटी पर परखा गया, कभी कवि के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों को सामने लाया गया। कहने का मतलब है कि काव्येतर आयामों को काव्य से बड़ा मूल्य माना गया जबकि नयी समीक्षा काव्येतर अनुशासनों से मुक्त होने का प्रयास है।

आठवें दशक की आलोचना

इधर आठवें दशक की हिन्दी समालोचना में प्रमुख रूप से तीन धाराएँ उभरती हैं। पहली धारा डॉ० नामवर सिंह की परम्परा का विकास है जिसमें नन्दकिशोर नवल की पुस्तक 'हिन्दी आलोचना का विकास' उल्लेखनीय है। इसमें लेखक ने अपने मार्क्सवादी आग्रहों को नियन्त्रण में रखते हुए साहित्य के मूल्यांकन की प्रक्रिया में साहित्यिकता तक पहुँचने का यत्न किया है। डॉ० कर्णसिंह चौहान, मैनेजर पाण्डेय, डॉ० शिवकुमार मिश्र भी इसी धारा के समालोचक हैं।

दूसरा वर्ग ऐसे समीक्षकों का है जिसे व्यक्ति की अस्मिता, सर्जनशीलता और उसकी सम्भावनाओं में समाज की अस्मिता, सर्जनशीलता और सम्भावना दिखाई देती

है। डॉ० विद्यानिवास मिश्र, डॉ० विश्वनाथप्रसाद तिवारी, डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय तथा डॉ० चन्द्रकान्त वांदिवडेकर ऐसे ही आलोचक हैं। तीसरे वर्ग के परीक्षक कविता की गहराई में उतर कर उसके आन्तरिक सौन्दर्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं। मलयज के शब्दों में—"कविता से साक्षात्कार करते हैं और उस आस्वादन प्रक्रिया में उन्हें बहुत से सूत्र हाथ लगते हैं, जिन्हें वे अपनी समीक्षाओं में प्रस्तुत करते हैं।" इस वर्ग के अन्तर्गत मलयज की 'कविता से साक्षात्कार', अजीत कुमार की 'कविता की यात्रा', डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव की 'समकालीन कविता का व्याकरण' जैसी पुस्तकों के नाम लिए जा सकते हैं। इस समीक्षा के सम्बन्ध में मलयज के विचार महत्त्वपूर्ण हैं कि—"कविता मेरे लिए अपने अनुभव को महसूस करने और उसे रचने का नाम है और आलोचना इस कविता के कवि को खोजने का। कविता अपने से बाहर दूसरों से जुड़ने का एक माध्यम है, आलोचना इस जोड़ने को सम्भव बनाने का एक साधन। मैं कविता में जो रचता हूँ, आलोचना में उसी को पहचानता हूँ, कविता में जिसे टटोलता हूँ, आलोचना में उसे ही पाता हूँ। कविता मेरे लिए एक आत्मसाक्षात्कार है और आलोचना उसी कविता से साक्षात्कार।" डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र की समीक्षा भी पैनी दृष्टि, गहन और विस्तृत अध्ययन तथा महत्त्वपूर्ण सम्भावनाओं से युक्त है। विजयदेवनारायण साही की 'अलविदा' शीर्षक लम्बी कविता की समीक्षा भी डॉ० मिश्र ने इस दृष्टि से की है।

आठवें दशक में समीक्षा स्खलन, पराभव, टूटते जीवनमूल्यों के बीच जन्म लेती है। इस दशक में आलोचना में सर्जनात्मकता की प्रवृत्ति प्रमुख हो गयी है और इसी अर्थ में आलोचना को भी रचना का दर्जा दिया गया है। जहाँ कृति में लेखक का परिवेशगत अनुभव तथा अभिव्यक्ति का द्वन्द्व मौजूद रहता है वहाँ आलोचना रचनागत वस्तु तथा शिल्प को साहित्य परम्परा तथा समकालीन परिप्रेक्ष्य में देखती परखती है। रचना का जटिलतर होता संसार मूल्यांकन के लिए भी पुराने प्रतिमानों को नाकाफ़ी मानता हुआ गम्भीरता, तैयारी तथा समझदारी की माँग करता है। आठवें दशक में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक समीक्षाओं ने आलोचना को एक आधार दिया है—'पहल', 'प्रतिमान', 'आलोचना', 'संचेतना', 'कथा', 'समीक्षा', 'दीर्घा', 'आजकल', 'पूर्वग्रह', 'अभिरुचि', 'दिनमान', 'सारिका', 'नटरंग', 'दस्तावेज', जैसी पत्रिकाओं में कविता, कहानी, नाटक आदि समस्त विधाओं पर विविध दृष्टियों से विचार किया गया है। यहाँ एक अन्तिम निर्णय नहीं मिलता, अपितु संभावनाओं की तलाश जरूर मिलती है। इस दशक की समीक्षा व्याख्या नहीं करती, कृति की समग्र पड़ताल करके रचना और रचनाकार की सीमाओं को भी संकेतित करती है।

आठवें दशक में कथा-साहित्य की समीक्षा में स्तुति-वन्दना, अभिनन्दन के स्वर अधिक मुखरित हैं। विवेकहीन प्रशंसा घूम फिर कर प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा से आगे नहीं बढ़ सकी है। हाँ, मनोहरश्याम जोशी के 'कुरु कुरु स्वाहा' पर कृष्णा सोवती की, ममता कालिया के 'बेघर' उपन्यास पर डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव की, भीष्म साहनी के 'तमस' पर कर्णसिंह चौहान की, रमेशचन्द्र शाह के 'गोबर गणेश' पर नेमिचन्द जैन, मन्नू भंडारी के "महाभोज" पर श्रीलाल शुक्ल, कृष्णा सोवती के 'जिन्दगी नामा' पर भीष्म साहनी की समीक्षाएँ कृति के मर्म को खोलती हैं। विजयमोहन सिंह, सुधीश पचौरी, मधुरेश, अर्चना वर्मा की समीक्षाएँ भी कहानियों को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करती हैं।

नाटक पर भी गंभीर समीक्षाएँ बहुत अधिक नहीं मिलती हैं क्योंकि नाटय-समीक्षक के लिए शास्त्रीय-दृष्टि के स्थान पर रंग-दृष्टि की सम्पन्नता अधिक महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से सिद्धनाथ कुमार, डॉ० श्रीमती गिरीश रस्तोगी, जयदेव तनेजा जैसे समीक्षक ही सक्रिय दिखाई देते हैं और समीक्षा, नटरंग, प्रकर में कुछ एक समीक्षक ही दिखाई देते हैं।

आठवें दशक में काव्य समीक्षा अन्य विधाओं से अपेक्षाकृत आगे हैं। यही कारण है कि इसकी अनेक शाखायें-प्रशाखायें उभर कर सामने आयी हैं। एक तथ्य अवश्य सर्वसम्मति से उभर कर आया कि समीक्षा-कृति केन्द्रित हो गयी। कविता में कवितापन, नाटक में नाटकीयता और कहानी में कहानीपन को आवश्यक ठहराया जाने लगा। दूसरी विशेषता कि रचना का महत्त्वपूर्ण उपादान भाषा को स्वीकार किया गया। वस्तुतः सर्जनात्मक भाषा ही रचना के विश्लेषण का हथियार बन सकती है और यही कारण है कि मिथकीय आलोचना, शैलीवैज्ञानिक आलोचना एक समग्र आलोचना दृष्टि बनकर हिन्दी समालोचना में उपस्थित हुई।

मिथकीय आलोचना

आठवें दशक की आलोचना में मिथकों के प्रति आग्रह दिखाई देता है। डॉ० नगेन्द्र, भगवतशरण उपाध्याय, रमेशकुन्तल मेघ आदि ने मिथक, मिथकीय आलोचना के स्वरूप को लेकर सैद्धान्तिक विवेचन किया है। अंग्रेजी शब्द 'मिथ' के पर्याय रूप में हिन्दी में मिथक शब्द रूढ़ हो गया है यद्यपि भगवतशरण उपाध्याय ने इसके लिए 'पुराण' शब्द का उल्लेख किया, डॉ० नगेन्द्र ने 'पुनराख्यान' शब्द का तथा रामस्वार्थ सिंह ने 'पुरावृत्त' शब्द को गढ़ा किन्तु अन्ततः ये सभी मिथक को ही समर्थन देते हैं।

मिथक की सैद्धान्तिक व्याख्या में कार्ल युंग की अवधारणा को ही विशेष महत्त्व दिया गया। युंग के अनुसार—"विभिन्न आद्यप्रारूप हमारे सामूहिक अचेतन में बसते हैं और उसी के इर्द-गिर्द मिथकीय कथा बुन ली जाती है।" इसी विचारधारा को

स्वीकारते हुए डॉ० नगेन्द्र ने कहा कि आदिम युग से वर्तमान युग तक सम्पूर्ण मानव समाज के संचित संस्कार सामूहिक अचेतन में बिम्बरूप में विद्यमान रहते हैं, ये ही आद्यबिम्ब हैं। सामूहिक अचेतन ही मिथकों की सृष्टि कर सकता है। अज्ञेय कैसिरर के अनुसार मिथक को तर्क बुद्धि से पुराना मानते हैं और प्राक्तन तर्क के रूप में स्वीकारते हैं, जबकि रमेशकुन्तल मेघ का कहना है कि—"मिथकीय चिन्तन तर्कपूर्ण चिन्तन है। मिथक आदि भाषा तथा रूपकात्मक भाषा के मिथ धुंध में झिलमिलाता कँपकँपाता रहता है।" डॉ० रमेशकुन्तल मेघ मिथकीय आलोचना के सशक्त हस्ताक्षर हैं।

भारतीय परम्परा में मूल मिथकीय काव्य की रचना ऋषिदृष्टि से मानी जाती थी और इसीलिए ऋषियों को मन्त्र का द्रष्टा कहा जाता था (ऋषयोः मन्त्रद्रष्टारः), क्योंकि वहाँ अचेतन, चेतन एवं पराचेतन एक हो जाते हैं, बाह्य और अन्तर का भेद नहीं रह जाता। जीवन के विविध स्तर की समाप्ति में एक मात्र सत्यदृष्टि बच जाती है जिसके मूल में सत्यात्मक मिथक का जन्म होता है।

मिथककार कवि होता है पर जरूरी नहीं कि कवि हमेशा मिथककार हो। इसीलिए दूसरे कवि पुराने मिथकों से नये काव्यप्रारूप बनाते हैं। मिथक का मूलस्रोत व्यक्तिगत कवियों के चेतन आविष्कार से अलग पराचेतन में विद्यमान रहता है। मिथकीय आद्य प्रतीक हमारे अचेतन के गहरे तार को छेड़ता है और अर्थ स्पष्ट हो उठता है। दरअसल, जिस अर्थ को अचेतन माध्यम से अभिव्यक्ति मिलती है वह अर्थ विश्व एवं मानव जीवन की अंतःप्रकृति से सम्बद्ध होता है।

मिथक ब्रह्माण्ड में मनुष्य की सत्ता की दार्शनिक जिज्ञासाएँ भी हैं जो कला और अति प्राकृतिकता, धर्म तथा कर्मकाण्ड से अवगुंठित है। यह शाश्वत मानस के दर्पण हैं। मिथकीय नायक शाश्वत मानस की अभिलाषाओं के सूचक होते हैं। वे हज़ार जिह्वाओं द्वारा नैतिक मन की संतुष्टि करते हैं तथा किसी घटना में पूरे समाज के सहकर्म को लक्षित करते हैं और तदनन्तर सामूहिक श्रम-संघर्ष और निर्माण की अवस्थाओं को व्यक्त करते हैं।

मिथकीय आलोचना में अधिकांश आलोचकों ने कृति के मिथकीय अभिकल्प से जुड़ी समस्याओं को वर्तमान युग पर प्रक्षेपित करके समसामयिक समस्याओं को एक व्यापक धरातल पर आँकने की कोशिश की है। पौराणिक मिथकों की नवीन व्याख्या को आज के सन्दर्भ से जोड़कर उसकी सार्थकता को विश्लेषित किया है। जगदीश चतुर्वेदी के 'सूर्यपुत्र' के कर्ण के व्यक्तित्व में आज के मनुष्य की विसंगति और द्वंद्व का चित्रण वीरेन्द्र सिंह ने किया है। इसी प्रकार विनय की कृति 'एक पुरुष और' में विश्वामित्र-मेनका के प्रणय मिथक को आज के संघर्षशील व्यक्तित्व के अस्तित्व की सार्थकता तथा विडम्बना को मूल्यों के बिखराव से जोड़कर एक सार्थक सन्दर्भ दिया गया है। 'निराला

के काव्य में मिथकीय योजना' पुस्तक में डॉ० रामप्रीत उपाध्याय ने कहा है कि—"निराला ने शाश्वत समय के साथ समकालीन सत्य को जोड़ने के लिए और प्राचीन संस्कारों को नवीन मान्यता प्रदान करने के लिए विभिन्न प्रकार के मिथकों का सफल प्रयोग किया है।" इसीप्रकार 'संशय की रात' में राम के संशय को डॉ० रामनाथ तिवारी ने आधुनिक मनुष्य द्वारा सभ्यता के मूल्यों के प्रति संशय बताया है।

आधुनिक कविता में मिथकों का प्रयोग मिथकीय प्रतीकों के रूप में काफी हुआ है जिसमें नवीन अर्थवत्ता मिलती है। मिथकीय आलोचना के लिए ज़रूरी है कि वह सर्वप्रथम साहित्य में स्थानान्तरित मिथक के इर्द-गिर्द बुने गये सांस्कृतिक पैटर्न की खोज करे और इन सांस्कृतिक पैटर्न के सर्जक आद्यबिम्बों का विश्लेषण करे। इसके लिए मिथकीय काल से यात्रा शुरू करके ऐतिहासिक काव्य के बीच से गुजरते हुए आधुनिक काल तक पहुँचकर मिथको के नवोन्मेष का विश्लेषण करना होगा।

ज़ाहिर है कि मिथकीय आलोचना हमेशा एक निर्दिष्ट मिथक तक नहीं पहुँचती। हिन्दी में 'मुक्तिबोध' मिथ-गढ़नेवाले रचनाकार हैं। इनकी कविता में चाहे 'ब्रह्मराक्षस' हो, चाहे 'चंबल की घाटी' में या फिर 'अँधेरे में'; सभी में ऐसे बिम्ब प्रतीकों का प्रयोग हुआ है कि वे छोटे-छोटे टुकड़ों तथा सम्पूर्णताओं में मिथकीय काव्यसृष्टि करते हैं। काव्य में फेण्टेसी के तत्व ने मिथकों के निर्माण में सहायता दी है।

मिथकीय आलोचना किसी साहित्यिक कृति को आधार बनाकर उसमें छिपे हुए मिथकीय अभिकल्पों की खोज के रूप में विकसित हुई है। इन्द्रनाथ चौधरी ने 'प्रेमचन्द और लोकचेतना का मिथक' में प्रेमचन्द के उपन्यासों के प्रच्छन्न मिथकीय अभिकल्पों का विवेचन किया है। यह आलोचना भी साहित्य की स्वायत्तता का पक्ष लेती है, किन्तु आलोचक को अपनी बुद्धि के चौखटे में बँधे रहने को नहीं कहती वरन् यथार्थ के प्रति दृष्टि का विस्तार करती है।

मिथकीय आलोचना पर आरोप लगाया जाता है कि यह आलोचना-दृष्टि का प्रसार करती है। वस्तुतः यह आलोचना वादमुक्त आलोचना है। इसी आधार पर यह बहुआयामी, मनोवैज्ञानिक, आलंकारिक, समाजशास्त्रीय तथा शब्दार्थविषयक बन जाती है। यह आलोचना साहित्येतर ज्ञान को भी स्वीकार करती है। मिथकों का रचना-संसार अ-यथार्थ होता है, इसीलिए आलोचना भी अ-यथार्थ तथा भ्रममूलक होती है, किन्तु इतना सत्य है कि अ-यथार्थ काव्यगत यथार्थ बनता है। मिथक का यथार्थ आद्य-प्ररूपात्मक है जो हमारी दृष्टि में भले ही आदर्श हो वस्तुतः वह यथार्थ के विपरीत नहीं होता। कुल मिलाकर यह आलोचना नयी समीक्षा की अव्याप्ति और शास्त्रीय समीक्षा की

साहित्येतर व्याप्ति में सन्तुलन कायम करती है। यही इस आलोचना की उपादेयता है।

शैलीवैज्ञानिक आलोचना

नयी समीक्षा की यह मान्यता कि कृति स्वतंत्र और स्वायन्त सत्ता है तथा वह भाषिक संरचना है, शैलीवैज्ञानिक समीक्षा की भूमिका है। शैलीविज्ञान वस्तुतः साहित्य का विज्ञान है और साहित्य के दर्शन तक पहुँचने का एकमात्र मार्ग है। किसी साहित्यक कृति की आन्तरिक सत्ता का विश्लेषण शैलीविज्ञान का चरम लक्ष्य है। फिर भी हिन्दी समीक्षा में प्रचलित शैलीविज्ञान की सिद्धान्त-संहिता को निश्चयात्मक रूप अभी नहीं मिल पाया है—"शैलीविज्ञान साहित्य का अध्ययन है", "शैलीविज्ञान साहित्यिक भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन है।" "शैलीविज्ञान साहित्य का विज्ञान है", "शैलीविज्ञान भाषा विज्ञान की वह शाखा है जिसका क्षेत्र है साहित्य", या फिर "शैलीविज्ञान समीक्षा का वह नवीन आयाम है जो साहित्य का अध्ययन भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों और प्रविधि के आधार पर करता है।" कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें शैलीविज्ञान की कोई परिभाषा अपने आप में पूर्ण नहीं है। उसका कारण यही है कि पाश्चात्य देशों ने शैलीविज्ञान को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। योरोपीय शैलीविज्ञान, साहित्यिक विद्वान् एवं भाषाशास्त्री का मिलनस्थल रहा है। रोमान्स शैलीविज्ञान में सौन्दर्यशास्त्र के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव रहा है। अमरीकी दृष्टि के अनुसार साहित्य-केन्द्रित अध्ययन ही वस्तुतः शैलीवैज्ञानिक अध्ययन है जो सामान्य सम्प्रेषण के स्तर पर शैली से सम्बन्धित है। रूसी-चेकधारा में यह रूसी रूपवाद और चेक संरचनावाद के रूप में प्रतिष्ठित है। चेक विद्वान् शैलीविज्ञान सम्बन्धी चिन्तन में संरचनावादी तथा सामान्य प्रतीकवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, जबकि फ्रान्सीसी शैली-विज्ञान के प्रवर्तक चार्ल्सबाली ने शैलीविज्ञान का प्रवर्त्तन भाषा अध्ययन के उपक्रम में ही किया था। सम्प्रति शैलीविज्ञान फ्रांस में प्रतीकविज्ञान, पाठगत प्रतीकविज्ञान, साहित्यिक प्रतीकविज्ञान, नवसंरचनावाद व काव्यशास्त्र, इन सभी सममूल्यों की धारा के साथ चल रहा है। फ्रांसीसी शैलीवैज्ञानिक, साहित्यिक कृति को "शैलीबद्ध अभि-व्यक्तियों की समष्टि" के रूप में स्वीकारते हैं। जर्मन शैलीविज्ञान व्यक्तिगत लेखकों की शैली के अध्ययन पर आधारित है। स्पेनी शैलीविज्ञान साहित्य का विज्ञान है।

डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव शैलीविज्ञान के सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों रूपों को लेकर चलते हैं। उनकी दृष्टि में—"शैलीविज्ञान साहित्यिक आलोचना का सिद्धान्त भी है और प्रणाली भी। सिद्धान्त के रूप में इसकी दृष्टि भाषावादी है। भाषावादी सिद्धान्त के रूप में उसकी यह प्रमुख मान्यता है कि साहित्य 'शाब्दिक कला' है और कृति के रूप में साहित्यिक रचना, भाषा की अपनी सीमा में बँधी एक स्वनिष्ठ इकाई है। साहित्यिक कृति भाषा को न केवल अभिव्यक्ति का माध्यम बनाती है

अपितु स्वयं भाषा के भीतर ही जन्म धारण करती है।" कविता का क्षेत्र वस्तुतः कविता ही है जो स्वयं में ठोस और यथार्थ है और जिसका अपना पूरा संसार भाषा-शैली की सीमा में आबद्ध है।

भाषिकी का अतिक्रमण करनेवाली आलोचना कभी भी सही मूल्यांकन नहीं कर सकी और इसीलिए सुखबीर सिंह स्वीकारते हैं कि—"शैलीविज्ञान उस वैज्ञानिक सिद्धान्त एवं प्रणाली की माँग करता है जिससे साहित्य के सन्दर्भ में भाषा की प्रकृति एवं संरचना को स्पष्ट करने की क्षमता है।"

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा के डॉ० सुरेशकुमार शैलीविज्ञान की अवधारणा को न तो भारतीय रीतिसिद्धान्त का पर्याय मानते हैं और न ही उसे पाश्चात्य से जोड़ते हैं। शैली की संकल्पना उनकी दृष्टि में वर्णनात्मक है—"शैलीविज्ञान उस सम्बन्ध का अध्ययन करता है जो एक पाठ की सीमा के भीतर भाषा की विभिन्न इकाइयों और पाठ के सम्पूर्ण अर्थ के बीच अव्यक्त रूप से विद्यमान होता है।"

डॉ० बच्चन सिंह का यह कथन अनौचित्यपूर्ण है कि—"शैलीविज्ञान व्याकरणिक संरचना के आगे साहित्य के अन्य महत्वपूर्ण अंगों का विवेचन नहीं करता।" रुपिम, स्वनिम, वाक्य वर्गीकरण, अलंकार, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, वचन, लिंग आदि गिना देना ही शैलीविज्ञान परक विश्लेषण नहीं है। यह समीक्षा कृति के टेक्श्चर (गठन) और संघटन से सम्पृक्त है। बल्कि यह कहना ज्यादा समीचीन होगा कि शैलीवैज्ञानिक समीक्षा पूर्णतः संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) है। संरचनात्मक शैलीविज्ञान में डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव शैलीविज्ञान को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि—"शैलीविज्ञान भी साहित्य को समझने-समझाने की एक दृष्टि है जो शैली के साक्ष्य पर एक ओर साहित्यिक कृति की संरचना और गठन पर प्रकाश डालती है और दूसरी ओर कृति का विश्लेषण करते हुए उसमें अन्तर्निहित 'साहित्यिकता' का उद्घाटन करती है।"

काव्यभाषा का अध्ययन करने के लिए भाषाविज्ञान को नये ढंग से प्रयोग में लाना होगा। इसके अभाव में शब्द का सौन्दर्य अनछुआ रह जायेगा और कविता की यह शवपरीक्षा उबाऊ और नीरस हो जायेगी। इस अर्थ में शैलीविज्ञान को हम भाषाविज्ञान का ही एक व्यावहारिक प्रयोग भी मान सकते हैं, जैसा कि डॉ० सत्यदेव चौधरी ने माना है कि—"शैलीविज्ञान शब्द से यहाँ हमारा अभिप्राय है वह विज्ञान या शास्त्र जिसमें किसी काव्य की परख उसकी भाषा के विभिन्न अवयवों को लक्ष्य में रखकर ही की जाती है।"

शैलीविज्ञान के तीन आयाम हैं—साहित्यिक शैलीविज्ञान, व्यतिरेकात्मक शैलीविज्ञान तथा रूपान्तर व्याकरण शैलीविज्ञान। यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी होगा

कि साहित्यकार और फोटोग्राफर में अन्तर है। साहित्यकार चीजों का यथातथ्य स्वरूप नहीं उतारता अपितु वह उस चित्रकार जैसा है जो वस्तुओं को उनके गठन रूप में ग्रहण करता है और उसके आधारभूत तत्त्वों की आन्तरिक अन्विति का चित्रण उसका लक्ष्य होता है।

डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव की पुस्तक 'शैलीविज्ञान और आलोचना की नयी भूमिका' हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में एक आन्दोलन के रूप में आयी, क्योंकि पहली बार साहित्य को साहित्येतर आयामों से अलग करके देखने की प्रवृत्ति उभरी। इसमें संकलित कुछ निबन्ध, आलोचना त्रैमासिक में प्रकाशित हो चुके थे। दूसरी पुस्तक डॉ० विद्यानिवास मिश्र की पुस्तक 'रीति विज्ञान' प्रकाशित हुई जिसमें डॉ० मिश्र ने शैलीवैज्ञानिक आलोचना की निर्बचनात्मक भूमिका को उसका संलक्ष्य निर्धारित करते हुए उसे 'सर्जनात्मक समीक्षा का नया आयाम' माना। कहने का तात्पर्य यह है कि डॉ० मिश्र ने भाषिक विश्लेषण को समीक्षा का एकमात्र लक्ष्य तो माना किन्तु उसके साथ ही साहित्येतर आयामों को लेकर जो समीक्षा पद्धति तैयार की उसे सर्जनात्मक समीक्षा अथवा नयी समीक्षा को एक आयाम की संज्ञा दी। उन्होंने रीतिविज्ञान शब्द को ज्यादा सार्थक बताया किन्तु शैली की व्यापकता और रीति की सीमाबद्धता की तरफ उन्होंने ध्यान नहीं दिया। परिणामतः शैलीवैज्ञानिक आलोचकों ने इस नाम को मान्यता नहीं दी और शैलीविज्ञान नाम प्रचलित हो गया। डॉ० कृष्णकुमार शर्मा ने 'शैलीविज्ञान की रूपरेखा' (१९७४), 'गद्य संरचना : शैलीवैज्ञानिक विवेचन' (१९७५), 'शैलीविज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र (१९७६) तथा 'शैलीवैज्ञानिक आलोचना के प्रतिदर्श'(१९७८) ये चार पुस्तकें लिखीं। इनमें शैली की मीमांसा की गयी किन्तु परिभाषाएँ, संकल्पनाएँ, विश्लेषण-प्रविधियाँ—सब मिलकर भी विषय को स्पष्ट नहीं बना सकीं। डॉ० नगेन्द्र की 'शैलीविज्ञान' (१९७६) पुस्तक में शैलीवैज्ञानिक आलोचना को भाषापरक अध्ययन, विश्लेषण तक सीमित कर दिया है। उनके अनुसार—"शैलीविज्ञान साहित्य के भाषिक विधान का रूपात्मक अध्ययन है।" सन् १९७७ में डॉ० भोलानाथ तिवारी की 'शैलीविज्ञान' पुस्तक आयी जिसमें उन्होंने शैली की नयी-पुरानी सभी पश्चिमी परिभाषाओं को निश्चित रूप से प्रस्तुत कर दिया। इस समय डॉ० सुरेश कुमार की दो पुस्तकें आयीं—'शैलीविज्ञान' (१९७७) तथा 'शैलीविज्ञान और प्रेमचन्द की भाषा' (१९७८), पर ये पुस्तकें भी इस समीक्षा को भाषा के रूपात्मक विश्लेषण तक सीमित करती हैं—शैलीविज्ञान साहित्यभाषा के साभिप्राय अध्ययन का विज्ञान है।

डॉ० सत्यदेव चौधरी ने अपनी पुस्तक 'भारतीय शैलीविज्ञान' (१९७८) में कुछ तत्त्व एम्पसन से लिए तो कुछ क्लीन्थ ब्रुक्स से। पाश्चात्य तत्त्वों का प्रभाव अंकित करना तथा भारतीय पाश्चात्य विद्वानों की शैली अवधारणा को यथावत् रख देना ही

इस पुस्तक का लक्ष्य था इसीलिए शैली का तत्त्व निर्धारण इस रूप में अत्यन्त भ्रान्ति में डालनेवाला रहा। आठवें दशक के अन्त में डॉ॰ रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव की संरचनात्मक शैलीविज्ञान (१९७९) ने शैलीविज्ञान को फिर एक मुकम्मल रूप देने में सफल भूमिका का निर्वाह किया। इसमें भाषिक दृष्टि से कृति का मूल्यांकन करते हुए उसकी साहित्यिकता के उद्घाटन की बात उठायी गयी। पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु की दो पुस्तकें—'शैलीविज्ञान का इतिहास' तथा 'शैलीविज्ञान, प्रतिमान और विश्लेषण' भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।

शैलीविज्ञान का एक सांख्यिकीय आधार भी डॉ॰ श्रीवास्तव ने प्रस्तुत किया। "वहाँ भौतिक रसायन की तरह कुछ सूत्रों के सहारे, आरेखों के सहारे कविता के मूल्यांकन का सवाल उठाया गया किन्तु अन्ततोगत्वा यह महसूस किया गया कि कविता की शिल्पक्रिया उसे विरूप बना देगी। अभी भी शैलीविज्ञान एक निश्चित रूपाकार नहीं प्राप्त कर सका है। फिर भी इतना तो सत्य है ही कि शैलीविज्ञान साहित्य को शुद्ध साहित्य की दृष्टि से, कृति को कृति की दृष्टि से, उसकी आन्तरिकता को आन्तरिकता की दृष्टि से व्याख्या का विज्ञान है। वह साहित्य की अभिव्यक्ति के विश्लेषण का भी विज्ञान है और इस अर्थ में आठवें दशक की आलोचना की एक प्रवृत्ति के रूप में शैलीवैज्ञानिक आलोचना अपनी पूरी अस्मिता के साथ हिन्दी आलोचना से जुड़ गयी।

× × ×

पाश्चात्य में संरचनावाद जैसी प्रवृत्ति भी आलोचना के क्षेत्र में उभर कर आयी, जिसका मुख्य आधार भाषिकी है। रोनाल्ड बार्थ जैसे संरचनावादी ने कुछ व्यावहारिक समीक्षाएँ भी लिखीं। साहित्य संरचना के सम्बन्ध में चिन्तन की विशिष्ट पद्धति ही संरचनावाद कही जाती है। यह पद्धति हिन्दी की व्यावहारिक पद्धति से सम्बद्ध है। एक ही संरचना के कई रूपान्तर हो सकते हैं। कहना न होगा कि सम्पूर्ण साहित्य ही एक संरचना है। यह पद्धति भी साहित्य को स्वायत्त मानकर चलती है इस अर्थ में यह इतिहास निरपेक्ष है। डॉ॰ बच्चन सिंह के शब्दों में—'संरचनावाद एक चक्रव्यूह है। इसमें फँसकर समीक्षा तो मरती ही है, अपने साथ साहित्यिक कृति को भी ले डूबती है।''

एक अन्य पद्धति 'डी कान्स्ट्रक्शन' है समीक्षा प्रणाली का नवीनतम आविष्कार। उत्तर संरचनावाद का यह सर्वाधिक प्रभावशाली आन्दोलन है। मौन, अन्तराल, चिह्न भी बोलते हैं—अनुपस्थित को तलाशने में मदद करते हैं इससे ज्यादा इसका कोई महत्त्व नहीं है।

उपर्युक्त पद्धतियाँ हिन्दी आलोचना में कोई स्थान नहीं रखतीं। अनुवाद के माध्यम से सिर्फ अपने आगमन की सूचना भर दे देती हैं। शैलीविज्ञान में इन दोनों

का अन्तर्भाव हो जाता है इसीलिए अलग से इनके निरूपण की कोई आवश्यकता नहीं अनुभव की गयी। आने वाला समय आलोचना का कौन-सा द्वार खोलेगा, इसकी कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आलोचना शास्त्र के आधार-स्तम्भ हैं। आचार्य शुक्ल ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों का अनुशीलन किया और रस को काव्यात्मा रूप में स्वीकृत करके उसे आध्यात्मिक और वैज्ञानिक आधार दिया। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचना को शुक्ल जी ने विकसित किया। इनका काल १९२०-२१ ई० है जो उत्तर द्विवेदी युग कहा जाता है। आइ० ए० रिचर्ड्स की 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' से प्रभावित होकर आचार्य शुक्ल ने हिन्दी आलोचना क्षेत्र में व्यावहारिक आलोचना को प्रतिष्ठित किया जिसका प्रौढ़तम रूप तुलसी और जायसी ग्रन्थावली की भूमिकाओं, 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका तथा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में प्रकट हुआ है। शुक्ल जी की दृष्टि में—"यह ऐतिहासिक समीक्षा है जिसका उद्देश्य यह निर्दिष्ट करना होता है कि किसी रचना का उसी प्रकार की और रचनाओं से क्या सम्बन्ध है और उसका साहित्य की चली आती हुई परम्परा में क्या स्थान है?"

प्रयोगात्मक एवं सैद्धान्तिक आलोचना का समन्वय करके निश्चित मानदण्डों को सूर, तुलसी तथा जायसी के मूल्यांकन में स्थापित किया। इन प्रबन्धों में शुक्ल जी का स्पष्ट आग्रह तुलसीदास के प्रति है जिसका एक कारण है कि शुक्लजी की आलोचना के मूल में लोकमंगल की भावना है। 'लोकमंगल' एक ऐसी कसौटी है जिस पर शुक्लजी प्रत्येक कवि का मूल्यांकन करते हैं और तब गोस्वामी तुलसीदास के अतिरिक्त और कोई कवि इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। इसी आग्रह का परिणाम है सूर के प्रति उदासीनता और छायावादी काव्य के प्रति उपेक्षा। आलोच्य कृति के वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य तथा अभिव्यक्ति सौन्दर्य दोनों पर उनकी समान दृष्टि है। वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य में 'शील' का प्राधान्य होने के कारण ही 'मर्यादापुरुषोत्तम राम' के समक्ष 'लीलापुरुषोत्तम कृष्ण' उन्हें आकर्षित नहीं करते और 'तुलसी', 'सूर' से ऊँचे हो जाते हैं। वे कवि के व्यक्तित्व, कृतित्व दोनों पक्षों को आलोचना का आधार मानते हैं। यहाँ उनकी दृष्टि मनोवैज्ञानिक लगती है। सूरदास के सम्बन्ध में कहते हैं—"आगे आने वाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठन जान पड़ती हैं।"

तुलसी की भावुकता की प्रशंसा करते आचार्य शुक्ल अघाते नहीं हैं—"हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की स्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामीजी में ही है।" वन-गमन प्रसंग में इतने भावविह्वल हो जाते हैं कि उसे और मार्मिक बना देते हैं।

लेकिन इसी मार्मिक स्थल के बीच जटिल शास्त्रीय प्रश्न को उठाना भी आलोचना की विशेषता है। सीता से पुरुष परिचय जानने की उत्सुकता और सीता की चेष्टाओं के वर्णन में शुक्लजी 'हाव-अनुभाव' जैसा विवादास्पद प्रश्न उठाते हैं। वस्तुतः व्यावहारिक आलोचना में भी अपने आचार्यत्व की गरिमा को वह त्यागते नहीं हैं।

केशव की यही भावशून्यता उन्हें खरी-खोटी सुनाने पर विवश करती है। वह कहते हैं—"केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता नहीं थी जो एक कवि में होनी चाहिए।" क्योंकि आचार्य शुक्ल 'रस' का पोषक होने पर ही अलंकार गुण रीति की महत्ता को स्वीकारते हैं। जो अलंकार भावों का उत्कर्ष नहीं करते वे काव्य के उपादान नहीं बन सकते हैं। इसीलिए शुक्लजी उनके पाण्डित्य को स्वीकारते हुए भी उन्हें 'हृदयहीन' कहते हैं।

जायसी के 'पद्मावत' में 'नागमती वियोग खण्ड' ही शुक्लजी को सबसे अधिक आकृष्ट करता है क्योंकि नागमती विरह में अपना 'रानीपन' भूल जाती है। सामान्य नारी की तरह बन-बन घूमती फिरती है, अपना 'संदेसा' सबसे कहती है। संभवतः 'नागमती वियोग खण्ड' के अभाव में शुक्लजी जायसी को इतना अधिक महत्त्व न देते। इनके विवेचन में ऐतिहासिक और रहस्यात्मकता पर भी शुक्लजी ने बल दिया है जो काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है। यहाँ उनकी दृष्टि विवेचनात्मक है।

आचार्य शुक्ल की व्यावहारिक आलोचना बुद्धि और हृदय के सन्तुलन पर आधृत है। इनकी आलोचना मर्यादित, भावनिष्ठ, बुद्धिसम्मत, तर्कपूर्ण और प्रभावोत्पाद पद्धति को विकसित करती है।

शुक्लजी की समीक्षा का सैद्धान्तिक आधार 'रसवाद' का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में जीवनानुभव, काव्य की भावभूमि तथा समीक्षा की वैचारिक भूमि का अद्भुत सामंजस्य प्रस्तुत किया गया है अर्थात् आचार्य शुक्ल ने सिद्धान्तों को जीवन से लिया है और काव्य में उनका परीक्षण किया है, फिर विवेक की कसौटी पर कसकर उस सिद्धान्त को अभिव्यक्ति दी है। भारतीय सिद्धान्तों का उपयोग शुक्लजी ने जहाँ अपने मत की व्याख्या के लिए किया है वहीं पाश्चात्य मत का उपयोग अपने मत की पुष्टि के लिए किया है। शुक्लजी मनोविज्ञान की खोजों से इतने प्रभावित हैं कि अपने समस्त चिन्तन में उन्होंने इसे आधार बना लिया है। यही कारण है कि आई० ए० रिचर्ड्स के सिद्धान्तों से बार-बार टकराते हैं। साहित्य उनकी दृष्टि में मनोभावों की अभिव्यक्ति है—"कविता के मूल में भाव या मनोविकार ही रहते हैं, काव्य की आत्मा रस ही है।" अन्यत्र वह कहते हैं—"सारांश यह है कि भाव या मनोविकार की नींव पर ही कविता की इमारत खड़ी हो सकती है।" 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक

में साम्प्रदायिक रहस्यवाद, अभिव्यक्तिवाद, सौन्दर्य आदि की तीव्र आलोचना करते हैं क्योंकि ये 'ऐस्थेटिक अनुभव' हैं जो 'कल्पना' पक्ष को ही महत्त्व देते हैं। उनकी दृष्टि में कवि का लक्ष्य अपने भावों को पाठक तक सम्प्रेषित करना है और यह तभी सम्भव है जब काव्यगत अनुभव में निर्वैयक्तिकता हो—"एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होता है।"

'रसदशा' को 'ज्ञानदशा' बताते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।" सौन्दर्यानुभूति भी रसानुभूति का अंग है। सौन्दर्यानुभूति उनकी दृष्टि में मंगल विधायिनी शक्ति है। शुक्लजी के शब्दों में—"तुलसी और सूर ऐसे सगुणोपासक भक्त राम और कृष्ण की सौन्दर्य भावना में मग्न होकर ऐसी मंगलदशा का अनुभव कर गये हैं, जिसके सामने कैवल्य या मुक्ति की कामना का कहीं पता नहीं लगता।"

रसवादी होने के कारण ही आचार्य शुक्ल ने रसविरोधी काव्य सिद्धान्तों का विरोध किया। छायावाद, कलावाद, अभिव्यञ्जनावाद प्रस्तुत की अपेक्षा करके अप्रस्तुत की प्रतिष्ठा करते हैं। इसी कारण आचार्य शुक्ल की दृष्टि में ये सिद्धान्त ग्राह्य नहीं हैं। मूर्तिमत्तावाद, संवेदनावाद तथा प्रतीकवाद के सम्बन्ध में भी उनकी थोड़ी-बहुत यही दृष्टि रही है। रहस्यवादी कवि की अनुभूति की सचाई उनकी दृष्टि में अविश्वसनीय है। 'व्यक्तिवैचित्र्यवाद' उनकी दृष्टि में 'नकली हृदयों के कारखानों में निर्मित होनेवाला वाद है' जब कि 'अभिव्यञ्जनावाद' 'वक्रोक्ति सिद्धान्त का विलायती उत्थान।'

हृदय को साथ लेकर चलनेवाली बुद्धि की यात्रा में आचार्य शुक्ल जिन मनोविकारों की चर्चा करते हैं उनमें 'उत्साह', 'करुणा', 'प्रीति', 'घृणा', 'भय', 'लज्जा', 'क्रोध' जैसे भाव हैं। शुक्लजी की दृष्टि इनके काव्यशास्त्रीय रूपों की ओर नहीं थी। उन्होंने इन मनोविकारों की परिभाषा दी, उनका वर्गीकरण किया तथा मिलते-जुलते मनोविकारों को सूक्ष्म भेद बताया और उनके नैतिक पक्ष का विश्लेषण किया। इस सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल ने 'सूत्रशैली' अपनायी है। उदाहरणार्थ—"करुणा दुःखात्मक वर्ग में आनेवाला मनोविकार है", "बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है", "ईर्ष्या अप्रेष्य मनोविकार है।"

'कविता क्या है', 'कविता में लोकमंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप', 'काव्य में रहस्यवाद', 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' आदि निबन्ध शुक्लजी की सैद्धान्तिक आलोचना के उदाहरण हैं। आधुनिक अध्ययन के आलोक में उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों का पुनराख्यान किया है। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने ठीक ही कहा है कि—"यद्यपि आपकी शैली को पूर्णतः आधुनिक

नहीं कहा जा सकता, आप मध्यकालीन केंचुल छोड़ने का प्रयत्न अवश्य कर रहे थे। आपकी आलोचना युगसन्धि की आलोचना है।''

मर्यादावादी दृष्टि ने शुक्ल जी को काफी हद तक पूर्वग्रही बना दिया है और इसीलिए आचार्य शुक्ल की समीक्षा पद्धति को 'सामाजिक समीक्षा' की संज्ञा दी जाती है। यही नीतिवादी दृष्टिकोण सूर के काव्य का पूर्णतया आकलन नहीं करता क्योंकि कृष्ण लोकरक्षक नहीं लोकरंजक व्यक्तित्ववाले हैं।

आचार्य शुक्ल के मत से कुछ विद्वान् असहमति भी व्यक्त करते हैं जैसे 'इतिहास' के कालविभाजन को लेकर उन पर मठाधीश, सामन्तवादी होने का आरोप भी लगाया है लेकिन यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि ये विभाजन मूल्यगत आधार पर हैं। यहाँ डॉ० रामचन्द्र तिवारी का एक सुझाव भी ध्यातव्य है कि ये विभाजन प्रवृत्ति के आधार पर कर दिये जायें जैसे आदिकाल को राज्याश्रित साहित्य, भक्तिकाल को धर्माश्रित साहित्य और रीतिकाल को प्रेमाश्रित साहित्य कहा जा सकता है।

मूल्य शाश्वत हैं किन्तु परिवर्तनशील हैं। युग के साथ बदलाव आता है पर उनका अस्तित्व समाप्त नहीं होता है। जब कि प्रतिक्रियाएँ क्षणिक हैं। युग, परिवेश के बीच उन मूल्यों का सामंजस्य करने की प्रक्रिया में बहुत सारे तात्कालिक प्रश्न अपना उत्तर स्वयं पा जाते हैं। इसी प्रकार 'छायावादी' काव्य के मूल्यांकन में जो अनौचित्य दिखायी देता है वह शुक्लजी के युग की सीमा है। लेकिन छायावादी कवियों की कुछ विशेषताओं को उन्होंने मान्यता अवश्य दी जैसे जयशंकर प्रसाद की 'इतिहास दृष्टि', पन्त की 'लाक्षणिकता' और निराला की 'बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा' को उन्होंने भरपूर सराहा है। इतना तो मानना ही होगा कि आलोचना करते समय भी शुक्लजी ने जो शब्दावली दी है उसीके आधार पर छायावाद प्रतिष्ठा भी प्राप्त कर सका है, जैसी मान्यता डॉ० बचन सिंह की भी है कि—"छायावाद की भाषा या कलापक्ष के सम्बन्ध में शुक्लजी ने जो लिखा है वह उनकी क्षमता, पैठ, पकड़ और अभिनिवेश का सूचक है। चित्रभाषा शैली, प्रतीक पद्धति, अन्योक्तिविधान आदि का उन्होंने संक्षिप्त पर अत्यन्त सटीक विश्लेषण किया है।'' (आलोचक और आलोचना) अभिव्यंजनावाद, प्रभावसाम्य, बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा जैसे ठोस शब्द लेकर ही आज तक के साहित्य का मूल्यांकन हुआ है। 'अर्थभूमि' शब्द जो शुक्लजी ने इतिहास में इस्तेमाल किया है वह प्रगतिवादी आलोचना का आधारभूत शब्द बन गया है।

आचार्य शुक्ल की इतिहास दृष्टि सांस्कृतिक पक्ष से शून्य नहीं है। कबीर के मूल्यों के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है किन्तु कबीर की 'साहित्यिकता' की जो पकड़ शुक्लजी में दिखायी पड़ती है उस पर कोई प्रश्न-चिह्न नहीं लग सकता। भाषाविषयक

दृष्टिकोण शुक्लजी का अत्यन्त व्यापक है। आयातित शब्दों से आलोचना का भण्डार भरनेवाले आलोचकों में शुक्लजी नहीं थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को सच्चे अर्थों में आचार्य बताते हुए पं॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी की उक्ति है कि—"हिन्दी संसार में शुक्लजी अपने ढंग का एक और अद्वितीय व्यक्तित्व लेकर अवतीर्ण हुए थे। प्राचीन साहित्य का इस प्रकार मंथन करनेवाले कम साहित्यिक समालोचक होंगे। संस्कृत के साहित्यशास्त्र पर उनका पूर्ण अधिकार था। × × आचार्य शब्द ऐसे ही कर्त्ता साहित्यकारों के योग्य है।"

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्येतिहास के शोधकर्त्ता हैं। इतिहास की दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन करने की यह परम्परा नयी नहीं है। कारलाइल ने लिखा है कि—"किसी राष्ट्र के काव्य का इतिहास वहाँ के धर्म, राजनीति और विज्ञान के इतिहास का सार है। काव्य के इतिहास में लेखक को राष्ट्र के उत्तम लक्ष्य, उसकी क्रमागत दिशा और विकास को देखना अत्यन्त आवश्यक है।"

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य को 'इतिहास दर्शन' दिया है। उन्होंने इतिहास के भीतर से उस चेतना को ग्रहण करने का प्रयास किया है जो मानवीय चेतना या कहें जनचेतना का मूल शक्तिस्रोत है। आधुनिक साहित्य का भवन इसी नींव पर खड़ा है। मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन का शायद ही कोई ऐसा पक्ष हो, जिसे उन्होंने 'अनाघ्रात' छोड़ा हो। मनुष्य में मनुष्यता का दर्शन और उसकी सिद्धि, उच्चतम मूल्यों की उपलब्धि, मंगल विधान, समग्र भारतीय साहित्य, कला, संस्कृति और धर्म का साध्य है। इसी मानवतावाद के बहाने द्विवेदीजी सम्पूर्ण मानव मूल्यों की स्थापना करते हैं।

साहित्य के इतिहास को आचार्य द्विवेदी ने जनचेतना के इतिहास रूप में व्याख्यायित किया है। उनका इतिहासकार यहाँ पूर्ण शक्ति के साथ विद्यमान है और उनके पाण्डित्य बोध को भी प्रकट करता है। यहाँ ध्यातव्य है कि पाण्डित्य जड़ता जैसे गुण को साथ लेकर चलता है इसीलिए बोध शब्द जोड़कर उसकी जड़ता को निरस्त किया गया है। कह सकते हैं कि मानवतावादी समाजवादी दृष्टिकोण के ही कारण यह पाण्डित्य जड़ता से मुक्त लचीला और आधुनिक बोध से सम्पन्न हो जाता है।

'कबीर' के प्रकाशन के साथ ही द्विवेदीजी का समीक्षक रूप भी प्रकाशित हुआ। कबीर के सम्बन्ध में इसके पूर्व भी बहुत कुछ कहा और लिखा जा चुका था। आचार्य शुक्ल ने उनके विचार, उनकी भाषा को 'पंचमेल' बताया और 'तुलसीदास' नामक ग्रन्थ में 'कबीर आदि निर्गुणिया सन्तों को लोकविरोधी कहा।' श्यामसुन्दरदास

ने कबीर के 'अक्खड़पन' का ही जिक्र किया। आचार्य द्विवेदी इस अक्खड़पन को ही तोड़ते हैं और कबीर का परिचय देते हुए कहते हैं—"ऐसे थे कबीर सिर से पैर तक मस्तमौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचण्ड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वन्दनीय।" कबीर के फक्कड़पन का प्रभाव हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'मनसा, वाचा, कर्मणा' ग्रहण कर लिया था। मस्ती, फक्कड़पन, मस्तमौला जैसे शब्द पूरे द्विवेदी साहित्य में बिखरे हैं।

द्विवेदीजी की समीक्षा सांस्कृतिक समीक्षा कही जाती है। इसे सौष्ठववादी नाम भी दिया गया है। कालिदास के महत्त्व स्वीकार में इसी की छाप है—"सुकुमारता के साथ सुशीलता का, मानसिक मृदुता के साथ चारित्रिक दृढ़ता का, अपार वैभव के साथ विपुल वैराग्य का, सौन्दर्य के साथ धर्म का—ऐसा मणिकाञ्चन योग संसार के साहित्य में विरल है।" नैतिकता भी जहाँ रसमय हो, बौद्धिकता भावना से ओतप्रोत हो, मन की द्रवता के साथ जहाँ दृढ़ता हो, कोमलता जहाँ सारतत्त्व से बनी हो, इसी विरल वैशिष्ट्य के उपासक द्विवेदीजी हैं। साहित्य उनकी दृष्टि में 'सारे मानव समाज को सुन्दर बनाने की साधना है।'

द्विवेदीजी मानव सत्य के सन्दर्भ में सौन्दर्य तत्त्व का विवेचन करते हैं। उनके सौन्दर्य बोध में शास्त्रीयता बोध ही नहीं ऐन्द्रिय संवेदनात्मक बोध भी है। लालित्य, चारुता, लावण्य, रूप, शोभा, सुषमा की जैसी सूक्ष्म व्याख्याएँ द्विवेदीजी ने की हैं अन्यत्र दुर्लभ हैं—"जीवन को सुन्दर ढंग से बिताने के लिए भी जीवन का एक रूप होना चाहिए। बहुत से लोग कुछ भी न करने को भलापन समझते हैं। यह गलत धारणा है। सुन्दर जीवन क्रियाशील होता है क्योंकि क्रियाशीलता ही जीवन का रूप है। क्रियाशीलता को छोड़कर जीवन का सौन्दर्य टिक नहीं सकता है।" कालिदास की 'लालित्य योजना' के पश्चात् वह ललितशास्त्र पर विचार करना चाहते थे जो उनके जीवन की सौन्दर्य चिन्ता तथा सौन्दर्य साधना की परिणति थी। सौन्दर्य का यह स्रोत मानववाद से ही निःसृत है। द्विवेदीजी के अनुसार—"मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति है।"

सामाजिक मानवतावाद ही स्वस्थ मानवतावाद कहा जाता है—'मनुष्य को, व्यक्ति मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि मनुष्य को, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा' का उद्घोष करके द्विवेदीजी मानवतावाद को 'समष्टि मनुष्य के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्ति' की भावना के रूप में परिभाषित करते हैं। मनुष्य की महिमा की प्रतिष्ठा आधुनिक युग की चेतना का परिणाम है। मनुष्यता पशुत्व और जड़त्व से ऊपर उठाती है इसके लिए द्विवेदीजी

'प्रयोजनातीत' शब्द प्रयोग करते हैं। प्रयोजन अर्थात् जीवशास्त्रीय लालसा की पूर्ति, इससे अतीत होना ही मनुष्य का ऐश्वर्य है। प्रयोजनातीत ही प्रेम है, भक्ति है, मनुष्यता है। उनकी दृष्टि में साहित्य का मर्म वही समझ सकता है जो साधना का मूल्य समझे।

आचार्य द्विवेदी के मानवतावाद में रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'विश्वनीड़' की अवधारणा छिपी है, इसे आदर्शवादी मानवतावाद या रोमैण्टिक मानवतावाद कहकर टाला नहीं जा सकता है। द्विवेदीजी की दृष्टि में मानव देवता से बड़ा है क्योंकि "मनुष्य क्षमा कर सकता है, देवता नहीं कर सकता। मनुष्य हृदय से लाचार है, देवता नियम का कठोर प्रवर्त्तयिता है। मनुष्य नियम से विचलित हो जाता है पर देवता की कुटिल भृकुटि नियम की निरन्तर रखवाली करती है। मनुष्य इसलिए बड़ा होता है कि वह गलती कर सकता है, देवता इसलिए बड़ा है कि वह नियम का नियन्ता है।"

मानवता और परम्परा ये दो विन्दु हैं जिस पर आचार्य द्विवेदी की आलोचना आधृत है। मनुष्य को, मनुष्य की श्रेष्ठता को, चिन्मुखी मानवता को साहित्य का प्रतिमान बनाकर आपने सूर, तुलसी, कबीर, कालिदास, रवीन्द्रनाथ टैगोर की कृतियों का मूल्यांकन किया है। डॉ० रामचन्द्र तिवारी का कथन यहाँ उल्लेखनीय है— "इतिहास के खण्डहरों में भटकते हुए उन्होंने तान्त्रिकों की शवसाधना का आदर्श सामने रखा। अर्थात् अतीत के सत्य को वर्तमान की ओर उन्मुख करके उसमें प्राणशक्ति का संचार किया। वास्तविकता तो यह है कि द्विवेदीजी ठेठ आलोचक से काफी बड़े हैं। शुद्ध शोधकर्त्ता से विशिष्ट और अलग हैं। शास्त्रनिष्ठ आचार्य से अधिक महिमामय हैं। सामान्य अध्यापक उनके सामने बौना प्रतीत होता है। उनका एक विशिष्ट साहित्यिक व्यक्तित्व है। चिन्मुखी मानवता की खोज ही उनकी साहित्य यात्रा का लक्ष्य है।"

आचार्य द्विवेदी की मूल्यांकन दृष्टि को इसी परिवेश में आँका जा सकता है। परम्परा पर मानवतावादी दृष्टि का अंकुश है तो मानवतावादी दृष्टि पर परम्परा का। सूरदास में मानवतावाद की तलाश की गयी पर द्विवेदीजी को निराशा हाथ लगी। कबीर में उन्हें परम्परा भी मिली और शुद्ध मानवतावादी दृष्टि भी। इसीलिए कबीर पर जो उन्होंने लिखा वह प्रौढ़, मौलिक और अनुसन्धानपरक दृष्टि का परिणाम है। कबीर मनुष्य की समता, एकता और सहजता पर विश्वास करते हैं। अतः आचार्य द्विवेदी का सिद्धान्त कबीर पर वैसे ही लागू होता है जैसे शुक्लजी का सिद्धान्त गोस्वामी तुलसीदास पर। प्रेमचन्द भी द्विवेदीजी को इसीलिए प्रिय हैं क्योंकि उनके चरित्र मनुष्य के बीच सद्भावना और परदुःखकातरता की प्रवृत्तियाँ जगाते हैं। यह कहना ज्यादा समीचीन होगा कि प्रेमचन्द के रूप में उन्होंने कबीर को पुनर्जीवित किया है।

जीवन और साहित्य दोनों को द्विवेदीजी सन्तुलित दृष्टि से देखना चाहते थे। वह कहते हैं—"सन्तुलित दृष्टि सत्यान्वेषी की दृष्टि है। एक ओर जहाँ वह सत्य की समग्र मूर्त्ति को देखने का प्रयास करती है वहीं दूसरी ओर वह सदा अपने को सुधारने और शुद्ध करते रहने को प्रस्तुत रहती है। वह सभी प्रकार के दुराग्रह और पूर्वग्रह से मुक्त रहने की और सब तरह के सही विचारों को ग्रहण करने की दृष्टि है।" इसी का परिणाम है कि अटपटी भाषा और उलटवासियों के कवि कबीर को वह "वाणी का डिक्टेटर" मानते हैं।

द्विवेदीजी उद्देश्य की व्यापकता को ध्यान में रखकर चलनेवाले आलोचक हैं। मूल्यांकन का एक ही उद्देश्य है और वह है मानव कल्याण। यह भावना भारतीयता के मूल में है। भारतवर्ष की आध्यात्मिक परम्परा के समानान्तर ही वह मार्क्स के तत्त्वदर्शन सिद्धान्त को भी रखते हैं। इसीलिए द्विवेदीजी आज भी अपनी प्राचीन परम्परा को स्वीकारने का आग्रह करते हैं।

"मुझे यह समझ में नहीं आता कि आधुनिक समालोचन पद्धति क्यों नहीं पुराने अनुभवों से अपने को समृद्ध कर सकती। नवीन परिस्थितियों के अनुसार पुराने अनुभवों का प्रयोग सर्वत्र हितकर होगा—जीवन में भी और साहित्य में भी।"

आलोचना की समग्र दृष्टि का ही परिणाम है कि वह आलोच्य कवि की केन्द्रीय विशेषता को ही उभारते हैं। 'कबीर मस्तमौला थे', 'सूरदास बालक का हृदय लेकर पैदा हुए थे', 'तुलसी का सारा काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है' जैसे सूत्र-वाक्य कबीर की फक्कड़ता, सूर के वात्सल्य और तुलसी की समन्वयवादी दृष्टि को केन्द्र में रखकर लिखे गये हैं।

प्रश्न उभरता है कि क्या साहित्य सार्थक तभी है जब मानवतावाद से जुड़ा हो? क्या साहित्यिक गुणों से अलग रहकर भी रचना की श्रेष्ठता पहचानी जा सकती है?

उपर्युक्त तथ्य प्रमाणित करते हैं कि द्विवेदी जी का मानवतावाद मध्ययुगीन मानवतावाद नहीं है। वह मनुष्यता की पहचान है और जब हम 'मनुष्यता' को परिभाषित करते हैं तो संवेदनीयता उसकी पहली और अनिवार्य शर्त बन जाती है। दरअसल बच्चन सिंह के शब्दों में द्विवेदीजी को "विचारों के समीक्षक हैं" कहने के पीछे यही प्रश्न निहित है। उन्होंने हमेशा युगानुरूप नये मूल्यांकन पर बल दिया है।

'दूसरी परम्परा की खोज' में डॉ० नामवर सिंह ने यही प्रतिपादित किया है कि "द्विवेदीजी जहाँ परम्परा से प्राप्त हिन्दी साहित्य के इतिहास के मानचित्र को बदलकर एक दूसरा मानचित्र प्रस्तुत करते हैं, वहीं साहित्य-सम्बन्धी एक नयी मान्यता भी सामने आती है। इस प्रकार एक नये इतिहास के साथ आलोचना का एक नया मान भी

दृष्टिगोचर होता है।" सच तो यह है कि आचार्य द्विवेदी किसी परम्परा में नहीं आते बल्कि अपनी परम्परा स्वयं निर्मित करते हैं।

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी

छायावादी काव्य परिवेश में आचार्य बाजपेयी ने अपने समीक्षात्मक प्रतिमानों का सृजन किया। युग को वाणी देनेवाले साहित्य की व्याख्या करनेवाला कोई न कोई आलोचक अवश्य होता है। आचार्य शुक्ल के समीक्षा प्रतिमान 'मानस' से बने तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' से। ठीक ऐसे ही छायावादी कविता के प्रतिमान आचार्य बाजपेयी ने निर्धारित किये। इसीलिए इनकी समीक्षा छायावादी, स्वच्छन्दतावादी, सौष्ठववादी, प्रगतिशील स्वच्छन्दतावादी, रसवादी और अध्यात्मवादी विशेषणों से युक्त है। जब कि बाजपेयीजी इसे 'सांस्कृतिक समीक्षा धारा' कहते हैं।

सन् १९३० ई० के आसपास बाजपेयीजी का आलोचक व्यक्तित्व 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' के माध्यम से अवतरित हुआ। इस व्यक्तित्व में दो विरोधी तत्त्वों का सामंजस्य था—अभिजातीय तत्त्व और स्वच्छन्दतावादी तत्त्व। जयशंकर प्रसाद से जहाँ आभिजात्य पाया वहीं निराला से उन्मुक्त स्वच्छन्दता। अपनी आलोचना दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने सात चेष्टाएँ इंगित की हैं—

१. कवि की अन्तर्वृत्तियों का अध्ययन,
२. कलात्मक सौष्ठव का अध्ययन,
३. टेकनीक का अध्ययन,
४. समय, समाज और उसकी प्रेरणाओं का अध्ययन,
५. कवि की जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन,
६. कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनैतिक विचारों का अध्ययन,
७. काव्य के जीवन-सम्बन्धी सामंजस्य और सन्देश का अध्ययन।

इससे दो बातें सिद्ध हुई हैं कि बाजपेयीजी कवि की अन्तर्वृत्तियों का विश्लेषण करके कलात्मक सौष्ठव पर बल देते हैं और यही कारण है कि बाद की समीक्षा पद्धतियों—मनोवैज्ञानिक, समाजवादी अथवा मार्क्सवादी, सौन्दर्यशास्त्रीय तथा उपयोगितावादी 'आधुनिक साहित्य' की भूमिका में स्पष्ट कहा है कि "पिछले पचास वर्षों से हिन्दी साहित्य की जो मर्यादा बन गयी है, उसे हम किसी भी स्थिति में टूटने न देंगे।"

भारतीय काव्यशास्त्र का सम्यक् बोध रखनेवाले आचार्य बाजपेयी रस को काव्य का अन्तरंग तत्त्व मानते हैं क्योंकि रस आनन्दरूप है—"साहित्य की आत्मा रस अन्ततः क्या है? वह मानव मात्र की वह आनन्दात्मक प्रतिक्रिया है जो श्रेष्ठ साहित्य को पढ़कर उसे उपलब्ध होती है।" (राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध)। 'भारतीय

काव्यशास्त्र का नवनिर्माण' एवं 'भारतीय साहित्यशास्त्र की रूपरेखा' ऐसे ही निबन्ध हैं जो व्यावहारिक आलोचना का रूप लेते हैं। 'नया साहित्य : नये प्रश्न' सन् १९५५ ई० में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में प्रवृत्तियों, सिद्धान्तों का विवेचन अधिक हुआ है। 'निकष' शीर्षक के अन्तर्गत बाजपेयीजी का 'आत्मनिरीक्षण' है जो उनकी आलोचना की मनोभूमि को स्पष्टतर करता है। भारतीय पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्तों की चर्चा के साथ ही नवीन साहित्य प्रवृत्तियों का अन्वेषण किया गया है। स्वस्थ साहित्य जिसे रचनात्मक साहित्य भी कहा जाता है तीन आक्रमणों से बचकर संभव होता है—'बौद्धिकता का वहिष्कार', 'कुण्ठित मनोग्रन्थियों के महत्त्व की स्वीकृति' तथा 'साहित्य आस्वाद में उदात्त तत्त्व का अस्वीकार', अर्थात् वही साहित्य स्वस्थ कहा जायगा जो बौद्धिकता के साथ भावुकता को लेकर चले, मनोवैज्ञानिक धरातल हो किन्तु उन्हें ही विषय मानकर रचना न की जाये और एकमात्र उदात्त तत्त्व को ही स्वीकृति न दी जाये। गहराई से विवेचन करें तो इस त्रिसूत्री फार्मूले में एकमात्र छायावाद ही फिट होता है। जयशंकर प्रसाद के 'कामायनी' की पृष्ठभूमि श्रद्धा-इड़ा यानी हृदय और बुद्धि का सामंजस्य ही है। बौद्धिक कवि को श्रद्धा का यह वाक्य विचलित अवश्य करेगा जो वह इड़ा से कहती है कि 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय', रुग्ण और कुण्ठित मनोवृत्तियाँ ही साहित्य संसार रचती हैं' लेकिन ये मनोवृत्तियाँ मनोग्रन्थियों का रूप न लें जिससे साहित्य निराशा को जन्म दे जैसे कामायनी की 'चिन्ता' 'आनन्द' तक जाती है, 'आँसू' वैयक्तिक न रहकर 'प्रभात हिमकण' बनकर संसार को सुख का सन्देश देते हैं। ठीक ऐसे ही उदात्त जैसा तत्त्व भी है। साहित्य को जनसंवेद्य होना चाहिए, विशेष वर्ग तक अपनी पहचान कायम रखनेवाला साहित्य कभी शाश्वत नहीं होता। अगर हमें साहित्य के माध्यम से 'रचनात्मक क्रियाशील जनतन्त्र' को स्थापित करना है तो इन तीन आन्दोलनों से बचना आवश्यक है। बाजपेयीजी की आलोचना पद्धति इसी मान्यता पर आधृत है।

महाकवि सूरदास की कृति सौन्दर्यनिष्ठ साहित्य चेतना का विश्लेषण करती है। रत्नाकर का महत्त्व नये युग में पुराना होने के कारण है।

आधुनिक युग के कवियों में जयशंकर प्रसाद ने बाजपेयीजी को सर्वाधिक आकृष्ट किया। प्रसाद में उन्हें कल्पना, भावना और कर्मचेतना का समवेत रूप दिखाई दिया और उनका काव्य नवीन कल्पना, जागरूक चेतना, मनसवृत्तियों की सूक्ष्म पकड़, घनीभूत पीड़ा, विस्मय, संशय और जिज्ञासा जैसे तत्त्व से अलंकृत है। छायावादी काव्य बाजपेयीजी की दृष्टि में नवीन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्‌गम है। "इस छायावाद को हम पंडित रामचन्द्र शुक्लजी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्‌गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी।"

निराला छायावाद में होते हुए भी 'छायावाद' से बाहर के कवि हैं। जाहिर है कि उनकी 'बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा' को प्रसाद के कोण से मूल्यांकित नहीं किया जा सकता। परम्परागत काव्य पद्धति निराला के उद्दाम वेग को सम्हालने में असमर्थ थी और न ही संस्कृत काव्यशास्त्र के सुनिश्चित प्रतिमानों में वह 'अपराजेय' व्यक्तित्व फिट हो सकता था। इसलिए बाजपेयीजी ने निराला की मानसिक संघटना, दार्शनिक सांस्कृतिक चेतना और कलागत सौष्ठव पर नये ढंग से विचार किया और इसके लिए काव्यकला के विस्तार का आग्रह किया है—"काव्य में बुद्धि तत्त्व के लिए भी स्थान है, भावना के लिए भी और कल्पना के लिए भी। जिस कृति में ओजस्विता हो, प्रवाह हो, जिसका प्रभाव हम पर पड़े उसमें काव्य की प्रतिष्ठा मानी जायेगी। यदि रस सिद्धान्त के व्याख्याताओं में आज इतनी व्यापकता नहीं है तो उन्हें व्यापक बनाना होगा। आधुनिक युग प्रत्येक दिशा में नयी काव्य सामग्री का संग्रह करने को कटिबद्ध है।"

किसी वटवृक्ष के साये तले उगनेवाले पौधे के सामने दो विकल्प होते हैं। पहला वह उसके संरक्षण में फले-फूलेगा—निश्चिन्त होकर और दूसरा उसका स्वाभाविक विकास जैसा होना चाहिए नहीं होगा क्योंकि उसकी जीवनी शक्ति तो समुद्र की बूंद मात्र है। हिन्दी आलोचनाशास्त्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यताओं से अलग आलोचना की जमीन तलाशना भी कुछ ऐसा ही था। फिर हर नये के स्वागत में छिपा संकोच एक दिन मुखरित होता ही है। अतः आचार्य बाजपेयी ने छायावाद के पक्ष में अपने स्वर को मुखरित किया और नये साहित्य के मूल्यांकन में नाकाफी हुए प्रतिमानों के स्थान पर नये प्रतिमान गढ़ने का आह्वान किया—"नवीन काव्य जिस नैसर्गिक अदम्यता को लेकर आया है, उसमें यह संभव नहीं कि वह परम्पराप्राप्त ध्वन्यात्मकता का ही अनुसरण करता चले। प्रचलित प्रणाली को तोड़ने में, नवीन युग का सन्देश सुनाने में, काव्यक्रमप्राप्त मर्यादाओं को उखाड़ फेंकता है। यह ध्वनि और अभिधा काव्य वस्तु के भेद नहीं हैं बल्कि व्यक्त करने की प्रणाली के भेद हैं, हमें प्रत्येक प्रणाली को प्रश्रय देना चाहिए, न कि किसी एक को। अभिधा की प्रणाली इस स्पष्टवादी युग की मनोवृत्ति के विशेष अनुकूल है।"

आधुनिक समीक्षा के लिए वह रस को भी बहुत उपयोगी नहीं मानते। काव्य-विश्लेषण में उसकी सहायता भर ली जा सकती है। कह सकते हैं कि बाजपेयीजी प्रगतिशील राष्ट्रीयता के आकांक्षी रहे हैं। उनके सम्पूर्ण आलोचनात्मक ग्रन्थों की विवेचना में दो ही प्रतिमान उभरकर आये हैं—भावात्मक निष्पत्ति और रूपात्मक सौन्दर्य। इसे बाजपेयीजी ने स्पष्ट भी किया है—"वाद कोई भी हो, कविता की संवेदनाएँ कैसी हैं, किस कोटि की हैं, उसका बाह्य और अन्तरंग सौन्दर्य हमारी चेतना

और सौन्दर्य दृष्टि को किस रूप में और किस कारण प्रभावित करता है, मेरे लिए इतना ही ज्ञातव्य है ।''

धर्मयुग में प्रकाशित लेख 'नयी कविता : भूमिका और हस्ताक्षर' में अज्ञेय की परवर्ती रचनाओं की प्रशंसा उसके कलात्मक सौष्ठव के कारण की है । अज्ञेय की रहस्यात्मक दीप्ति और निष्ठा की भी प्रशंसा बाजपेयीजी करते हैं ।

बाजपेयीजी का जीवन दर्शन उनके समग्र जीवनानुभव, अध्ययन और अनुशीलन का परिणाम है । बुद्धिवाद को वह 'अधूरा जीवन दर्शन' कहते हैं और इसीलिए धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' में उन्हें एकमात्र शैली का आकर्षण नजर आता है । इस कृति में संरचित अनास्था, मूल्यहीनता जैसे तत्त्व को बाजपेयीजी निरर्थक बताते हैं क्योंकि ये रुग्ण और कुण्ठित मनोवृत्ति के लक्षण हैं ।

आचार्य बाजपेयी की समीक्षा शैली व्याख्यात्मक, विवेचनात्मक और व्यंग्यात्मक है । परिमार्जित, संयत, गंभीर और संवेदनशील भाषा से सुसम्पन्न शैली में वैचारिक जीवन दर्शन मिलता है । वैदिक संस्कृति के समग्र जीवन दर्शन को उन्होंने साहित्य के मूल्यांकन का आवश्यक तत्त्व मानकर ग्रहण किया है और इसीलिए साहित्य में रचनात्मक जनतन्त्र की स्थापना का स्वप्न भी सँजोया है ।

डॉ० नगेन्द्र

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० नगेन्द्र—आलोचकों की इस बृहत्त्रयी में डॉ० नगेन्द्र अन्तिम कड़ी हैं । सैद्धान्तिक समीक्षा जहाँ शास्त्र और दर्शन से सम्बद्ध है वहीं व्यावहारिक समीक्षा रचनात्मक कृतियों पर आधृत है और आलोचक की रुचि, रागबोध तथा सौन्दर्यानुभूति की दिशा निर्धारित करती है, उनकी व्याप्ति और गहराई को बताती है । सच तो यह है कि किसी आलोच्य कृति में इनका समवेत आकलन महत्त्वपूर्ण आयाम बनता है ।

डॉ० नगेन्द्र ऐसे ही आलोचक हैं जिन्होंने अपनी सैद्धान्तिक आलोचना में काव्य-शास्त्र का गहन विश्लेषण भी किया और सहृदय व्यावहारिक आलोचना में सौन्दर्यानुभूति का विश्लेषण भी किया । इसी का परिणाम है कि दृष्टि की उदारता, अध्ययन की व्यापकता और गम्भीरता, विचारों की प्रौढ़ता, अभिव्यक्ति की प्रांजलता, दृष्टि की निर्मलता ये सभी दृष्टियाँ डॉ० नगेन्द्र में संकलित हो गयी हैं । अंग्रेजी साहित्य के कवियों, आलोचकों की मान्यताओं से प्रेरित होकर हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में अपनी मूल अवधारणा को विकसित किया । संस्कृत के भट्टनायक और अभिनवगुप्त से प्रभावित हुए किन्तु आचार्य शुक्ल के प्रभाव ने तो उन्हें आस्थावान बना दिया । वह स्वयं स्वीकार करते हैं कि "आरम्भ में ही आचार्य शुक्ल के प्रभाववश मेरे मन में भारतीय रस

सिद्धान्त के प्रति गहरी आस्था हो गयी। शुक्लजी का मेरे मन पर विचित्र आतंक और प्रभाव रहा है। मेरे अपने संस्कार शुक्लजी के संस्कारों से सर्वथा भिन्न थे। मेरा साहित्यिक संस्कार छायावादी युग में हुआ था। शुक्लजी सुधारयुग की विभूति थे। उनके निष्कर्षों को मानने के लिए मैं बिलकुल तैयार नहीं था। परन्तु उनके प्रौढ़ तर्क और अनिवार्य शैली मेरे ऊपर बुरी तरह हावी हो जाते थे और मैं यह मानने को विवश हो जाता था कि इस व्यक्ति की काव्य दृष्टि चाहे संकुचित हो, लेकिन फिर भी अपनी सीमा में यह महारथी अजेय है।''

पाश्चात्य आलोचकों में डॉ० नगेन्द्र ने आइ० ए० रिचर्ड्स और क्रोचे से प्रभाव ग्रहण किया। रस सिद्धान्त के मूल में वह मनोविज्ञान को स्वीकारते हैं। रस सिद्धान्त के आधार पर ही काव्य का सही मूल्यांकन सम्भव है। डॉ० नगेन्द्र रस को उसकी सम्पूर्ण व्याप्ति में ग्रहण करते हैं—"इस प्रकार रस एक व्यापक शब्द है, वह 'विभावानुभाव-व्यभिचारि संयुक्त स्थायी' अर्थात् परिपाक अवस्था का ही वाचक नहीं है वरन् उसमें काव्य की सम्पूर्ण भावसम्पदा का अन्तर्भाव है। अपारिभाषिक रूप में वह काव्यगत भावसौन्दर्य का पर्याय है; शब्दार्थगत चमत्कार के माध्यम से भाव के आस्वाद का अथवा भाव की भूमिका पर शब्दार्थ के सौन्दर्य का आस्वाद ही वस्तुतः रस है। काव्य के अनुचिन्तन से प्राप्त रागात्मक अनुभूति के सभी रूप और प्रकार—सूक्ष्म और प्रबल, सरस और जटिल, क्षणिक और स्थायी, संवेदन, स्पर्श, चित्त-विकार, भाव-बिम्ब, संस्कार, मनोदशा, शील—सभी रस की परिधि में आ जाते हैं।''

रस की व्याप्ति ने ही उसे डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में मूल्यांकन की शक्ति बना दिया है। लेकिन रस की व्याख्या वह संस्कृत काव्यशास्त्र की वस्तुनिष्ठता के आधार पर नहीं करते अपितु उसे आधुनिक शब्दावली देते हैं—"रस अपने व्यापक अर्थ में मानसिक अनुभूति ही है।'' या फिर "रस का मुख्य आधार अनुभूति, शुद्ध मानवीय अनुभूति ही है।'' भारतीय, पाश्चात्य दोनों प्रतिमानों का अन्तर्भाव उन्होंने 'रस' में दिखाया है। "रस सिद्धान्त एक ऐसा व्यापक सिद्धान्त है जिसमें इन वादों का विरोध मिट जाता है, जो सभी के अनुकूल पड़ता है और सभी का अपने स्वरूप में समन्वय कर लेता है।'' रस के विवेचन में डॉ० नगेन्द्र तीन प्रकार के संवेदनों का भी जिक्र करते हैं जो शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक हैं; जैसे किसी प्रिय वस्तु का अथवा कमल का स्पर्श शारीरिक संवेदन है, उस स्पर्श का स्मरण मानसिक संवेदन और उस स्मृति का विश्लेषण बौद्धिक संवेदन है।

डॉ० नगेन्द्र की आलोचना पद्धति आचार्य शुक्ल की व्याख्यात्मक पद्धति को विकसित करती है जैसा कि पहले ही डॉ० नगेन्द्र की स्वीकृति में आचार्य शुक्ल का

प्रभाव इंगित किया गया है। 'सुमित्रानन्दन पन्त' प्रथम आलोचना ग्रन्थ है जिसमें उनकी व्यावहारिक आलोचना का स्वरूप स्पष्ट हुआ है। आलोच्य कृति के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र तीन तथ्य केन्द्र में रखते हैं—कवि के निजी काव्य सौन्दर्य की परख, समूचे परिवेश का सन्दर्भगत वैशिष्ट्य और उसके परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण जीवन दृष्टि पर विचार। नगेन्द्रजी की आलोचना पद्धति सुस्पष्ट है जिसमें उनका आलोचक मन ही नहीं कवि मन भी जुड़ा हुआ है। पन्त ने इसका संकेत अपनी भूमिका में ही किया है—"श्री नगेन्द्र-जी स्वयं भी कवि हैं। अपने कविहृदय के माधुर्य से मेरे काव्य को और भी सुन्दर बनाकर वह पाठकों के सामने प्रस्तुत कर सके हैं। इसमें मुझे सन्देह नहीं।"

शास्त्रनिष्ठा के साथ यह सहृदयता अन्यत्र दुर्लभ है। रस, सौन्दर्य, आनन्द ये आत्मनिष्ठ स्थिति ही डॉ० नगेन्द्र की पहचान हैं और यह पहचान वस्तुनिष्ठ, समाजनिष्ठ सौन्दर्य को, आधुनिक बोध को अस्तित्ववादी जीवन दर्शन से नहीं जुड़ पाती है। इसी प्रकार नयी समीक्षा, रूपात्मक समीक्षा भी डॉ० नगेन्द्र को ग्राह्य नहीं है। वह जिससे प्रभावित होते हैं उसे विवेक की कसौटी पर कसते हैं, ग्राह्य को आत्मसात् करते हैं और अग्राह्य का तर्कपूर्ण विरोध करते हैं। उनका स्पष्ट मत है—"जो मुझे प्रभावित करते हैं—जिनकी गरिमा मेरे मन को आन्दोलित करती है उनसे फिर मैं जूझने लगता हूँ। अत्यन्त गहन अध्ययन, चिन्तन और विश्लेषण तो पहला कदम है। इसके बाद उसके ग्राह्य विचारों का आख्यान, अग्राह्य विचारों का युक्तियुक्त खण्डन, असंगतियों (अथवा मुझे प्रतीत होनेवाली असंगतियों) में संगति-स्थापना, उनकी सीमाओं का विस्तार और समग्रतः उनकी परम्पराओं का विकास करने की स्पृहा मेरे मन में बराबर बनी रहती है। इस प्रकार मैं अनेक महान् प्रतिभाओं की बड़ी शक्ति के साथ अपनी छोटी शक्ति को तौलता रहता हूँ। जिस व्यक्ति ने सबसे अधिक प्रभावित किया उसके साथ शक्ति परीक्षा भी मैंने सबसे अधिक की है।"

'आलोचक की आस्था' निबन्ध-संग्रह में नगेन्द्रजी की साहित्यिक मान्यताएँ स्पष्ट रूप में उभरकर आयी हैं। साहित्य से सम्बन्धित तमाम प्रश्न यहाँ उठाये गये हैं। डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में आत्माभिव्यक्ति का सूक्ष्म किन्तु उत्कृष्ट रूप सौन्दर्य सृष्टि हैं। काव्य का आत्यन्तिक प्रयोजन 'आनन्द' है। यह कहना असंगत नहीं है कि यह 'आनन्द' 'लोक कल्याण' और 'चेतना के संस्कार' को भी विचारणीय मानता है। दरअसल, लोक में स्व को विस्तार देकर 'आनन्द' का अनुभव किया जा सकता है, आखिर आचार्य शुक्ल की कसौटी है यह।

काव्य के तीन तत्त्वों—भाव, कल्पना और बुद्धि में डॉ० नगेन्द्र भाव को सर्वोपरि मानते हैं। काव्य के आस्वाद का आनन्द ही रसानुभूति का आनन्द है, जो काव्य का प्रयोजन भी है। इसी को डॉ० नगेन्द्र, 'काव्य मूल्य' मानते हैं—"काव्य मूल्य का अर्थ है

वह गुण या गुण समवाय, जिसके द्वारा काव्य की सिद्धि का निर्धारण किया जाता है। इस दृष्टि से मूल्य का आधार अन्ततः प्रयोजन ही सिद्ध होता है। काव्य का प्रयोजन जब रस या आस्वाद है तो उसका मूल्य हुआ 'आस्वाद्यत्व'। जिस काव्य में रागात्मक आस्वाद प्रदान करने की क्षमता जितनी अधिक होगी, उतना ही उसका मूल्य होगा।''

डॉ० नगेन्द्र अनुभूति और अभिव्यक्ति को अभिन्न मानते हैं, किन्तु अनुभूति को कवित्व की प्राणशक्ति मानने के कारण उसका स्थान अभिव्यक्ति से ऊपर है। दरअसल, अनुभूति अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का आधार है। 'बिम्ब मात्र' कविता है—इस आस्थाहीन चिन्तन को डॉ० नगेन्द्र मान्यता नहीं देते। बिम्ब कविता का आवश्यक उपकरण है पर एकमात्र उपकरण नहीं है।

डॉ० नगेन्द्र ने अपनी आलोचना सम्बन्धी मान्यताओं में जीवनी मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में सौन्दर्यानुभूति की व्याख्या प्रस्तुत की है। कहने का तात्पर्य है कि व्यक्तित्व को केन्द्र मानकर कृतित्व का मूल्यांकन किया गया है। पंत की जीवनयात्रा में पड़ने-वाले महत्त्वपूर्ण स्थलों, मोड़ों का नपे-तुले शब्दों में निर्देश करते हुए नगेन्द्रजी पन्त के स्वभाव का, काव्य के रूपरंग का और काव्य विकास का जो विश्लेषण करते हैं वही पुस्तक की उपलब्धि है।

डॉ० नगेन्द्र की प्रकृति व्यक्तिवादी भी है। इसका कारण था कि उनका साहित्यिक संस्कार छायावादी परिवेश में हुआ था। तुलसीदास का मूल्यांकन वह फ्रायडीय मनोविज्ञान के आधार पर करते हैं, लेकिन जीवनी मनोविज्ञान आदि आलोचना के साधन हैं साध्य नहीं, साध्य है सौन्दर्यानुभूति या कहें रसानुभूति।

'देव और उनकी कविता' आलोचना का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत करती है। यहाँ जीवनी मनोविज्ञान के साक्ष्य पर नगेन्द्रजी अपने मत को विश्लेषित करते हैं। वह रचनात्मक साहित्यकार हैं। 'प्रयोगवादी कविता' का जब नगेन्द्रजी रसवादी दृष्टि से मूल्यांकन करते हैं तो उन्हें निराश होना पड़ता है इसीलिए छायावादी रंगीनियों से संश्लिष्ट गिरिजाकुमार माथुर की कविता ही उन्हें आकर्षित करती है।

आधुनिक काव्य प्रवृत्तियों पर भी डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है। 'शैलीविज्ञान' पुस्तक भी एक तरह की व्यावहारिक आलोचना है। भारतीय पाश्चात्य मतों का उल्लेख करते हुए नगेन्द्रजी भारतीय काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से ही बँधकर रह जाते हैं। बोध और अनुशंसा आलोचना की प्रक्रिया तो है किन्तु सम्पूर्ण आलोचना नहीं, इसीलिए डॉ० बचन सिंह नगेन्द्रजी को "आलोचक प्राध्यापक मानते हैं, प्राध्यापक आलोचक नहीं। × × आलोचना उनकी आन्तरिक प्रेरणा का फल है, अध्ययन उनकी सहज प्यास है।''

व्यक्ति और कृतित्व को एक साथ विश्लेषित करके व्यावहारिक आलोचना का मार्ग प्रशस्त करने में डॉ० नगेन्द्र के योगदान का हिन्दी आलोचना शास्त्र ऋणी है।

डॉ० रामविलास शर्मा

डॉ० रामविलास शर्मा का नाम मार्क्सवादी समीक्षकों में अग्रगण्य है। मार्क्सवादी विचारधारा के दो रूप मिलते हैं—एक आधार और अधिरचना का अन्तस्सम्बन्ध, दूसरा स्वायत्तता का सवाल। पहले रचना को स्वायत्त नहीं माना जाता था, वह समाज युग से जुड़ती थी। युग को आधार बनाकर कृति का मूल्यांकन होता था। इसी आधार पर डॉ० रामविलास शर्मा ने भारतेन्दु, प्रेमचन्द, महावीरप्रसाद द्विवेदी, निराला, नागार्जुन तथा मुक्तिबोध की रचना का मूल्यांकन किया है। लेकिन अब रचना को लोक चेतना वर्गसंघर्ष सापेक्ष कहा जाता है। इन दो तत्त्वों की तलाश ही मार्क्सवादी विचारधारा की आलोचना-दृष्टि है। कार्ल मार्क्स के मत में 'सच्ची आलोचना की पहली शर्त है दुराग्रह से मुक्ति।' लेकिन हिन्दी के अनेक मार्क्सवादी आलोचक जो स्वायत्तता के मूल्य को सर्वोपरि मानकर चल रहे हैं इस दुराग्रह से मुक्त नहीं कहे जा सकते।

डॉ० रामविलास शर्मा हिन्दी साहित्य की विकास परम्परा का तर्कगत आधार पर सूक्ष्म मूल्यांकन करते हैं और उसमें निहित प्रगतिशील एवं प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को भलीभाँति पहचानकर अपनी पूरी शक्ति एवं आत्मविश्वास के साथ उन्हें प्रस्तुत करते हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य की गतिशील, स्वस्थ एवं जनवादी चेतना को इसी परिप्रेक्ष्य में परखने की चेष्टा की है। 'भारतेन्दु युग', 'निराला', 'प्रगति और परम्परा', 'साहित्य और संस्कृति', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना', 'भाषा साहित्य और संस्कृति', 'आस्था और सौन्दर्य', 'भाषा और समाज', 'निराला की साहित्य साधना' (तीन खण्डों में), 'भारतेन्दु युग और हिन्दी साहित्य की विकास परम्परा', 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण', 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' तथा 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी' डॉ० शर्मा की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। डॉ० शर्मा ने कला के सम्बन्ध में अपनी मान्यता प्रस्तुत की—"कला की विषयवस्तु न वेदान्तियों का ब्रह्म है, न हेगेल का निरपेक्ष विचार। मनुष्य का इन्द्रियबोध, उसके भाव, उसके विचार, उसका सौन्दर्यबोध कला की विषयवस्तु है।" डॉ० शर्मा की दृष्टि में कला और साहित्य दोनों में भेद नहीं है। साहित्य का सत्य उनकी दृष्टि में ऐतिहासिक-सामाजिक परिस्थितियों की उपज है। सत्य समाज सापेक्ष्य है चाहे दर्शन का हो अथवा जीवन का। साहित्य युग का दस्तावेज है और साहित्यकार युग की वाणी। अपने युग की ऐतिहासिक सीमाओं का अतिक्रमण कोई साहित्यकार नहीं करता है। इसीलिए मानव समाज के साथ नैतिक मान्यताएँ और मूल्य भी बदलते रहते हैं।

साहित्य समाज से रूप ग्रहण करके ही शिल्प की तलाश करता है। डॉ० शर्मा का मत है कि "साहित्य का शिल्प, उसके विभिन्न रूप सामाजिक विकास से ही संभव हुए हैं। जनता तक साहित्य पहुँचाने के साधनों में जो परिवर्तन हुए, उनका प्रभाव उनके रूपों पर भी पड़ा।" साहित्य के मूल्यांकन में वह विषयवस्तु की भूमिका को ही निर्णायक मानते हैं और इस दृष्टि से वस्तुनिष्ठता को उपेक्षणीय मानकर चलनेवाली समीक्षाओं की आलोचना करते हैं। भाषा और विषयवस्तु के घनिष्ठ सम्बन्धों को स्वीकारते हुए भी शैलीविज्ञान की आलोचना करते हैं। डॉ० शर्मा के मत में—"भाषा विचारशून्य नहीं हो सकती। इसलिए भाषा का विश्लेषण विचारों के विश्लेषण के अभाव में अधूरा माना जायेगा।"

सौन्दर्य की भी वस्तुगत सत्ता डॉ० शर्मा स्वीकारते हैं। वाह्य-जगत् में वस्तुगत सत्ता की अनुभूति इन्द्रियों द्वारा होती है। इन्द्रियाँ ही सौन्दर्य की परख करती हैं। वस्तु का गुण उसके सौन्दर्य का आधार बन जाता है। मानव मन सौन्दर्य की सत्ता का आधार नहीं है अपितु हमारे मन में सौन्दर्य के संस्कार हैं जो प्रकृति सौन्दर्य से प्रेरित होकर जागते हैं। इन्द्रियबोध पर ही भावों और विचारों का सौन्दर्य भी आधृत है। सौन्दर्य चेतना का विकास सामाजिक विकास के साथ ही होता है, इनमें सापेक्ष सम्बन्ध है। डॉ० शर्मा के विचार से—"सौन्दर्य की इस वस्तुगत सत्ता, सामाजिक विकास से उसके सापेक्ष सम्बन्ध, कला और साहित्य के रूपों के अनुसार उनकी विषयवस्तु की विविधता को ध्यान में रखकर ही हम सौन्दर्यशास्त्र का सही विवेचन कर सकते हैं।" (समालोचक, सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक)

मार्क्सवादी दृष्टि के कारण डॉ० शर्मा ऐसी आलोचना पद्धति को महत्त्व देते हैं जिसकी आधारभूमि वस्तुवादी चिन्तन हो, विषयवस्तु विवेचन जहाँ द्वंद्वात्मक पद्धति पर हो, रचना में संरचित प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी तत्त्वों की पहचान की गयी हो तथा जहाँ भावविचार की सापेक्षता में कला तथा भाषा संरचना का विवेचन हो, शुक्लजी का वस्तुवादी आधार ही डॉ० शर्मा को प्रभावित करता है। फिर लोक हृदय की पहचान, मर्यादा, आदर्श जैसे जीवनमूल्यों का स्वीकार ऐसे तत्त्व हैं जो शुक्ल-जी की आलोचना को 'सामाजिक आलोचना' जैसा विशेषण देते हैं और सामाजिक आलोचना की गहराई में जाने पर जो बिन्दु उभरते हैं वही बिन्दु प्रगतिवादी विचार-धारा को भी प्रभावित करते हैं। यही कारण है कि भारतेन्दु, निराला, मुक्तिबोध की रचनाएँ डॉ० शर्मा की आलोचना पद्धति के प्रतिमान स्थापित करती हैं। यह कहना ज्यादा सार्थक होगा कि डॉ० शर्मा ऐसे ही रचनाकारों को अपना विषय बनाते हैं जिनका मूल स्वर प्रगतिवादी अथवा जनवादी है। भारतेन्दु युग की प्रशंसा इसीलिए है—"भारतेन्दु युग का साहित्य हिन्दी भाषी जनता का जातीय साहित्य है, वह हमारे

जातीय नवजागरण का साहित्य है।'' महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य-जगत् में व्यवस्था परिवर्तन लाये थे इस नाते शर्माजी उनको महत्त्व देते हैं—"वे नयी सामाजिक चेतना का प्रसार करना चाहते थे, वे काव्य में रीतिवादी प्रवृत्ति के विरोधी थे।'' प्रेमचन्द, गोर्की के भारतीय संस्करण होने के नाते डॉ० शर्मा को प्रभावित करते हैं। प्रेमचन्द का साहित्य सच्चे अर्थों में जनता का साहित्य है। प्रेमचन्द उन विशिष्ट लेखकों में एक हैं 'जिनकी रचनाओं से बाहर के साहित्यप्रेमी हिन्दुस्तान को पहचानते हैं।' प्रेमचन्द का साहित्य तत्कालीन हिन्दुस्तान और उसके स्वाधीनता आन्दोलन का प्रतिबिम्ब है। वे महाजनी सभ्यता के विरोधी थे—'प्रेमचन्द की आवाज भारत की अजेय जनता की आवाज है। इसलिए प्रेमचन्द आज भी हमारे साथ हैं।'

निराला की साहित्य साधना में कवि व्यक्तित्व की विशेषताओं को डॉ० शर्मा ने रेखांकित किया है—"निराला की रचना प्रक्रिया का स्रोत है उनका भावबोध। यह भावबोध उनकी विचारधारा से सम्बद्ध है किन्तु उसका प्रतिबिम्ब नहीं है। × × नये मानवतावाद के प्रतिष्ठापक निराला के साहित्य में मनुष्य वीर, क्रान्तिकारी योद्धा, कवि, निरन्तर संघर्षशील; साथ ही अन्तर्द्वन्द्व, ग्लानि और पराजय से पीड़ित साधारण मनुष्य भी है। निराला सौन्दर्य और उल्लास के कवि हैं, दुःख और मृत्यु के भी।''

मुक्तिबोध का काव्य उनके आत्मसंघर्ष की गाथा है—"उनके आत्मसंघर्ष के अनेक स्तर हैं। एक स्तर है निम्न वर्ग की भूमि को छोड़कर सर्वहारा वर्ग से तादात्म्य स्थापित करने का।'' मार्क्सवादी विचारधारा को अपनाते हुए भी मुक्तिबोध भाववाद से मुक्त नहीं हो पाये। शमशेर बहादुर सिंह का काव्य रीतिवादी रोमानी सौन्दर्यबोध और मार्क्सवादी विवेक के द्वन्द्व का काव्य है। डॉ० शर्मा की दृष्टि में नागार्जुन का काव्य दृढ़ क्रान्ति भावना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

डॉ० शर्मा की इतिहास दृष्टि मार्क्सवादी है जो सामाजिक यथार्थ को महत्त्व देती है। साहित्य,समाज—दोनों परिवर्तनशील हैं अतः साहित्य के मूल्यांकन में ऐतिहासिक दृष्टि उपयोगी है। भाषा के विकास का अध्ययन भी सामाजिक विकास के सन्दर्भ में किया गया है। यथार्थ जगत् से सम्बद्ध साहित्य जनसामान्य को, उसके अन्तर्विरोध को केन्द्र में रखकर लिखा जाता है। सामाजिक स्थिति और व्यवस्था से यथार्थ जगत् की समस्याएँ जुड़ी हुई हैं। अतः जो साहित्य, सामान्य जन के हितों की उपेक्षा करता है, उसका विरोध होना चाहिए।

डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचना यात्रा का आरम्भ ही समाज और साहित्य की समस्याओं से टकराव की स्थिति में हुआ। लेकिन क्रमशः वह साहित्य समाज के जीवन्त सन्दर्भों से कटते हुए परम्परा और इतिहास की खोज में लग गये। इस परम्परा-प्रेम

ने, ऐतिहासिक खोज ने, उन्हें इतना उलझा दिया है कि मार्क्सवादी चिन्तन से वह हटते दिखाई देते हैं। कविता का प्रतिमान यथार्थवाद को बताकर वह तमाम प्रश्न-चिह्नों में उलझ जाते हैं। इसी प्रकार मार्क्सवादी दृष्टि की आलोचना में दुराग्रह द्वन्द्वात्मकता का ही दुश्मन नहीं है, वह कट्टरतावाद और अवसरवाद का पोषक भी है। जहाँ आलोचना में दृष्टि की जगह दुराग्रह ले लेता है वहाँ वस्तुपरकता तथा सत्यनिष्ठा—दोनों की हत्या होती है, लेकिन कहीं-कहीं डॉ० शर्मा में मैनेजर पाण्डेय को इस 'दुराग्रह' की झलक मिल जाती है। (आलोचना ८६ अंक) जैसा कि डॉ० रामचन्द्र तिवारीजी की मान्यता है कि—"बद्धमूल जीवनदृष्टि के बावजूद डॉ० शर्मा का विवेक आग्रहग्रस्त नहीं है। उनसे सहमत न होनेवाले समीक्षक और विचारक भी उनकी उपेक्षा करके आगे नहीं बढ़ सकते।"

डॉ० नामवर सिंह

साहित्य के रूप विश्लेषण के माध्यम से 'वस्तु' और 'रूप' के द्वन्द्वपूर्ण तनाव की पहचान करनेवाले आलोचक हैं—डॉ० नामवर सिंह। डॉ० नामवर सिंह अपनी मान्यताओं (जिन्हें पूर्वग्रह भी कहा जा सकता है) के कारण हमेशा विवाद के दायरे में भी आते रहे हैं। मार्क्सवादी और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों के व्यापक परिप्रेक्ष्य में आलोचना की जमीन तलाशनेवाले डॉ० सिंह मार्क्सवादी आलोचना को जहाँ समृद्ध करते हैं वहीं उसे चुनौती भी देते हैं। साहित्य की रूपगत अवधारणाओं का प्रयोग करते हुए भी वह रूपवाद या कलावाद के खतरों के प्रति उतने ही सचेत हैं जितने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। कुण्ठित समाजशास्त्र और पतनोन्मुख कलावाद के विरुद्ध नामवर सिंह सदैव संघर्षशील रहे हैं। साहित्य के अध्येता तथा समीक्षक को सचेत करते हुए वह कहते हैं कि—"साहित्य के भी अपने नियम हैं। रूपतत्त्व सम्बन्धी विशेषताएँ न जाने तो भौतिकवाद का सामान्य सिद्धान्त कोई मदद नहीं करेगा। साहित्य तथा उसके नियमों की जड़ें स्वयं साहित्य में ही नहीं हैं, बल्कि उसके बाहर हैं और बाहर का अर्थ है—वातावरण, परिस्थिति और समाज।" (इतिहास और आलोचना)

रेने वेलेक और एफ० आर० लीविस की भाँति नामवर सिंह भी सिद्धान्तशास्त्री न होकर साहित्यिक आलोचक हैं जिनके लिए आलोचना आस्वाद भी है, सार्थक विश्लेषण और मूल्यांकन भी। और इस दृष्टि से आलोचना एक संश्लिष्ट व्यापार बन जाती है जैसा कि डॉ० सिंह संकेत करते हैं कि "आलोचना का काम प्रतिमानों को सूत्रबद्ध करना नहीं है। वह दार्शनिकों का काम है।" डॉ० नामवर सिंह एक ओर यदि लूकाच को आदर्श मानकर विश्लेषण की निश्चित पद्धति से गुजरकर वस्तुपरक निष्कर्षों तक पहुँचने के पक्षधर हैं तो दूसरी ओर साहित्य के प्रति लीविस की एकनिष्ठ गम्भीरता से भी

प्रभावित हैं जिसमें गहन नैतिक बोध के साथ ही ठोस कृतियों पर सतत एकाग्र दृष्टि है, किसी प्रलोभन से भ्रष्ट न होनेवाली अविचल निष्ठा है और है चौतरफा विरोधी वातावरण के बीच निरन्तर संघर्ष करनेवाला एक व्यक्तित्व। यही कारण है कि डॉ० सिंह की आलोचना में ही अन्तर्विरोध लक्षित किय जा सकते हैं लेकिन ये अन्तर्विरोध उनकी गहन अन्तर्दृष्टि के संकेतक हैं। इसी व्यापक दृष्टिकोण के चलते डॉ० सिंह यदि हजारीप्रसाद द्विवेदी, निराला, मुक्तिबोध के रचनातत्त्व की पहचान करते हैं तो गहन संवेदनाओं के रचनाकार निर्मल वर्मा के 'परिन्दे' कहानी संग्रह की मुक्तहृदय से प्रशंसा करते हैं।

विचारधारा और साहित्य के सम्बन्धों के विषय में नामवर सिंह लिखते हैं-- "किसी साहित्यिक कृति के मूल्यांकन में राजनीतिक विचार हमेशा निर्णायक नहीं होता। लेखक की राजनीति, उसकी सम्पूर्ण जीवनदृष्टि या विश्वदृष्टि नहीं है, वह उस विश्वदृष्टि का एक अंश है जिसमें लेखक का सौन्दर्यबोध निर्धारित होता है और जिसकी अभिव्यक्ति स्वयं साहित्यिक कृति है। किसी कृति के अन्दर लेखक की राजनीति तथा चित्रित जीवन यथार्थ में कभी-कभी अन्तर्विरोध भी होता है।" यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि यह विवेक ही नामवर सिंह की व्यावहारिक आलोचना दृष्टि को अनुशासित करता है। नामवर सिंहजी की आलोचना का परिप्रेक्ष्य भले ही मार्क्सवादी हो पर दृष्टि व्यावहारिक ही है। रचना को जाँचने का काम वह सौन्दर्यशास्त्री की दृष्टि से करते हैं और मानते हैं कि कला की शर्तें जीवन की शर्तों के अतिरिक्त भी होती हैं। डॉ० सिंह के तर्क के अनुसार भी—"सौन्दर्यशास्त्र मार्क्सवाद के मूल में है, उसका बाई-प्रोडक्ट नहीं है, फोकट का माल नहीं है।" मार्क्सवादी आलोचना में निश्चित मान्यताओं पर रचना का मूल्यांकन किया जाता है लेकिन डॉ० नामवर सिंह की आलोचना पद्धति उनकी अपनी है। उनकी मान्यता है—"रूपविश्लेषण से अन्तर्वस्तु के विश्लेषण की ओर और अन्त में समग्रतः मूल्यनिर्णय।" यही वह आधार है जिससे "वे एक ओर शुद्ध कविता के समर्थक रूपवादी आलोचकों से लोहा लेते रहे हैं और दूसरी ओर कविता को समाज का पर्याय माननेवाली स्थूल समाजशास्त्रीय आलोचना से संघर्ष करते रहे हैं।" (कविता के नये प्रतिमान)

सार्थक मूल्य निर्णय की प्रेरणा नामवर सिंह को इसी साहित्यिक विवेक से मिली है। डॉ० सिंह की दृष्टि में आलोचना विश्लेषण ही नहीं, मूल्यांकन भी है। इसीलिए सूक्ष्म और जटिल काव्यानुभूति के रचनाकार मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा के काव्यसंसार का मूल्यांकन और सरलता तथा साधारण काव्यानुभूति के रचनाकार नागार्जुन और त्रिलोचन के काव्यसंसार का मूल्यांकन अलग प्रतिमानों की माँग नहीं करता क्योंकि साहित्य का रूप विश्लेषण उसकी 'साहित्यिकता' का ही विश्लेषण है।

'कहानी नयी कहानी', 'छायावाद' तथा 'कविता के नये प्रतिमान' पुस्तकों में नामवर सिंह की आलोचनादृष्टि सम्बन्धी विचारसूत्र मिल जाते हैं जिनकी सार्थकता मार्क्सवादी आलोचना के दायरे में आँकी जा सकती है। कहानी के पाठ विश्लेषण के माध्यम से कहानी समीक्षा की नयी पद्धति को विकसित करने की जरूरत को महसूस करते हुए डॉ० सिंह कहानी आलोचना की ओर आकृष्ट हुए—"हिन्दी कविता की अपेक्षा कहानी में स्वस्थ सामाजिक शक्ति कहीं अधिक है और आज उपन्यास की तरह कहानी सामाजिक परिवर्तन के लिए जोरदार साहित्यिक शस्त्र का काम कर रही है।" (कहानी नयी कहानी)

डॉ० नामवर सिंह कहानी और कहानी की सार्थकता एक मूल्य के रूप में परिभाषित करते हैं। अपने युग के मुख्य सामाजिक अन्तर्विरोध के सन्दर्भ में अपनी कहानियों की सामग्री चुननेवाले कहानीकार की सार्थकता को डॉ० सिंह रेखांकित करते हैं। डॉ० परमानंद श्रीवास्तव की टिप्पणी इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण है कि—"नामवर सिंह कहानी से 'प्रभावान्विति' की ही अकेली माँग नहीं करते—'जिन्दगी की मांसलता और छोटी-छोटी बातों के ब्योरे में बिखरी हुई ठोस वास्तविकता के चित्रण' की माँग भी करते हैं। बेशक, नामवर सिंह उन अनेक कहानियों के अन्तर्संगठन या सौन्दर्य मूल्य पर भी स्वीकृति की मुहर लगाते हैं जिन्हें मार्क्सवादी विचार या दृष्टि से कुछ लेना-देना नहीं है। वहाँ उनका साहित्यिक विवेक ही निर्णायक होता है।" यह साहित्यिक विवेक 'वापसी' के 'अकेलेपन' को भी सामाजिक की संज्ञा देता है।

डॉ० नामवर सिंह ने छायावादी कल्पना को भी स्वाधीनता संघर्ष से जोड़कर देखा है और छायावादी कवि की आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा को आत्मप्रसार की आकांक्षा के रूप में परिभाषित किया है। 'छायावाद' पुस्तक इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण है कि डॉ० सिंह ऐसे पहले समीक्षक हैं जो छायावादी सौन्दर्यबोध के पीछे स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में सक्रिय नयी नैतिकता की पहचान करते हैं और प्रकृति की विराटता बोध को वैज्ञानिक चेतना से सम्बद्ध करते हैं। छायावादी कवियों के शब्दप्रयोग से उनके व्यक्तित्व का सम्बन्ध जोड़ते हुए डॉ० सिंह नयी 'समीक्षा' की भाषिक संवेदना के निकट जान पड़ते हैं—"पन्त के शब्द अरूप और वायवी अधिक हैं क्योंकि वे कल्पनाप्रधान थे। प्रसाद के शब्द मधु की तरह प्रगाढ़ अधिक हैं क्योंकि वह गहन अनुभूतियों के कवि थे। निराला के शब्द अनेक प्रकार के हैं क्योंकि उनमें प्रवृत्तिबहुलता है—कहीं उनकी पदावली विराटता का बोध कराती है, कहीं विद्रोह का और कहीं गाढ़ता का।"

छायावाद में निहित सामाजिकता को तलाशनेवाले डॉ० नामवर सिंह का साहित्यिक सौन्दर्यशास्त्र भी अधिक व्यापक सामाजिक चिन्ता की जमीन पर स्थित है।

'कविता के नये प्रतिमान' में काव्य के रूपपक्ष पर अधिक बल दिया गया है। रूपवाद से संघर्ष के लिए रूपपक्ष पर अधिक बल देने की यह दलील डॉ० सिंह को 'रूपवादी समीक्षक' बना देती है। हालाँकि वह यह प्रमाणित करते हैं कि रूपतत्त्व की समीक्षा का अर्थ उनके लिए उतना सीमित, संकीर्ण और व्याकरणिक नहीं है जितना 'नयी समीक्षा' में है। मुक्तिबोध को 'अँधेरे में' कविता का विश्लेषण इस बात का प्रमाण है कि डॉ० सिंह का रूपविवेक मूल्यरहित या परिप्रेक्ष्यविहीन नहीं है। इस कविता का मूल तथ्य उनकी दृष्टि में अस्मिता की खोज है जो आधुनिक मानव की ज्वलन्त समस्या है। डॉ० सिंह कवि की विचारधारा को काव्यफल के सन्दर्भ में जाँचते हैं। 'कविता के नये प्रतिमान' में जिन आलोचनात्मक शब्दों को डॉ० नामवर सिंह अपना हथियार बनाते हैं वे शब्द नयी समीक्षा के शब्द हैं मसलन 'संरचना की सघनता', 'भावों की विडम्बना निर्मित जटिलता' आदि। लेकिन डॉ० सिंह ने इन शब्दों को अपने समय और परिवेश की रचनाशीलता से जोड़कर इन्हें एक खास अर्थवत्ता प्रदान की है। 'वस्तु को नागार्जुन के कवित्व की रचनाभूमि' माननेवाले डॉ० सिंह रस और ध्वनि जैसे प्रतिमानों को भी अपना समर्थन देते हैं—"रससिद्धान्त के तत्त्ववाद का एक व्यावहारिक पहलू भी है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।" काव्यभाषा की सृजनशीलता, काव्यबिम्ब, काव्यसंरचना, काव्यानुभूति की जटिलता और तनाव, विसंगति, विडम्बना जैसे काव्यतत्त्वों का विस्तृत विवेचन यहाँ मिलता है।

'दूसरी परम्परा की खोज' में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पर विचार के बहाने भारतीय संस्कृति और साहित्य की लोकोन्मुखी क्रान्तिकारी परम्परा को खोजने का सर्जनात्मक प्रयास किया गया है जो कबीर के विद्रोह और सूर के माधुर्य के बीच अर्थ-पूर्ण साम्य देखने में सक्षम है। जीवनी, कथा, संस्मरण, इतिहास और आलोचना के बीच इस अनोखी विधा का आविष्कार डॉ० नामवर सिंह ने अपनी आलोचना प्रकृति के अनुरूप किया है। दूसरी परम्परा की खोज में ऐतिहासिक विवेक अनिवार्य ठहराया गया है। परम्परा और प्रगति का सम्बन्ध इसी विवेक के आधार पर पहचाना जा सका है।

संवादहीनता ठहराव और घुटन को जन्म देती है। वह साहित्य में हो या समाज में, इसी ठहराव को तोड़ने के लिए 'वाद विवाद संवाद' पुस्तक आयी। इस पुस्तक में संगृहीत निबन्धों में डॉ० नामवर सिंह अत्यन्त बारीकी और बेबाकी से उन मुद्दों पर विचार करते हैं जो समकालीन भाषा, साहित्य और आलोचना कर्म की बुनियादी चिन्ताओं से सम्बद्ध है। व्यावहारिक आलोचना सम्बन्धी दृष्टि का परिचय इन शब्दों में मिल जाता है—"अपने सर्जनात्मक रूप में आलोचना कर्म मूलतः व्यक्तिगत प्रयास है, क्योंकि किसी कृति सम्बन्धी प्रत्येक सच्ची प्रतिक्रिया वैयक्तिक ही होती है।" आलोचना

का मूल धर्म आलोचना को ही स्वीकारते हुए डॉ० सिंह कहते हैं—"आलोचना अपनी कोख से ही आलोचनात्मक रही है।" या फिर "आलोचना औजारों का बक्सा नहीं, जिसे पाकर कोई आलोचक बन जाये। अक्ल हो तो एक पेचकस ही काफी है।"

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि डॉ० नामवर सिंह का आलोचनात्मक गद्य वैचारिक संघर्ष की चमक से सम्पन्न है। एक विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद के ऐतिहासिक आयाम के प्रति वे जितने सचेत हैं, साहित्य की प्रकृति की जटिलता के प्रति भी उतने ही जागरूक हैं। इस दुहरे अनुशासन का भरपूर फायदा उनकी आलोचना दृष्टि को मिला है।

डॉ० शिवकुमार मिश्र

डॉ० शिवकुमार मिश्र की दृष्टि में रचना के समान आलोचना भी एक गंभीर सामाजिक कर्म है। सामाजिक संलग्नता की यह चेतना जिस रचनाकार में दिखायी देती है उधर मिश्रजी की दृष्टि स्वीकार का उत्साह लेकर बढ़ती है। उनके आलोचना कर्म में वैचारिक संघर्ष की भूमिका स्पष्ट देखी जा सकती है। आलोचना कर्म में कामायनी और प्रसाद से शुरू होनेवाली विकास की गति 'मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन' और 'यथार्थवाद' तक बहुत तीव्र हुई है। मिश्रजी किसी एक लेखक को लेकर अपनी आलोचना दृष्टि नहीं बनाते। वह दर्शन, साहित्य तथा समाज को परस्पर अन्तर्ग्रथित समग्रता में देखने का आग्रह करते हैं। साहित्य के मूल्यांकन के लिए वह मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण की आवश्यकता पर बल देते हैं। मार्क्सवादी चिन्तन से अपनी आलोचना दृष्टि बनानेवाले मिश्रजी साहित्य की सामाजिक भूमिका को तो स्वीकारते हैं लेकिन रचना को विचारधारा में बदल देनेवाली दृष्टि का विरोध करते हैं—"जरूरत है साहित्य समीक्षा की एक ऐसी दृष्टि की जो साहित्य को उसके मूल उत्स से जोड़े रखकर भी उसकी सौन्दर्यात्मक मूल्यवत्ता का आख्यान कर सके।" (साहित्य और सामाजिक सन्दर्भ)

रस-सम्प्रदाय

काव्यात्मा की खोज में सबसे पहला नाम रस-सम्प्रदाय का है। 'रसो वै सः' कहकर उपनिषदों में भी रस और ब्रह्म को अभिन्न दिखाया गया। काव्य की चरम परिणति रस है। इसे प्रायः सभी आचार्यों ने मान्यता दी है—रसहीन काव्य कल्पना से परे है। भरतमुनि का ग्रन्थ नाटयशास्त्र रससूत्र को सर्वप्रथम स्पष्ट करता है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'। भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने 'संयोग' और 'निष्पत्ति' इन दो शब्दों को लेकर अपनी-अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। भट्टलोल्लट के अनुसार स्थायी भाव के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी का सम्बन्ध तथा संयोग का अभिप्राय सम्बन्ध से तथा निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति से है। इनके मत को उत्पत्तिवाद कहा जाता है। शंकुक के मत में विभावादि के संयोग से रति आदि स्थायी का अनुमान होता है। इनका सिद्धान्त अनुमितिवाद कहलाता है। भट्टनायक के अनुसार विभावादि के साथ संयुक्त होकर स्थायी भाव भावित होकर रसरूप में परिणत हो जाता है, यही रस निष्पत्ति है। रस का भोग होता है अर्थात् वह आस्वाद्य है, आस्वादरूप नहीं—यह मत भुक्तिवाद कहलाता है। चौथे और अन्तिम व्याख्याता अभिनवगुप्त के मत में अनुकर्त्ता में रस अभिव्यक्त होता है। भाव शाश्वत हैं लेकिन जब प्रसंगवश कोई अभिनेता अभिनय करता है तो वे अभिव्यक्त होते हैं। अभिनवगुप्त का यह सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद कहा जाता है। अभिनव का दर्शन मूलतः व्यक्तिवादी है किन्तु उन्होंने रस चक्र की पूर्णता अन्ततः सामूहिक रस चेतना में सिद्ध की है।

साहित्य में रस का महत्त्व वैसे भी स्वयंसिद्ध है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि और रस ध्वनि में रस को प्रतिष्ठा दी है। भोजराज भी रसोक्ति को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। रसबद्ध अलंकारों के रूप में रस की सत्ता आलंकारिकों ने भी स्वीकार की है। भामह के काव्यालंकार में 'रसवद्दर्शितस्पष्ट शृंगारादि रसं यथा'—स्पष्ट रस संकेत है। आचार्य दण्डी भी आलंकारिक होते हुए रस की पक्षधरता स्वीकारते हैं—

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितः।
येनमाद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥

रुद्रट का आग्रह भी ऐसा ही है। अग्निपुराणकार काव्य में चमत्कार की प्रधानता मानते हुए भी रस को काव्य का जीवन मानते हैं—'वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्'। वामन रीतिवादी आचार्य हैं फिर भी वह मानते हैं कि रस रीति की शोभा में योगदान करता है। यही रस की सार्थकता है। आचार्य विश्वनाथ ने

काव्य की परिभाषा ही दी है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् साहित्यदर्पणकार की मान्यता में प्रत्येक रसात्मक वाक्य काव्य है किन्तु यह उक्ति ही अनुचित है। इसी प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ के मत में चमत्कारी व्यंग्य अर्थ ही काव्य की आत्मा है 'काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव'। यह व्यंग्यार्थ भी सर्वत्र रस नहीं हो सकता।

रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर, अलौकिक, विलक्षण आदि विशेषण देने के बाद भी उसके स्वरूप-विश्लेषण का प्रयास हुआ। कवि अपनी अनुभूति को ही सार्वभौम रूप देता है और काव्यरस का आस्वाद कराता है। इसीसे जुड़ी बात साधारणीकरण की है जिसे सर्वप्रथम भट्टनायक ने इंगित किया। भट्टनायक ने इस नवीन उद्भावना के माध्यम से काव्यास्वाद के प्रश्न का समाधान सहज ढंग से कर दिया है। रस की सामाजिकगत अनुभूति को ही प्रमाण मानकर रस के आत्मगत स्वरूप को उद्घाटित किया है, इसीलिए रससूत्र के चारों व्याख्याताओं में भट्टनायक का मत अत्यधिक व्यावहारिक और सशक्त है। रसस्वाद तभी सम्भव है जब वह 'स्वगत' और 'परगत' दोनों ही सीमाओं से निकलकर सर्वसाधारण के अधिकार की वस्तु हो।

हिन्दी काव्यशास्त्र की परम्परा रीतिकालीन आचार्यों ने आरम्भ की और रस-सम्बन्धी बृहद् वाङ्मय प्रस्तुत किया। आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, डॉ० भगवानदास, डॉ० श्यामसुन्दरदास तथा पण्डित रामदहिन मिश्र सभी रस को आनन्दमय मानते हैं। रीतिकालीन आचार्यों ने काव्यशास्त्र विवेचन को अपना कर्म नहीं समझा अपितु नवरसों का परिचय मात्र उनका लक्ष्य था। युग की माँग के अनुरूप ही प्राय: सभी ने रसराज श्रृंगार को बताया। केशव ने 'रसिकप्रिया' में स्पष्ट कहा—

नवहु रस को भाव बहु तिनके भिन्न विचार।
सबको केशवदास हरि, नाइक है श्रृंगार ।।

चिन्तामणि का रस निरूपण मम्मट के मतानुरूप है। हाँ, साधारणीकरण की समस्या पर दृष्टिपात किया है और उनकी मान्यता है कि अलौकिक व्यंजना व्यापार द्वारा उन विभावों,अनुभावों तथा संचारियों का साधारणीकरण हो जाता है और पाठक / सामाजिक का हृदयगत स्थायी भाव भी रसरूप में परिणत हो जाता है—

साधारण व्यापारबल सब साधारण होइ।
नियत प्रभावहि में जदपि तदपि अपरिमित होइ ।।

रसाभिव्यक्ति की सीमा चिन्तामणि ने पुण्यवान् सहृदयों तक सीमित मानी है। सहृदयता के अभाव में रसास्वाद सम्भव ही नहीं है। कुलपति ने भी रसानुभूति की ब्रह्मानन्द से सदृशता दिखायी है। साधारणीकरण का प्रश्न भी इन्होंने उठाया है। आचार्य केशव, तोष, मतिराम, देव आदि ने रस विवेचन बड़े चलते ढंग से निबटा दिया है। सच तो यह है कि रसाभिव्यक्ति, साधारणीकरण, रसास्वाद आदि गम्भीर

विषयों पर चिन्तन करने को न आवश्यकता समझी गयी और न ही राजा, महाराजाओं के पास इन अवान्तर विषयों पर सोचने का अवकाश ही था। वे तो बस मुक्त छन्दों पर रीझनेवाले सहृदय थे। आगे चलकर चमत्कार, लोकोत्तर शब्दों का स्थूल अर्थ में प्रयोग होने लगा और शब्दों में यही अर्थ-विकृति काव्यमूल्यों में विकृति का कारण बन गयी।

आधुनिक साहित्यशास्त्र में भी रसविवेचन प्रमुख विषय बना। 'रसज्ञ रंजन' में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का मत है कि—"कविता को सरस बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। नीरस पद्यों का कभी आदर नहीं होता। × × रस ही कविता का सबसे बड़ा गुण है।" मैथिलीशरण गुप्त भी रस को काव्य का नित्य गुण मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रससिद्धान्त को एक सार्वभौम साहित्य सिद्धान्त के रूप में विकसित करने की कल्पना की थी। उनके मतानुसार "हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।"

रस की स्थिति कवि व सहृदय दोनों में समान रूप से मान्य है। कवि का कथन यदि रसहीन है तो सहृदय (पाठक) के हृदय में रस सुप्तावस्था में रहेगा, जाग्रत नहीं होगा और इसी प्रकार सहृदय में रस का अभाव हो तो कवि की संवेदना ही निष्फल हो जायेगी। अतः कविता हृदय से हृदय तक की यात्रा है यह कथन मनोवैज्ञानिक रूप से पूर्णतया सत्य है। रस व्यापक रूप में मानसिक अनुभूति है। छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद ने साहित्य में रस को सर्वोपरि माना है—'काव्य और कला' निबन्ध-संग्रह में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—"रस में लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है। × × रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनंदमय बना दी जाती हैं; इसलिए वह वासना का संशोधन करके उसका साधारणीकरण करता है।" जयशंकर प्रसाद ने एक ओर तो लोकमंगल की भावना से रस को संयुक्त करके उसे व्यापक बना दिया, वहीं साधारणीकरण जैसे सवाल को भी उन्होंने विवेच्य बनाया है। डॉ० रामकुमार वर्मा की दृष्टि में—"रस अमर है। वह काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग भी है। जब तक काव्य रहेगा, रस की सृष्टि निरन्तर होगी।"

रस ही वह तत्त्व है जिससे यथार्थवादी कला भी कला की अधिकारी बनती है। समष्टिगत काव्यचेतना का साधारणीकरण सिद्धान्त से सहसम्बन्ध है। प्रगतिवादी कविता में संघर्ष, वर्गचेतना, द्वन्द्व रस के अन्तर्गत उसी प्रकार ग्राह्य हैं जैसे प्रेम व शान्ति।

नयी कविता के सम्बन्ध में भी रस की समस्या उठायी गयी, क्योंकि नयी कविता सहज सम्प्रेषणीय नहीं होती जो रस का एकमात्र लक्ष्य है। क्षणांश की अनुभूति,

वैयक्तिक जीवन की उपेक्षा, बौद्धिकता, भावुकता का अभाव आदि नयी कविता की ऐसी विशेषताएँ हैं जो रसवादी साँचे का पूर्णतया अतिक्रमण करती हैं। किन्तु यहाँ भी रस का निषेध नहीं है। कवित्व यहाँ पर भी है। अतीत की जीवन्त अनुभूति वर्तमान में आज का कवि भी करता है। द्विवेदी युगीन संस्कारी कवि ने जहाँ 'महाभारत' की कथा को अधर्म के विरुद्ध धर्म की विजय कहकर आदर्श मूल्यों की स्थापना पर बल दिया, वहीं धर्मवीर भारती की कविचेतना ने उस युद्ध को 'अन्धायुग' नाम दे दिया। अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेरबहादुर सिंह, डॉ० जगदीश गुप्त मानवीय सह अनुभूति, संवेदना का बार-बार उल्लेख करते हैं। डॉ० जगदीश गुप्त के अनुसार—"रस एक विशेष मनःस्थिति में विशेष प्रक्रिया से निष्पन्न होता है।" अनुभूति की सचाई, अभिव्यक्ति की विशदता, व्यञ्जना की शक्ति और प्रतीकों में भावविस्तार—कविता है, वह रसवादी के द्वारा भी तिरस्कृत नहीं हो सकती है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि रससिद्धान्त मानववाद के दृढ़ स्तम्भ पर प्रतिष्ठित है। मनुष्य के अतीत, वर्तमान, भविष्य—तीनों से इसका सम्वन्ध है। रस जीवन का पर्याय है—रस का निषेध जीवन का निषेध होगा, जो इस अनास्थावादी युग में भी असंभव है। अतः रस का मानव-जीवन और कला के साथ शाश्वत सम्वन्ध है।

अलंकार-सम्प्रदाय

सुन्दर को सुन्दरतम बनाने की प्रवृत्ति ने अलंकार को जन्म दिया क्योंकि अलंकरण मानव की प्रकृति है। कवि तो ऐसा प्राणी है जो सौन्दर्य में ही नहीं विरूप में भी सौन्दर्य देखता है और अपनी अभिव्यक्ति को मनोरम बनाने का हर सम्भव प्रयास करता है। आचार्य वामन ने तो सौन्दर्य को ही अलंकार कहा है—"सौन्दर्यमलंकारः"। सौन्दर्य की व्यापकता में आचार्य वामन दोषों के त्याग और गुणों के उपादान पर भी बल देते हैं—"सदोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्" अलंकार से ही काव्य की उपादेयता है अर्थात् अलंकार काव्य की पहचान है तभी तो वामन ने वृत्ति में लिखा है कि "अलंकृतिः अलंकारः" अलंकृति से अलंकार एक हैं किन्तु साधनरूप में अलंकार का प्रयोग उपमा आदि के रूप में किया जाता है। वामन के मत में अलंकार भावात्मक अलंकृति है न कि शाब्दिक चमत्कार। कह सकते हैं कि वामन का चिन्तन एक ऐसे वैज्ञानिक का चिन्तन है जो वस्तु विश्लेषण आत्मनिरपेक्ष होकर करता है।

अध्यात्मवादी आचार्यों ने रस के सदृश अलंकार को भी 'ब्रह्मसंज्ञक' बताया। उनकी दृष्टि में 'ब्रह्म' 'अलं' का पर्याय है। शब्द और अर्थ अभिन्न हैं। ब्रह्मा की सृष्टि में जो तत्त्व 'ब्रह्म' रूप में है वही तत्त्व कवि की सृष्टि में 'अलं' रूप में अभिव्यक्ति पाता है और इसीलिए अलंकारशास्त्र के आदि आचार्य भामह ने अलंकारविहीन काव्य के अस्तित्व से ही इनकार किया है।

"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्"

भामह ने अलंकार के मूल में वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को माना है क्योंकि काव्य भाषा तथा शास्त्र और व्याकरण की भाषा में अन्तर है। भामह ने एक ओर अलंकार के स्वतंत्र अस्तित्व को प्रतिष्ठा दी, उसकी संरचना को न्याय, व्याकरण की भाषिक संरचना से अलग किया और दूसरी ओर उसे न्याय के समकक्ष भी ठहराया।

अलंकार शब्द अपने व्यापक अर्थ में काव्य-शोभा तथा काव्य-सौन्दर्यवर्धक शब्द हैं जैसा कि आचार्य दण्डी मानते हैं कि—

"काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते"

अर्थात् काव्य की शोभा बढ़ानेवाले धर्म को अलंकार कहते हैं; जैसे हारादि आभूषण कण्ठ आदि के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं वैसे ही उपमा आदि अलंकार शब्द और अर्थरूप अंग के सौन्दर्यवर्धक हुआ करते हैं।

'चन्द्रालोक' के रचयिता जयदेव ने तो यहाँ तक कहा कि कोई काव्य को अलंकाररहित मानता है तो अपने को पण्डित माननेवाला वह व्यक्ति अग्नि को उष्णतारहित क्यों नहीं कहता—

"अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥"

आचार्यों ने काव्य विवेचना प्रसंग में चारुता, कमनीयता, सौन्दर्य, रमणीयता आदि शब्दों के माध्यम से सौन्दर्य प्रतीति को काव्यात्म तत्त्व के साथ जोड़ दिया है, उसको ही अलंकार माना गया है। दरअसल, काव्य को जीवनाधायक अर्थात् अनिवार्य तत्त्व मानने की अपेक्षा उसे उत्कर्षाधायक तत्त्व मानना अधिक उपयुक्त है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अलंकार को इसी रूप में परिभाषित किया है। उन्होंने अलंकार को शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म माना है जो 'केयूर-अंगद' आदि आभूषणों को तरह अंग की शोभा बढ़ाते हैं। शब्द और अर्थ के शोभावर्धक ये धर्म अन्ततः काव्य के आत्मभूत रस ध्वनि की अभिव्यञ्जना में सहायक होते हैं—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

आचार्य मम्मट ने भी अलंकारों की अनिवार्यता से इनकार किया है—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणा वनलंकृती पुनः क्वापि।"

ध्वनि सम्प्रदाय के आविर्भाव के साथ ही अलंकार की प्रतिष्ठा घट गयी, उसका कार्य रस तथा ध्वनि की सहायता मात्र रह गया। 'वक्रोक्तिजीवित' के रचयिता कुन्तक

ने अलंकार को नियत धर्म नहीं माना। काव्य स्वयं अलंकृत होता है—"सालंकारस्य काव्यता" कुन्तक स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते। उनकी दृष्टि में यदि स्वभाव ही अलंकार है तो अलंकार्य क्या है ? अलंकार से शरीर अलंकृत होता है और यदि शरीर ही अलंकार है तो वह धारण किसे करेगा ?

अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार को सीमित अर्थ दिया था किन्तु रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि जैसे काव्य मूल्यों के विकास ने उसे व्यापक अर्थ दिया। प्रारम्भिक आचार्यों की अलंकार के प्रति रुझान पर डॉ० वेंकट शर्मा की टिप्पणी बहुत सटीक जान पड़ती है कि—"भामह का युग अलंकार विवेचन का किशोरकाल था अतः उसमें अभीष्ट प्रौढ़ता की न्यूनता भी थी। उस विशेषण में वैज्ञानिक क्रमबद्धता का भी अनुसरण नहीं है जिसका एक प्रमाण तो यह है कि भामह अलंकार विवेचन करते-करते दोष विवेचन की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं, जिनका तारतम्य अन्वेषित करने में कठिनाई उपस्थित होती है।"

अलंकार रस के उपकारक ही नहीं हैं रसाभिव्यक्ति के भी अनिवार्य माध्यम हैं। काव्यभाषा ही कृति को सशक्त बनाती है और प्रतिभाशील कवि की भाषा अलंकृत होती ही है। हाँ, अलंकारों की नुमायश करनेवाली कोई कृति शाश्वत नहीं होती। रचना में प्रयुक्त अलंकारों की स्थिति रस की अंगवर्त्तिनी यदि नहीं होती तो काव्य सहज सम्प्रेषित नहीं हो पाता। संस्कृत और मध्ययुगीन अनेक हिन्दी कवियों के अलंकार मोह ने कविता को दुरुह बना दिया है।

कवित्व अलंकार में निहित है और अलंकार शब्दार्थ के धर्म हैं ऐसा विचार हिन्दी के अनेक समीक्षाशास्त्रियों ने व्यक्त किया है। व्यापक अर्थ में अलंकार काव्य-शिल्प का पर्याय माना गया किन्तु सीमित अर्थ में उक्ति चमत्कार अथवा अभिव्यञ्जना शिल्प का। अलंकारवादियों ने अलंकार सिद्धान्त को काव्यात्मा की व्यापकता से जोड़ा लेकिन अलंकार सिद्धान्त देहवादी सिद्धान्त के रूप में काव्य के बाह्यपक्ष अथवा कलापक्ष का समर्थक रहा। वीरगाथा-काल की रचनाओं में भी अलंकार के उदाहरण मिल जाते हैं। कबीर ने अपनी रहस्यात्मक अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के लिए जिन उलट-बासियों का प्रयोग किया उसके मूल में विभावना, असंगति, विचित्र, विरोधादि अलंकार निहित हैं, जैसे—

"आकासे मुख औंधा कुवाँ पाताले पनिहारि।"

भक्तिकाल में अलंकार एक महत्त्वपूर्ण काव्य मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ, वह चाहे सूफीकाव्य परम्परा हो, चाहे रामकाव्य और चाहे कृष्णकाव्य। सौन्दर्य तत्त्व से जुड़कर भी यह तत्त्व अभिव्यक्ति को सशक्त बनाता है। अलंकारशास्त्र का प्रयोग रीतिकाल में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया क्योंकि चमत्कार सृष्टि रीतिकालीन

कवियों की परिवेशगत विवशता थी। केशव, बिहारी, सेनापति आदि कवियों का अलंकार विधान उनके रचनाशिल्प का प्रमुख अंग है। केशव के शब्दों में—

अलंकार कवितान के, सुनि-सुनि विविध विचार।
कविप्रिया केशव करी, कविता को सिंगार॥

चिन्तामणि द्वारा विवेचित अलंकार संस्कृत काव्यशास्त्र का हिन्दी रूपान्तर मात्र हैं। सरलता के मोह में लक्षण निष्प्राण तथा हल्का हो गया है और जहाँ यथावत् स्वीकार कर लिया गया है वह अत्यधिक सामासिक होने के कारण दुरूह तथा अस्पष्ट हो गया है। अलंकार की अनिवार्यता की पारस्परिक स्वीकृति यहाँ भी है—

"शब्द अर्थ तनु वर्णिये, जीवित रस जिय जानि।
अलंकार हारादि ते, उपमादिक मन मानि॥"

कुलपति ने भी अलंकार को 'हारादि भूषण' रूप में माना है।

"व्यंग जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह।
गुण गुण भूषण भूषणौ, दूषण दूषण एह॥"

प्रतापसाहि ने इस परम्परा का थोड़ा-सा हटकर उल्लेख किया और अलंकार का उद्देश्य शब्द और अर्थ को चमत्कृत करना बताया है—

"रस अरु व्यंग दुहूनतें जुदो परे पहिचानि।
अर्थ चमत्कृत सब्द में अलंकार सो जानि॥"

आधुनिक युग में अलंकारों का सायास प्रयोग धीरे-धीरे कम होने लगा। डॉ० कैलाश बाजपेयी के मत में—"अलंकारों द्वारा कविता को बोझिल बनाने की जो प्रथा अब तक काव्य में फैशन की तरह व्याप्त हो गयी थी—आधुनिक युग के प्रथम उत्थान में धीरे-धीरे कम होने लगी। सूक्ति और चमत्कार से हटकर शुद्ध अनुभूति को कविता में स्थान मिला।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि—"मैं अलंकार को केवल वर्णन प्रणाली मात्र मानता हूँ।" अन्यत्र शुक्लजी कहते हैं कि—"पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ये (अलंकार) साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य को भुलाकर इन्हींको साधन मान लेने से कविता का रूप कभी-कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता ही नहीं रह जाती।"

बाबू श्यामसुन्दरदास ने भी अलंकार को साधन माना है—"अलंकार यथार्थ में वर्णन करने की एक शैली है, वर्णन का विषय नहीं।

आधुनिक युग के समीक्षाशास्त्री अलंकार को बाह्य पक्ष मानते हैं क्योंकि वे काव्य की आत्मा का उत्कर्ष तो करते हैं पर वे काव्य की आत्मा नहीं कहे जा सकते।

काव्य के अन्य उपादानों में परिवर्तन के साथ ही परम्परागत अलंकार निरूपण के जर्जर ढाँचे को भी छायावाद ने नया सम्बल दिया। छायावाद में प्रयुक्त अलंकार को हम अलंकारध्वनि कह सकते हैं। डॉ॰ नगेन्द्र के शब्दों में—"गुण चित्तवृत्तिरूप हैं, अलंकार वाणी प्रसाधन हैं अर्थात् अभिव्यंजना को प्रभावशाली बनाने के उपकरण हैं, परन्तु मूलतः चित्तवृत्तिरूप होने पर भी जिस प्रकार गुण गौणरूप में शब्द और अर्थ : वर्णगुम्फ और शब्दगुम्फ से भी सम्बन्ध रखते हैं, इसी प्रकार मुख्य रूप से शब्द और अर्थ के धर्म-अभिव्यंजना के चमत्कार होते हुए भी अलंकार गौणरूप से चित्त को भी चमत्कृत करते हैं। आन्तरिक और बाह्यतत्त्व की यही सापेक्षिक प्रमुखता गुण और अलंकार का मुख्य अन्तर है – गुण मुख्यतः काव्य के आन्तरिक तत्त्व हैं और अलंकार बाह्य।"

सुमित्रानन्दन पन्त का भी मत कुछ इसी तरह का है—"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे काव्य की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं।" अलंकार वही सार्थक होते हैं जो उमंग के साथ धारण किये जाते हैं नहीं तो भारस्वरूप लगते हैं। रीतिकालीन कविता की अतिशय अलंकृति का मज़ाक उड़ाते हुए पन्त ने कहा—"स्वस्थ वाणी में जो एक सौन्दर्य मिलता है उसका कहीं पता नहीं। उस "सूधे पाँय न धरि सके सोभा ही के भार" वाली ब्रज की वासकसज्जा का सुकुमार शरीर अलंकारों के अस्वाभाविक बोझ से ऐसा दबा दिया गया, उसके कोमल अंगों में कलम की नोक से असंस्कृत रुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप कहीं दीख ही नहीं पड़ता।"

बेरोज़गारी, भूख की समस्या ने जीवन के प्रति अनास्था और कुण्ठा को ही जन्म दिया। इन्हीं प्रवृत्तियों के बीच प्रयोगवादी कविता अथवा नयी कविता का आविर्भाव हुआ। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' जैसा कवि मानने लगा कि उपमान मैले हो गये हैं और प्रतीकों के देवता कूच कर गये हैं लेकिन यही कवि नायिका का सौन्दर्यांकन करने में उपमा का निषेधात्मक स्वीकार करता है—

"अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता
या शरद के भोर की नीहार न्हायी कुई
टटकी कली चम्पे की···"

नयी कविता परम्परा से हटकर कवि 'नायिका' को अनुपमेय सिद्ध करने के लिए भी उपमान का प्रयोग कर रहा है। अलंकृति सायास नहीं है; जहाँ है भी, अभिव्यक्ति में सहायक है।

रीति-सम्प्रदाय

रीति को काव्यमूल्य के रूप में प्रतिष्ठा भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में ही मिल गयी थी। स्पष्टतः रीति का उल्लेख न करते हुए भी उन्होंने भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। प्रवृत्तियों का सम्बन्ध नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार से था।

रीति की स्पष्ट चर्चा सर्वप्रथम भामह के 'काव्यालंकार' में मिलती है पर वहाँ वैदर्भ और गौड़ की चर्चा रीति रूप में न होकर काव्यभेद के अन्तर्गत है। आचार्य दण्डी ने सर्वप्रथम रीति के अर्थ में 'मार्ग' और 'वर्त्म' जैसे शब्दों का प्रयोग किया। वाणी के मार्ग की अनेकता को स्वीकारते हुए उनमें सूक्ष्म भेद की बात की। रीति को दण्डी ने आत्मगत तत्त्व माना और यह भी स्पष्ट किया कि प्रत्येक कवि की अपनी रीति होती है।

'रीतिरात्मा काव्यस्य' के उद्घोषक आचार्य वामन ने रीति को सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। वामन ने विशिष्ट पदरचना को रीति कहा—"विशिष्टपदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।" रचना का सौन्दर्य रीति पर आश्रित है। वामन की परिभाषा का अर्थ बस इतना ही है कि सम्यक् पदरचना का नाम रीति है। काव्य की आत्मा है रीति और रीति की आत्मा है गुण। गुण नित्य धर्म है, जब कि अलंकार अनित्य; किन्तु वामन ने गुण और अलंकार दोनों को शब्द अर्थ का धर्म माना है। आनन्दवर्धन ने रीति को 'संघटना' कहा है। उनके मत में सम्यक् पदरचना ही संघटना या रीति है। वह मात्र साधन है। संघटना ही गुणों का आश्रय लेकर रस की अभिव्यक्ति करती है—"सा संघटना रसादीन् व्यक्तिगुणानाश्रित्य तिष्ठतीति" आनन्दवर्धन की संघटना में तीन विशेषताएँ हैं—१. समासाश्रित, २. गुणाश्रित, ३. रसादि की माध्यम। रचना किसीका माध्यम नहीं है वह स्वतः अलंकृति है, सौन्दर्य है।

मम्मट 'नियत वर्ण व्यापार' को रीति मानते हैं। रीतियों का आधार समास नहीं अपितु वर्णों का गुम्फन है। वर्ण गुम्फन के नियामक गुण हैं जिसके माध्यम से रसाभिव्यक्ति होती है।

आचार्य विश्वनाथ कहते हैं—"पदसंघटनारीतिरंगसंस्था विशेषवत् उपकर्त्री रसादीनां।" अर्थात् पदों की संघटना रीति है, वह अंगसंस्थान के समान है और रस आदि का उत्कर्ष करती है।

कुन्तक ने रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का प्रयोग किया है। मार्ग कविस्वभाव पर आधारित हैं—सुकुमार, विचित्र और मध्यम, ये तीनों मार्ग कविस्वभाव से जुड़कर व्यक्तिनिष्ठ हो जाते हैं। स्वभाव को केन्द्र में रखकर यदि हम रीति विवेचन करने

बैठेंगे तो—"हरि अनेक हरि कथा अनंता" वाली बात सिद्ध हो जायेगी। फिर भी कुन्तक की 'कवि प्रस्थान हेतु' एक उपलब्धि है—

"सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥"

रीतियों की संख्या के विषय में भी मतविभेद है। आचार्य वामन ने रीतियों के तीन प्रकार माने हैं—वैदर्भी, गौडीया तथा पाञ्चाली। वैदर्भी में सभी गुणों का समावेश है। गौडीया में ओज और कान्ति गुण होते हैं। यह रीति समासबहुल है। पाञ्चाली में माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणों की प्रधानता है। रुद्रट ने एक चौथी रीति को नाम दिया, लाटीया। राजशेखर ने वामन की रीतियों को मान्यता देते हुए एक 'मैथिली' रीति का उल्लेख किया। भोजदेव छः रीतियाँ बताते हैं—वैदर्भी, पाञ्चाली, लाटीया, गौडीया, अवन्तिका और मागधी। अन्ततः आञ्चलिक आधार पर रीतियों के नामकरण का विरोध हुआ। किन्तु रीति का विवेचन मान्य हुआ, क्योंकि वामन ने काव्य को विशिष्ट प्रकार का बंध माना है और यह बन्ध शब्दार्थों का होता है। वामन की दृष्टि इस सन्दर्भ में वस्तुनिष्ठ और व्यावहारिक है। काव्य बंध के अतिरिक्त है क्या? वामन की दृष्टि में रीतियों में काव्य उसी प्रकार सुशोभित है जैसे रेखाओं में चित्र। रीति की आत्मा गुणविवेचन कहकर वामन विषय की वैज्ञानिकता को स्वर देने में सक्षम हुए हैं और यही वह बिन्दु है जो रीति को शैली जैसे तत्त्व से जोड़ देता है।

हिन्दी की नाथ सिद्धों की परम्परा में उलटवासियाँ, विरोधमूलकता, आलंकारिकता और प्रतीकयोजना उनके रीतिगत वैशिष्ट्य को ही प्रकट करती हैं। रीतिकाल में यूँ तो चामत्कारिक और अलंकृत काव्य की रचना ही हुई फिर भी रीति सम्बन्धी विवेचन मिलता है। रीति का प्रयोग यहाँ दो रूपों में मिलता है—

१. काव्यशास्त्रीय विधान के अर्थ में।
२. वैदर्भी आदि रीतियों के अर्थ में।

चिन्तामणि ने रीति को काव्यशास्त्रीय विधान के अर्थ में लिया है—

"रीति सुभाषा कवित्त की बरनत बुध अनुसार।"

जब कि केशव के द्वारा प्रयुक्त रीति शब्द शास्त्रीय विधान की अपेक्षा 'व्यवहार' अर्थ का वाचक है—

"मुग्धा लज्जा प्राइ रति वर्णत हैं इति रीति।"

संस्कृत काव्यशास्त्र इन रीतिकालीन आचार्यों का उपजीव्य रहा है। कुलपति ने वृत्त्यनुप्रास के अन्तर्गत उपनागरिका आदि वृत्तियों का निर्देश किया है—

"वैदर्भी गौडी कहत पुनि पांचाली जानि।
इनहीं सों काऊ कवी बरनत रीति बखानि॥"

देव ने रीति को काव्य का द्वार और रस से अभिन्न माना है पर उनकी यह धारणा गुण के सम्बन्ध में है। गुण को वह रस का नित्य धर्म मानते हैं।

द्विवेदी युगीन समीक्षा में रीति और शैली को एक मानकर चलने की प्रवृत्ति उभरती है। पंडित रामदहिन मिश्र के शब्दों में-"शब्दार्थ शरीर काव्य के आत्मभूत रसादि का उपकार करने, प्रभाव बढ़ानेवाली पदों की जो विशिष्ट रचना है उसे रीति कहते हैं।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीति की स्पष्ट परिभाषा न करते हुए भी एक स्थल पर लिखा कि—"रीति का विधान शुद्ध बाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है। इस दृष्टि से कोमल रसों में, कोमल वर्णों और रौद्र, भयानक आदि उग्र और कठोर रसों में परुष और कठोर वर्णों का प्रयोग अच्छा बताया गया है।" शुक्लजी का रीति विवेचन पेटर तथा रेनेवेलेक जैसे पाश्चात्य चिन्तकों से प्रभावित रहा है। यह अवश्य है कि शुक्लजी ने उसे भारतीय परम्परा के अनुकूल अपनाया है। रीति के वस्तु तथा विधान पक्ष, दोनों को समन्वित रूप में अपना करके रीति की महत्ता रसोत्कर्ष रूप में स्वीकार की है।

डॉ० नगेन्द्र रीति को शैली मानते हैं—"यूरोप के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट शैली के तत्त्व नामान्तर से रीति के तत्त्वों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं—अथवा रीति के तत्त्वों का उपर्युक्त शैली तत्त्वों में अन्तर्भाव हो जाता है।" किन्तु भारतीय रीति कहीं भी व्यक्ति तत्त्व का निरूपण नहीं करती है। रीति के आधार पर काव्य रचना का विश्लेषण वस्तुनिष्ठ होता है जब कि शैली आत्मनिष्ठ तत्त्व है। शैली में दो तत्त्व समाविष्ट हैं—व्यक्ति तत्त्व और देश-काल-संस्कृति का तत्त्व। संघटना में जो वस्तुनिष्ठता है, शैली उससे अलग है। शैली देश-काल से प्रभावित होती है—जैसे आभिजात्य शैली, रोमैण्टिक शैली कही जाती है। संघटना को हम इस तरह का नाम नहीं दे सकते हैं। रीति की वस्तुनिष्ठता का परिहार करने के लिए ही कुन्तक ने 'मार्ग' की परिकल्पना की थी। हाँ, जहाँ तक भाषिक दृष्टि से संरचना के आधार पर रचना का मूल्यांकन अथवा विश्लेषण की बात है, आधुनिक समीक्षा सिद्धान्त रीति जैसे तत्त्व से स्वयं ही जुड़ जाता है।

प्रत्येक युग की शैली परिवेश के साथ जुड़कर जीवन्त होती है; जैसे यदि लाक्षणिकता, बिम्बविधान, सांकेतिकता, भाषा अलंकृति, नवीन शब्दों की उद्‌भावना छायावादी शैली की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं तो प्रगतिवादी काव्य शैली में ये कविता की सम्प्रेषणीयता में अवरोधक तत्त्व हैं। निराला की शैली का समासप्रधान होना उनके व्यक्तित्व की ओजस्विता है। इसके विपरीत कवि सुमित्रानन्दन पन्त की शैली में जो कोमलता और मधुरता है वह कवि को एक सुकुमार कवि की सीमारेखा से बाहर ही

नहीं होने देती है। जयशंकर प्रसाद अनुभूति के कवि हैं और उनका कवि कर्म उनकी दार्शनिकता का प्रमाण है।

शिल्प की दृष्टि से नयी कविता सर्वाधिक समृद्ध है। नयी कविता जहाँ 'प्रास के रजत पाश से मुक्त' हो चुकी है, 'छन्दों की पायलें उतार चुकी हैं', 'उपमान मैले हो गये हैं' तथा 'उसके प्रतीकों के देवता कूच कर गये हैं' वहाँ प्रतिमानों की बात निस्सन्देह बेमानी है, फिर भी कविता भाषा का संघटन है इससे तो इन्कार नहीं किया जा सकता।

युग-परिवर्तन के साथ काव्य मूल्य, सौन्दर्य मूल्य और जीवन मूल्य भी तेजी से बदल रहे हैं। इनके बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती, फिर भी रीति व शैली एक काव्य मूल्य के रूप में स्थित रहेंगे।

ध्वनि-सम्प्रदाय

व्याकरण सिद्धान्त का स्फोट सिद्धान्त ही ध्वनि सिद्धान्त है। स्फोट का अभिप्राय है—"स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोटः"—अर्थात् जिस शब्द से अर्थ फूटता है, अभिव्यक्त होता है वह स्फोट है। उदाहरणार्थ—घट शब्द का जब हम उच्चारण करते हैं तो 'घ' के उच्चारण के बाद 'ट' का उच्चारण होता है और जब हम 'ट' का उच्चारण करते हैं तो 'घ' शून्य में विलीन हो जाता है और दोनों का साथ उच्चारण सम्भव नहीं। अतः वैयाकरणों ने नित्य शब्द की कल्पना की और उसे स्फोट का नाम दिया। वर्ण नष्ट हो जाता है ध्वनि अथवा स्फोट शेष रहता है, यही कारण है कि जैसे-जैसे वर्ण उच्चरित होता है वैसे-वैसे स्फोट स्पष्ट होता जाता है, अन्तिम वर्ण के उच्चारण के पश्चात् सभी स्फोट समवेत होकर शब्दार्थ को अभिव्यक्त करते हैं।

आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में काव्य की आत्मा ध्वनि बतायी—"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।" आनन्दवर्धन ने अपने से पूर्ववर्ती विद्वानों के मत का उल्लेख किया है जिसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। आनन्दवर्धन ही ध्वनि सम्प्रदाय के प्रणेता हैं। अभिनवगुप्त ने इसकी टीका 'ध्वन्यालोकलोचन' लिखकर इस सम्प्रदाय को और पुष्ट कर दिया है।

ध्वनि की परिभाषा आनन्दवर्धन ने इन शब्दों में की—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृत स्वार्थो।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥"

अर्थात् जहाँ अर्थ 'स्व' को अथवा शब्द अपने को गुणीभूत करके अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वान् लोग ध्वनि कहते हैं। यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा चमत्कारी होता है। जिस प्रकार दीपक अपने आलोक से दूसरों को तो

प्रकाशित करता ही है, स्वयं भी प्रकाशित होता है उसी प्रकार वाच्यार्थ भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराता हुआ स्वयं भी प्रतीत होता है।

अभिनवगुप्त द्वारा की गयी ध्वनि की व्याख्या के आधार पर पाँच व्युत्पत्तिपरक अर्थ विद्वानों ने लिये हैं—

(१) ध्वनति यः स व्यंजकः शब्दः ध्वनिः—(जो ध्वनित करे या कराये वह व्यञ्जक शब्द ध्वनि है।)

(२) ध्वनिति ध्वनयति वा यः सः व्यञ्जको अर्थ ध्वनिः—(ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।)

(३) ध्वन्यते इति ध्वनिः—(जो ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इसके अन्तर्गत व्यंग्यार्थ के तीनों रूप--रस, वस्तु और अलंकार आ जाते हैं।)

(४) ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः—(जिसके द्वारा ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इसमें शब्द अर्थ के चमत्कार, व्यंजना आदि शक्तियों का बोध होता है।)

(५) ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः—(जिसमें वस्तु, अलंकार और रसादि ध्वनित हो उस काव्य का नाम ध्वनि है।)

ध्वनि काव्य की आत्मा है फिर भी मात्र ध्वनि से ही काव्य रचना सार्थक नहीं होती। ध्वनि के साथ ही शब्द और अर्थ को गुण अलंकार से भी संयुक्त होना अनिवार्य है। आचार्य विश्वनाथ की मान्यता है कि व्यंग्यरूप अर्थ ही अतिशय चमत्कारी हुआ करता है और इसी आधार पर ध्वनि काव्य श्रेष्ठ काव्य प्रकार है—

"वाच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ।"

एक रसवादी आचार्य होने के नाते आचार्य विश्वनाथ ने यह अवश्य कहा है कि "किसी काव्य प्रबन्ध को ध्वनि काव्य इसलिए कहा जाता है क्योंकि कोई न कोई रस वहाँ प्रधान रूप से अभिव्यंग्य रहता है। जहाँ-तहाँ प्रतीत वस्तु ध्वनियाँ, अलंकार ध्वनियाँ और विविध रसभावादि ध्वनियाँ तो ऐसे काव्य में, ऐसे प्रधान रूप से आस्वाद्य रस में, गुणीभूत हो, रहा करती हैं। वस्तुतः ध्वनिकार का यही ध्वनिकाव्यवाद है।

ध्वनिवादियों की दृष्टि में अलंकार आदि का ग्रहण वाच्यार्थ में होता है और ध्वनि का ग्रहण प्रतीयमान अर्थ में। रसध्वनि, अलंकारध्वनि तथा वस्तुध्वनि का ग्रहण भी इसीके अन्तर्गत है। अभिनवगुप्त ने भी रस के कारण ध्वनि की महत्ता प्रतिष्ठित की है। कुन्तक ने ध्वनि की स्वीकृति में ही प्रतीयमान और व्यंग्य दोनों का प्रयोग किया। ध्वनिमत के उन्नायकों में आचार्य मम्मट भी प्रमुख हैं—ये मूलतः ध्वनिवादी हैं। 'काव्यप्रकाश' के पञ्चम उल्लास में समस्त विरोधी मतों का खण्डन करके वह व्यंजना

की स्थापना करते हैं। उनकी काव्य परिभाषा—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" में—'सगुणौ' शब्द में ध्वनि का संकेत मिल जाता है। रुय्यक, विद्याधर आदि आचार्यों ने भी इस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा में योग दिया है। पंडितराज जगन्नाथ ध्वनिसमर्थक आचार्य हैं। रसादि की संलक्ष्यक्रमता की मौलिक विवेचना आपने प्रस्तुत की है। अर्थात् संलक्ष्यक्रमध्वनि वहाँ होती है जहाँ वाच्यार्थ की प्रतीति व्यंग्यार्थ से पहले हो जाती है। जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' ग्रन्थ ध्वनि सम्प्रदाय का अन्तिम प्रौढ़ ग्रन्थ है।

ध्वनिवादियों ने काव्य की तीन कोटियाँ मानी हैं—ध्वनिकाव्य, गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्रकाव्य। उच्चकोटि का काव्य ध्वनिकाव्य, मध्यम श्रेणी का गुणीभूत व्यंग्य और निकृष्टकोटि का काव्य चित्रकाव्य को माना है। मम्मट ने इसी सन्दर्भ में उत्तम, मध्यम और अधम काव्यकोटियाँ मानी हैं।

काव्यत्व कहाँ है ? वाच्यार्थ में, लक्ष्यार्थ में अथवा व्यंग्यार्थ में ? वस्तुतः वाच्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ के बीच एक प्रकार का तनाव होता है और यह तनाव काव्यार्थ की सृष्टि करता है। पाठक के हृदय पर पड़नेवाला यह तनाव ही चमत्कार, चारुता, सौन्दर्य विच्छित्ति, भणित आदि नामों से जाना जाता है। आनंदवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त का इतने कौशल से विवेचन, विश्लेषण किया है कि वह एक प्रतिमान बन गया है।

हिन्दी साहित्याचार्यों ने संस्कृत की उत्तरध्वनिकालीन परम्परा ग्रहण की और इसके प्रमुख आचार्य कुलपति मिश्र हुए। इन्होंने काव्य पुरुष का जीव व्यंग्य को बताते हुए आनंदवर्धन की परम्परा का अनुमोदन किया—

"मिलि विभाव, अनुभाव अरु संचारी सु अनूप।
व्यंग कियो थिर भाव जो सोई रस मुख भूप॥"

प्रतापसाहि को भी ध्वनिवादी कहना ही उपयुक्त है। 'काव्यविलास' और 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' जैसे ग्रन्थ ध्वनि की पक्षधरता के सार्थक उदाहरण हैं—

"व्यंग जीव है कवित में सब्द अर्थ गति अंग।
सोई उत्तम काव्य है बरने व्यंग प्रसंग॥"

× × ×

"काव्य अपेक्षा अरथ की, व्यंग चमत्कृत होइ।
शब्द अर्थ में प्रकट जो धुनि कहियत है सोइ॥"

कुमार मणि के रसिक विलास पर मम्मट का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। कहना न होगा कि रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत ध्वनि परम्परा का ही रूपान्तर मात्र प्रस्तुत किया।

बीसवीं शती के आरम्भ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ध्वनि को भाषा प्रयोग जैसे तत्त्व से संयुक्त किया। उन्होंने 'रसज्ञरंजन' में लिखा कि—"बहुत से ऐसे शब्द हैं जो सामान्य रीति से एक ही अर्थ व्यञ्जक हैं किन्तु विशेष ध्यानपूर्वक देखने अथवा धातु के अर्थ का विचार करने से पृथक्-पृथक् शब्दों में पृथक्-पृथक् शक्तियों का गर्भित रहना प्रकट होता है।" लक्ष्मीनारायण सुधांशु भी मानते हैं कि "इतिहास का काम शुद्ध अभिधा से हो जाता है पर काव्य में लक्षणा, व्यञ्जना अपेक्षित है।" पंडित रामदहिन मिश्र संस्कृत साहित्यशास्त्र की ध्वनि सम्पत्ति से हिन्दी काव्यशास्त्र को समृद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इन्होंने रसध्वनि को काव्य का प्राण कहा है—"जिस अर्थ वैलक्षण्य की लोकोत्तर अनुभूति से चित्त एक अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त कर ले, वह चमत्कार है।"

आचार्य शुक्ल रस को व्यञ्जना से उत्पन्न मानते हुए कहते हैं कि-"यदि व्यञ्जना किसी तथ्य की व्यञ्जना करती है तो यही कि व्यञ्जित भाव की श्रोता या दर्शक के द्वारा रसरूप में अनुभूति होती है। इस प्रकार रस व्यञ्जना द्वारा उत्पन्न होता है।" डॉ० नगेन्द्र ध्वनि विचार की मनोवैज्ञानिक सत्यता पर विचार करते हुए कहते हैं कि—"ध्वनि स्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पना तत्त्व के महत्त्व की ही प्रतिष्ठा की है।" आचार्य शुक्ल की तरह डॉ० नगेन्द्र भी मानते हैं कि रस से ध्वनि में रमणीयता आती है। डॉ० भोलाशंकर व्यास के शब्दों में—"व्यञ्जना ही काव्य की कसौटी है।" छायावादी कविता अभिव्यञ्जनावाद से पूर्णतया प्रभावित है। यही कारण है कि इस कविता में सूक्ष्मतम भावों के व्यञ्जक चित्र मिलते हैं। सुमित्रानंदन पन्त 'पल्लव' की भूमिका में लिखते हैं कि —"भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय रूप है। यह विश्व के हृत्तन्त्री की झंकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।" आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का ध्वनि विवेचन भी रसाश्रित है—"ध्वनि सिद्धान्त का आविर्भाव वास्तव में रस की व्याख्या के लिए किया गया। उसे स्वयं में कोई सम्प्रदाय नहीं कहा जा सकता। × × काव्य में रस की निष्पत्ति का विवेचन करते हुए उसने प्रतिपत्ति की कि रस ध्वनित होता है अर्थात् अनुभूत होता है। ध्वनिमत के द्वारा रस सिद्धान्त की जो पुनः प्रतिष्ठा हुई और उसे जो पूर्णता तथा व्याप्ति मिली, उसके कारण भारतीय मानस को उसने सर्वाधिक आकृष्ट किया।"

प्रगतिवादी समीक्षा में व्यंग्य व्यक्ति, धर्म, समाज और व्यवस्था के प्रति है। प्रगतिवादी समीक्षक यह मानने लगा है कि—"ध्वनि के सौन्दर्य को यदि विषयगत सौन्दर्य से अलग मानकर शैलीगत सौन्दर्य से उसका सम्बन्ध स्थापित किया जाये तो रसबिम्ब और उदात्त सिद्धान्तों से इसका पार्थक्य हो जायेगा।" ध्वनि, लय, अनुगूंज सारे मूल्य आज की समीक्षा के अनिवार्य तत्त्व हैं, भले ही 'वस्तु' और 'कवि प्रतिक्रिया'

कवि की भाव-विचार-संवेदना में अलग-अलग आती हो, किन्तु अभिव्यंजना में वे घुल-मिल जाती हैं। आज की कविता अभिधा में तो व्यक्त होती ही नहीं, इसलिए व्यंजना कविता का एक महत्त्वपूर्ण उपादान है और रहेगा।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

वक्रोक्ति सिद्धान्त का उदय आकस्मिक नहीं है, वह एक लम्बी परम्परा की चरम परिणति है। इस सम्प्रदाय के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर सर्वप्रथम नाम बाणभट्ट का आता है। 'कादम्बरी' में प्रयुक्त इस शब्द का 'भंगी विच्छित्ति' अर्थ ही प्रासंगिक है। भामह वक्रोक्ति को व्याख्यायित करनेवाले पहले आचार्य हुए। उनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा तो है अलंकार लेकिन उन अलंकारों के मूल में है वक्रोक्ति।

"वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।"

अर्थात् वक्रोक्ति के अभाव में अलंकारों के सौन्दर्याध्यायक तत्त्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आचार्य दण्डी ने सम्पूर्ण वाङ्मय को 'स्वभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति' दो भागों में विभक्त किया है। स्वभावोक्ति को आदि अलंकार मानते हुए भी वह वक्रोक्ति की महत्ता कम नहीं करते क्योंकि वक्रोक्ति के आश्रय से ही समस्त अलंकारों का चमत्कारपूर्ण सम्पोषण होता है—

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।
श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्॥

वामन ने वक्रोक्ति को अलंकार विशेष तक सीमित कर दिया—"साहश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः" सूत्र की वृत्ति में वामन ने स्पष्ट किया कि साहश्यमूलक अलंकार उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि ही वक्रोक्ति कहे जायेंगे। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वामन ने इसे एक प्रकार की रूपात्मक शैली माना जो लक्षणा पर आधारित है। रुद्रट ने वक्रोक्ति को और सीमित किया, वह उसे मात्र शब्दालंकार मानने के पक्ष में हैं। एक अलंकार मानकर रुद्रट ने वक्रोक्ति के दो भेद कर दिये—काकुवक्रोक्ति और श्लेषवक्रोक्ति। आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति को वाच्य और ध्वनि को व्यंग्य माना है। मम्मट, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को अलंकार ही माना है।

वक्रोक्ति को काव्य का जीवित माननेवाले आचार्य कुन्तक हैं—"वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य भंगी भणिति" के रूप में उन्होंने वक्रोक्ति को परिभाषित किया है। कविकौशल और काव्यसौन्दर्य इसके पर्याय हैं। शब्द अर्थ में जो अलंकृति अथवा चमत्कृति है वह सब वक्रोक्ति की परिसीमा में समाहित है। प्रसिद्ध कथन से भिन्न अभिधा, वक्रता-विशिष्ट कवि व्यापार, विचित्र अभिधा आदि वक्रोक्ति के ही नामान्तर हैं। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेदों वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्द्धवक्रता, पदपरार्द्धवक्रता,

प्रकारवाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता में संसार की लघुतम इकाई वर्ण से लेकर महत्तम रूप महाकाव्य तक को परिकल्पित किया है। शब्द और अर्थ इन दोनों का संश्लेष ही काव्य कहलाता है पर कवि व्यापार की वक्रता यहाँ अपेक्षित है—

"शब्दार्थौ सहिता वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥"

वक्रोक्ति सिद्धान्त इस बात का प्रमाण है कि अलंकार बाहर से आरोपित नहीं होते अपितु स्वतः अलंकृत शब्दार्थ ही है जो कविकर्म का परिणाम है। यहाँ कुन्तक उस कविकर्म से जुड़ जाते हैं जिसका एक विशिष्ट अंग काव्य भाषा है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'विचित्र अभिधा' कहकर काव्य भाषा के विश्लेषणात्मक पक्ष को उभारा है। रससिद्ध कवियों में एक ऐसी अद्भुत शक्ति निहित है जिसके द्वारा वह शब्दों के सहारे ही विषयों की महत्ता का अनुभव करता है और उसे रचनाशैली तथा भावव्यंजना द्वारा सहृदय संवेद्य बना देता है। आधुनिक शब्दावली के निकट जाकर यदि कुन्तक के विचारों का विश्लेषण करें तो कह सकते हैं कि वक्रोक्ति वह है जहाँ अनुभूति और अभिव्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य रहता है। कुन्तक ने काव्य के दो आधारभूत तत्त्वों—बिम्ब और अभिव्यंजक भाषा को आग्रहपूर्वक स्वीकृति दी है।

डॉ० प्रतापनारायण टंडन ने कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त को अपना पूर्ण समर्थन दिया है—"वक्रोक्ति सिद्धान्त काव्य में समावेशित चमत्कारिक तत्त्वों को निरूपित करने-वाला सिद्धान्त है। × × वह एक अति व्यापक सिद्धान्त है, जिसका क्षेत्र-विस्तार काव्य के सन्तुलन अंग से लेकर महानतम स्वरूप तक है। कुन्तक द्वारा प्रतिपादित यह काव्य-सिद्धान्त सम्पूर्ण काव्यसौन्दर्य का निरूपण है।"

केशव की काव्य परिभाषा में आये 'सुजाति' और 'सुलच्छनी' पद स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के ही वाचक हैं। चिन्तामणि, कुलपति आदि ने इसे अलंकार विशेष माना है। भिखारीदास ने श्लेष और काकु से संश्लिष्ट वक्रोक्ति तो मानी ही है, इसके अतिरिक्त तीन भेद और भी माने हैं—

"व्यर्थ काकु ने अर्थ को फेरि लगावें तर्क ।
वक्र उक्ति तासों कहें जे बुधि अम्बुज अर्क ॥"

मिश्र बन्धुओं ने वक्रोक्ति की गणना अर्थालंकार के अन्तर्गत की है। महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने वक्रोक्ति का स्वरूप निरूपण तो नहीं किया किन्तु काव्य में वक्रोक्ति की महत्ता पर विचार अवश्य किया है। उनका कथन है कि—"वक्रता काव्य का प्राण नहीं है पर वह उसका बाह्य व्यक्तित्व अवश्य है।" पद्मसिंह शर्मा ने वक्रोक्ति तत्त्व की काव्यगत अनिवार्यता का समर्थन किया है। पण्डित जगन्नाथदास रत्नाकर ने भी वक्रता

का काव्यगत महत्त्व बताया है। उनकी काव्यात्मा सम्बन्धी मान्यता का विवेचन 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' में डॉ० नगेन्द्र ने किया—"काव्य के चमत्कार को वस्तु से पृथक् कवि के वर्णन चातुर्य में मानकर वे भाव की अपेक्षा कला अथवा रस की अपेक्षा कविव्यापार वक्रता को ही प्रमुखता दे रहे हैं।" पण्डित रामनरेश त्रिपाठी भी रत्नाकर-मत को समर्थन देते हुए कहते हैं कि "कवि की कोई बात चमत्कार से खाली नहीं होनी चाहिए। चमत्कार या विलक्षणताहीन कविता से सुननेवाले को कुछ आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। कवि में चमत्कारोत्पादन शक्ति का अभाव कदापि नहीं होना चाहिए।" इन्होंने शब्द चमत्कार की अपेक्षा अर्थ चमत्कार पर अधिक बल दिया है।

आचार्य शुक्ल रसवादी हैं इसलिए उन्हें कुन्तक का वक्रोक्तिवाद रुचिकर नहीं लगा। उनकी दृष्टि में भावानुमोदित वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवित मानना उपयुक्त है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में—"उक्ति ही काव्य होती है, यह तो सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करनेवाला वाक्य? वक्रोक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यंजना चाहे जिसकी हो या किसी ठीक-ठीक बात की न हो। पर जैसा हम कह चुके हैं, मनोरंजन मात्र को काव्य का उद्देश्य न माननेवाले उनकी इस बात का समर्थन करने में असमर्थ होंगे। वे किसी लक्षण में उसका प्रयोजन अवश्य ढूँढ़ेंगे।" आचार्य शुक्ल ने पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्ति सिद्धान्त का ही विलायती उत्थान कहा है। उनकी दृष्टि में—"वचन की जो वक्रता भावप्रेरित होती है वही काव्य होती है।"

डॉ० नगेन्द्र के विचार में वक्रता सदैव भावप्रेरित होती है। भावसौन्दर्यहीन शब्दक्रीड़ा या अर्थक्रीड़ा में चमत्कार मात्र होता है, इसमें वास्तविक काव्यत्व नहीं होता। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"वक्रता काव्य का अनिवार्य माध्यम है यह सत्य है, परन्तु वह उसका जीवित या प्राण तत्त्व है यह सत्य नहीं है। अनिवार्य माध्यम का भी अपना महत्त्व है क्योंकि व्यक्तित्व के अभाव में आत्मा की अभिव्यक्ति संभव नहीं है, फिर भी व्यक्तित्व आत्मा अथवा जीवित तो नहीं है।"

छायावादी समीक्षा में वक्रत्व की प्रतिष्ठा बढ़ गयी। जयशंकर प्रसाद ने ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता और उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति को छायावाद की विशेषता बताते हुए कहा है कि—"शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता, विच्छिन्त छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है।" पन्त के पल्लव की भूमिका तो वक्रत्व का घोषणापत्र ही है। प्रगतिवाद चूँकि शिल्पहीनता का वाद है इसलिए वक्रता का वहाँ कोई विशेष महत्त्व

नहीं है। प्रयोगवादियों ने चमत्कार को काव्य का अन्तरंग गुण स्वीकार किया है। काव्यरचना की चामत्कारिक तीव्रता में ही काव्यरस की स्थिति मानी गयी है। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में कहा है कि "कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है—वह शब्दों को निरन्तर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार क्रमशः सार्वजनिक मानस में पैठकर फिर ऐसे हो जाते हैं कि इस रूप में कवि के काम के नहीं रहते। × × अभिधेयार्थयुक्त शब्द तो वह मिट्टी, वह कच्चा माल है जिससे वह रचना करता है, ऐसी रचना जिसके द्वारा वह अपना नया अर्थ उसमें भर सके, उसमें जीवन डाल सके।"

प्रयोगवादी कवियों ने चमत्कार (वक्रोक्ति), व्यंजना (ध्वनि), बुद्धि तत्त्व, रीति एवं विचार प्रभाव के अर्थ में रस को आत्मपरक माना है। कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति, ध्वनि और रीति का सम्मिलित रूप काव्य का जीवन है और रस बौद्धिक चमत्कार के रूप में ग्रहण किया गया है। काव्यभाषा सामान्य भाषा नहीं है इसलिए वक्रत्व गुण उसकी शर्त बन जाता है।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने औचित्य को भी पृथक् सम्प्रदाय के रूप में माना है। औचित्य की सत्ता जीवन में उतनी ही सनातन है जितना स्वयं जीवन। सृष्टि के मूल में ही 'साम्यावस्था प्रकृतिः' का सिद्धान्त है। वैदिक ऋचाओं की दृष्टि में भी सम्पूर्ण सृष्टि का पर्याय औचित्य सिद्ध होता है। यूँ तो प्रायः सभी आचार्यों ने औचित्य का समर्थन किया है किन्तु काव्य में आत्मतत्त्व के रूप में उसे एक सम्प्रदाय माननेवाले कश्मीरी विद्वान् आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। आपने स्पष्टतः कहा है कि "औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।" सम्पूर्ण काव्यांगों में औचित्य की सार्थकता है इससे इनकार नहीं किया जा सकता। नये साहित्य तक यात्रा करते हुए औचित्य का प्रश्न साहित्य की प्रवृत्तियों उसके जीवन-दर्शन से जुड़ जाता है। परम्परा के प्रति विद्रोह, नवीनता का आग्रह, बदलते जीवन-मूल्यों के साथ भाषा का निरन्तर गद्योन्मुख होना या उसका अनगढ़पन अभिव्यक्ति या औचित्य ही तो है।

इस प्रकार काव्यशास्त्र विविध काव्यमूल्यों पर सवालिया निशान हो नहीं लगाता अपितु एक-एक कर उठनेवाले काव्यसम्बन्धी सभी प्रश्नों का समाधान भी एक सुविचारित दृष्टिकोण से करता है। काव्यशास्त्रीय ज्ञान के अभाव में कोई कवि सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। यह सच है कि आज कोई तत्त्व आत्मस्थानीय नहीं माना जाता, लेकिन यह भी सच है कि ये काव्यमूल्य इतनी गहरी जड़ें जमा चुके हैं कि कोई विचारधारा इनका पूर्णतः निषेध कर ही नहीं सकती है। जहाँ पहले ये काव्य-मूल्य स्थूल तथा सीमित दायरे में आबद्ध थे, वहीं अब ये सूक्ष्म तथा विस्तृत अर्थ रखते

हैं। डॉ० वेंकट शर्मा के शब्दों में—"भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। गंगोत्री के समान उसका उद्‌गमस्थल अत्यन्त सूक्ष्म और प्रारम्भिक प्रवाह मंथर है, किन्तु कालक्रम में वह विस्तृत और प्रवेगगुण बनकर गंगासागर के रूप में परिणत हो गया है।"

काव्यसृजन और काव्यमूल्य को पहचानने की प्रक्रिया में ही भारतीय आचार्यों द्वारा निरूपित काव्यमूल्य अनायास प्रतिस्थापित होते चले गये। भारतीय दर्शन के वाद-विवाद में उलझते ये मूल्य इतने ठोस आधार पर समीक्षा की पृष्ठभूमि तैयार करते गये कि आज का समीक्षक भी इनसे इतर कुछ कहने की कल्पना भी नहीं करता बल्कि इन्हें और सूक्ष्मता देता है और यदि कोई समीक्षादृष्टि इन काव्यशास्त्रीय मूल्यों का निषेध करती भी है तो अपने उद्‌भव-काल में ही प्रश्नचिह्नों के दायरे में इस तरह कैद कर दी जाती है कि अपने अस्तित्व से भी हाथ धो बैठती है।



साहित्यशास्त्रीय तथा समीक्षा ग्रन्थ

डॉ० भगीरथ मिश्र

पाश्चात्य काव्यशास्त्र : इतिहास, सिद्धान्त और वाद

काव्यरस : चिन्तन और आस्वाद

काव्यशास्त्र

डॉ० रामचन्द्र तिवारी

आलोचक का दायित्व

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आलोचना कोश

हिन्दी का गद्य साहित्य

डॉ० बच्चन सिंह

साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद

क्रान्तिकारी कवि निराला

डॉ० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव

मिथकीय कल्पना और आधुनिक काव्य

मिथक और काव्य

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी